रामायण
के
पात्र
नानाभाई भट्ट

रामायण
के
पात्र

नानाभाई भट्ट विरचित

रामायण के पात्र

खण्ड १

राम, सीता और लक्ष्मण के चरित्र का प्रेरणादायक अनुशीलन। स्वामी आनंदकी सारगर्भित भूमिका सहित

अनुवादक
काशिनाथ त्रिवेदी

१९७७
सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशकीय

रामायण के संबंध में 'मंडल' से बहुत-सा साहित्य प्रकाशित हुआ है। राजाजी रचित 'दशरथ-नंदन श्रीराम', विश्वम्भर सहाय प्रेमी द्वारा लिखित 'तुलसी राम कथा माला', डा० शान्तिलाल नानूराम व्यास की 'रामायण-कालीन संस्कृति' और 'रामायण कालीन समाज' तथा सुदक्षिणा द्वारा प्रणीत 'बाल-राम कथा' इतनी लोकप्रिय हुई है कि उनकी मांग बराबर बनी रहती है। 'दशरथ-नंदन श्रीराम' के तो अबतक छः संस्करण हो चुके हैं।

हमें हर्ष है कि गुजरात के महान शिक्षा-शास्त्री तथा लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक नानाभाई भट्ट की लिखी यह पुस्तक दो खण्डों में पाठकों को उपलब्ध हो रही है। नानाभाई भट्ट से हिंदी के पाठक भलीभांति परिचित हैं। उनकी 'महाभारत-पात्र-माला' 'मंडल' से प्रकाशित हुई है और वे पुस्तकें पाठकों ने बेहद पसंद की हैं। इस नवीन कृति में विद्वान लेखक ने राम, सीता, लक्ष्मण, भरत, कैकेयी, हनुमान, विभीषण, मंदोदरी तथा रावण का चरित्र-चित्रण किया है। इस चरित्र-चित्रण में न केवल पात्रों के जीवन के प्रमुख घटनाओं का उल्लेख किया गया है, अपितु आधुनिक संदर्भ में उनकी प्रेरणाओं पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रायः सभी पात्र मानव के रूप में पाठकों के सामने आते हैं और उनका सुख-दुःख पाठकों का अपना सुख-दुःख बन जाता है। इस तथा अन्य अनेक दृष्टियों से यह पुस्तक बेजोड़ है।

सारे पात्रों के चित्रण इतने सजीव हैं कि उनके पढ़ते-पढ़ते पात्र स्वयं आंखों के आगे आ खड़े होते हैं। पाठक उनमें डूब जाता है। कहीं भी उसे ऊब अनुभव नहीं होती।

पुस्तक का अनुवाद हिंदी के सुविख्यात लेखक श्री काशिनाथ त्रिवेदी ने किया है, जिनका गुजराती और हिंदी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है। हिंदी अनुवाद के पढ़ने में मूल का-सा आनंद आता है।

बड़े सौभाग्य की बात है कि पुस्तक की भूमिका उच्च कोटि के एक मनीषी द्वारा लिखी गई है। विधि ने पिछले दिनों स्वामी आनंद को हमसे छीन लिया, पर उन्होंने भूमिका के रूप में जो कुछ लिखा है, वह उनके शुद्ध अंतःकरण, सूक्ष्म दृष्टि तथा युग-चेतना की झांकी प्रस्तुत करता है। पूरी पुस्तक का हृदयग्राही सार उन्होंने थोड़े-से पृष्ठों में दे दिया है।

हमारी इच्छा थी कि महाभारत की पात्र-माला की भांति इन पात्रों को भी अलग-अलग पुस्तकों के रूप में निकालते, लेकिन कुछ पात्रों के चित्रण बहुत लंबे थे और कुछ के बहुत छोटे। अतः हमने सोचा कि उन्हें एक ही जिल्द में प्रकाशित कर देना ठीक रहेगा; किंतु वह भी संभव न हो सका, क्योंकि उससे पुस्तक का आकार बहुत बढ़ जाता। अतः सारी सामग्री को दो खण्डों में विभाजित कर देना पड़ा। पहले खण्ड में राम, सीता और लक्ष्मण को लिया है, दूसरे में अन्य पात्रों को। यद्यपि प्रत्येक पात्र का चित्रण स्वतंत्र है, तथापि उनमें एकसूत्रता है। पाठकों से अनुरोध है कि वे दोनों खण्डों को मिलाकर पढ़ें।

निस्संदेह पुस्तक अत्यंत बोधप्रद है। हमारे समाज में भले और बुरे, दोनों प्रकार के व्यक्ति दिखाई देते हैं। हम जानते हैं कि मनुष्य का जन्म पाकर हमें अच्छाई के रास्ते पर चलना चाहिए; लेकिन हममें से अधिकांश में इतना साहस और दृढ़ता नहीं कि हम उस रास्ते पर निष्ठापूर्वक चल सकें। यह पुस्तक वह साहस और दृढ़ता प्रदान करती है।

हमें पूर्ण विश्वास है कि सभी वर्गों और क्षेत्रों के पाठक इस पुस्तक को चाव से पढ़ेंगे और इससे पूरा-पूरा लाभ लेंगे।

—मंत्री

दो शब्द

व्यास और वाल्मीकि हमारे आदि-कवि हैं। आर्य संस्कृति के प्रभात में उन्होंने जो दर्शन किया, वह आज भी हमारे लाखों नर-नारियों को हिला सकता है।

जिन दिनों वेदों की पांडित्यपूर्ण भाषा साधारण जनता के लिए सुलभ न थी, उन दिनों इन कवियों ने ज्ञान-भंडार को लोक-भाषा दी; जब वेद-काल के देव लोक-हृदय को स्पर्श करने में विफल होने लगे, तो इन दृष्टाओं ने समाज के मानव-देवों को अपना लिया और लोक-हृदय में उनको विधिवत् प्रतिष्ठित किया। आर्यों की जो विचार-सम्पत्ति कुछ शिष्ट लोगों के एकाधिकार-सी बन गई थी, व्यास और वाल्मीकि ने उस विचार-सम्पत्ति को लोकभोग्य बना दिया। आर्यों के अतिरिक्त जो अनेक अनार्य जातियां इस देश में रहती थीं, वे सब आर्यावर्त को अपना ही देश मानें, आर्य संस्कृति को अपनी ही संस्कृति समझें, आर्य-अनार्य के समस्त भेद विस्मृत हो जायं, और दोनों की यह धारणा बन जाय कि वे सब एक ही संस्कृति के उत्तराधिकारी छोटे और बड़े भाई-मात्र हैं—यदि लोक-शिक्षा के इस महान् काम को किसी ने अधिक-से-अधिक सफलता के साथ किया हो, तो हमारे इन दो आदि-कवियों ने किया है।

किंतु व्यास और वाल्मीकि केवल आदि-कवि ही नहीं, हमारे सनातन कवि भी हैं। इन दोनों कवियों ने आर्य-मन की गहराई में पैठकर उस मन के ज्ञात-अज्ञात भावों की कुछ ऐसी गहरी थाह ली है कि आज पांच हजार वर्षों के बाद भी हम अनेक अवसरों पर जीवन-प्रेरणा प्राप्त करने के लिए इनकी ओर मुड़ते हैं। हमारे स्त्री-समाज के पास से सीता और सावित्री के आदर्शों को हटा लेने का प्रयास आज भी सफल होता नहीं दिखाई देता।

भगवान् श्रीकृष्ण और भगवान् रामचंद्र आज भी हमारे राष्ट्र के अधिकांश लोगों के हृदयों में ईश्वर के अवतार की तरह विराजे हुए हैं। नवयुग के हमारे अखाड़े आज भी हनुमान के वज्रकछोटे को ताजा करने के मनोरथ पोषित करते हैं। वर्तमान सभ्य संसार के सामने भगवद्गीता को अपना 'जीवन ग्रंथ' कहने में हम आज भी गौरव का अनुभव करते हैं। आज के युगपुरुष गांधीजी नये युग की स्वराज्य भावना को 'रामराज्य' शब्द द्वारा व्यक्त करके मानो हमारे आदि-कवि की कल्पना को ही जनता के सामने रखते हैं।

कवि मात्र का, और विशेषकर ऐसे सनातन कवियों का, एक विशेष लक्षण यह होता है कि वे अपना हृदय जल्दी ही प्रकट नहीं करते। ऊपरी दिल से मांगनेवालों को तो मानो ये महाकवि चलताऊ जवाब ही देते हैं, किंतु जो मनुष्य अधिक आग्रही बनकर इनके पीछे पड़ जाता है, और किसी तरह इनका पीछा नहीं छोड़ता, उस मनुष्य पर प्रसन्न होकर ये उसे अपना हार्द दिखाते हैं, और उसके सिर पर अपना हाथ रखते हैं। इसी कारण ऐसे महाकवियों का अध्ययन एक प्रकार की उपासना है।

लेकिन आज के इस संघर्षमय युग में, आज की इस धांधली में, ऐसी उपासना का समय किसके पास है? चलने की जगह दौड़नेवाला और दौड़ने की जगह उड़नेवाला आज का मानव ऐसी उपासना की वृत्ति ही धारण नहीं कर सकता। वह तो पका-पकाया माल चाहता है। हमारे पढ़े-लिखे भाई-बहनों में से भी कितनों ने मूल रामायण और मूल महाभारत पढ़ा होगा, यह कहना कठिन है। ये मूल ग्रंथ कितने ही मनोहर क्यों न हों, तथापि आज इन्हें एक बार भी आदि से अन्त तक पढ़ जाने का काम अच्छे-से-अच्छों को भी कसौटी पर चढ़ानेवाला है।

जबतक भविष्य के व्यास-वाल्मीकि भावी युग के अधिक व्यापक समूह को किसी नये दर्शन से संस्कारवान् न बनावें, तबतक व्यास-वाल्मीकि के चरणों में बैठने की आवश्यकता कम नहीं होती, तबतक उनके दर्शन की सनातनता अविच्छिन्न है।

इन और ऐसे ही अन्य विचारों से प्रेरणा पाकर मैंने 'महाभारत के पात्र' लिखे और फिर 'रामायण के पात्र'। मेरे इस प्रयास के पीछे उपासना

का दावा नहीं। मौलिकता का दावा तो है ही नहीं। बहुत गहराई का दावा भी नहीं। किंतु यहां एक बात मुझे बता देनी चाहिए। महापुरुषों की भांति महाकवि भी प्रायः बालकों जैसे होते हैं। अक्सर पांडित्य का दिखावा करने वाले को वे उसकी पंडिताई में ही भटकने देते हैं, और कोई पता तक लगने नहीं देते, जबकि भोले भाव से, नम्रतापूर्वक अपने निकट आनेवाले को वे निहाल कर देते हैं। मैं यह नहीं कह सकता कि मैं इस तरह निहाल हुआ हूं या नहीं, किंतु मुझमें जितनी नम्रता है, उतनी नम्रता के साथ मैं इन दोनों ऋषियों के समीप खड़ा रहा हूं, और इनसे जो कुछ पा सका हूं, उसे युवक-वर्ग के सामने प्रस्तुत किया है।

मेरे इस प्रयत्न में किसीको 'पुरानी बोतल में नई शराब' दिखाई देगी। मेरे इस प्रयास की तह में किसीको नये हिंदुस्तान को पुराने आदर्शों की ओर ले जाने का द्रोह दिखाई देगा। कुछ सज्जन मेरे इस प्रयास को पुरानी पवित्रता के लिए आघात रूप भी मानेंगे। इन सबको उत्तर देने का यह स्थान नहीं। यहां तो मैं यही कहूंगा कि मैं भगवान् व्यास और भगवान् वाल्मीकि के पास गया हूं, और उन्होंने मुझे जो दिया और मैं जो ले सका, उसे लेकर मैंने आपके सामने रखा है।

अंत में एक बात और कह दूं। रामायण और महाभारत के पात्रों के प्रति हमारे लोक-हृदय में असीम आदर है। इन पात्रों के प्रति अर्थात् इनके जैसे जीवन के प्रति ऐसे आदर को मैं अपनी संस्कृति का एक अनमोल उत्तराधिकार मानता हूं। मैं जानता हूं कि इस आदर के पीछे-पीछे लोगों के दिलों में वहम और मिथ्या धारणाओं ने भी प्रायः प्रवेश किया है; किंतु ऐसी भ्रांत धारणाओं को दूर करके भी इस शुद्ध आदर को सुरक्षित रखना आवश्यक है—इसे मैंने व्यास-वाल्मीकि के प्रति अपना धर्म माना है। संस्कृति के भव्य भवनों का निर्माण करने में दिन नहीं, वर्ष नहीं, बल्कि युग के युग लग जाते हैं। ऐसे भवनों पर केवल अपने स्वच्छन्द से प्रहार करना मेरी दृष्टि में निरा मानव-द्रोह है। यदि अपने इस प्रयत्न में कहीं भूले-चूके भी मैंने हमारे इस जीते-जागते आदर्श को शिथिल किया हो, तो उसके लिए मैं अंतःकरणपूर्वक अपना खेद व्यक्त करता हूं।

जिस तरह महाभारत में कर्ण सबसे चमत्कारी पात्र है, उसी तरह

रामायण में सीता सबसे अधिक करुण पात्र है। हमारे युवकों में यह एक भ्रांति घर किये हुए है कि सीता का पात्र व्यक्तित्वहीन और निस्तेज है। यदि बाहर की सरगरमी और धूमधाम ही व्यक्तित्व की निशानी हो, तो अवश्य सीता व्यक्तित्वहीन और निस्तेज लगेगी, किंतु मैं यह मानता हूं कि यदि मारने में जो शौर्य है, उससे अधिक उच्चकोटि का शौर्य स्वेच्छा से मरने में हो, दूसरों से बिलकुल अलग रहकर अपने मस्तक को तना रखने में जो व्यक्तित्व है, उससे अधिक ऊंचे दर्जे का व्यक्तित्व स्वेच्छापूर्वक दूसरे में समा जाने में हो, तो सीता के जीवन में अधिक ऊंचा व्यक्तित्व और अधिक तेजस्विता है।

—नानाभाई

व्यास-वाल्मीकि के उत्तराधिकारी

महाभारत और रामायण के अपने जीवन-भर के अध्ययन-चिंतन का मंथन करके उसके नवनीत के रूप में छोटे-बड़े ग्रंथों की रचना करने का पुण्य संकल्प जिस दिन नानाभाई के मन में जागा, उसी दिन उन्होंने समूची नई पीढ़ी को कच्चे तार से बांधकर अपना ऋणी बना लिया। कहा जाता है कि वेदव्यास ने वेद-वेदांग और इतिहास-पुराणों के उदधि उलीच डाले, पर उन्हें अंतर की शांति नहीं मिली। अंत में भागवत की रचना करके प्रभु के गुण गाये, तभी उनको शांति प्राप्त हुई। इसी तरह जब नानाभाई को जीवन भर राष्ट्रीय शिक्षण-शास्त्र के अंगों और उपांगों का अनुशीलन करने के बाद भी आवश्यक शांति प्राप्त नहीं हुई, संभवतः तभी उन्हें यह कल्पना सूझी हो कि वे इस अत्यंत मूल्यवान धरोहर को गुजरात के विद्यार्थियों और आबालवृद्ध स्त्री-पुरुष-समाज को समर्पित करें, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि अपने इस अनुष्ठान द्वारा उन्होंने हमारी जनता पर अनंत उपकार किये हैं। इसमें से उन्हें जो आंतरिक शांति मिली है, उसे तो उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया है।

नानाभाई ने जीवन-भर महाभारत और रामायण का परिशीलन किया है। उनके समस्त चिंतन और विचार-मंथन के उद्‌गम का पता हमें उनके इस परिशीलन से चलता है। स्वर्गीय लोकमान्य तिलक की भांति उनका समूचा जीवन-दर्शन भी उनके इस परिशीलन में से प्रकट हुआ और आम के वृक्ष के समान बड़ी सावधानी से उसका लालन-पालन हुआ। वही मीठे और परिपक्व फलों के रूप में नई पीढ़ी को परोसा गया है। इसे मैं जनता के भाग्योदय का लक्षण मानता हूं।

फ्रांसीसी ग्रंथकार रेनां और अंग्रेज ग्रंथकार सीली आदि अनेक ईसाई-भक्तों ने यीशु-चरित लिखे हैं और उनमें उन्होंने अपने चरितनायक के

देवत्व के नहीं, बल्कि उसकी मानवता के ही गुण गाये हैं। अपने देश में आधुनिक राष्ट्रीयता के अध्वर्यु बंकिमचंद्र और रामायण महाभारत के प्रकांड पंडित स्वर्गीय गुरुवर्य चिंतामण विनायक वैद्य ने भी कृष्ण-चरित्र लिखकर जनता के सामने श्रीकृष्ण की मानवता को और उनके मानवी आदर्शों को ही प्रस्तुत किया है। गुरुवर्य वैद्य ने तो महाभारत, भागवत, हरिवंश आदि का आलोड़न करके श्रीकृष्ण का आदि-अंत-युक्त सांगोपांग चरित ही प्रस्तुत कर दिया है। इन ग्रंथों के आधार पर उन्होंने श्रीकृष्ण का वर्ष-मास-दिवसयुक्त आयुष्य, जीवन-कार्य और उनकी दिनचर्या की छोटी-छोटी बातों का विवरण देकर जनता को उपकृत किया है। श्रीकृष्ण किस प्रकार रहते थे, कैसे वस्त्र पहनते थे, चबूतरे पर बैठकर प्रतिदिन प्रातः कितने बजे तक दान देते थे, किस समय, कितने बजे, राजसभा में जाते थे, बाहर जाते समय तेल से भरे पतीले में किस प्रकार अपना मुंह देखते थे (उस जमाने में दर्पण नहीं थे) आदि विवरण देकर उन्होंने जनता को विस्मित कर दिया और श्रीकृष्ण को केवल बंसीधर के या गीता-गायक पार्थसारथि के रूप में ही नहीं, बल्कि राज-धुरंधर लोक-पुरुष के रूप में जनता के सामने रखा। बंकिमचंद्र ने भी यूरोपीय ग्रंथकारों और एतद्देशीय प्राचीन साहित्य के विरोधी अन्वेषकों को ध्यान में रखकर श्रीकृष्ण के मानव-चरित्र की छानबीन की और मानव-श्रेष्ठ के रूप में ही उनकी सर्वोच्च योग्यता सिद्ध कर दिखाई।

कदाचित् कुछ इसी प्रकार की भावना से प्रेरित होकर मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचंद्र की मानवता और श्रेष्ठता का गान करके कृतकृत्य हो लेने की दृष्टि से नानाभाई ने रामायण के अपने पात्रों में श्री रामचंद्र के चरित्र पर प्रकाश डाला है, और जिस कसौटी के कारण रामचंद्रजी को अवतार पद प्राप्त हो जाने पर भी मर्यादा-पुरुषोत्तम कहा गया, वैसी ही किसी कसौटी के कारण नानाभाई के हाथों में भी श्री रामचंद्र के महिमा-मय चरित्र आलेखन में एक अंतर्गत मर्यादा का स्वर गूंजता सुनाई पड़ता है। पहले सीताजी के लंका निवास के दिनों में और फिर उत्तरकाल के चिरवियोग के दिनों में ही नहीं, बल्कि चरित्र के आरंभ से लेकर अंत तक, नानाभाई ने रामचंद्र को न केवल वेशभूषा में, अपितु काया, वाचा, मनसा

तापस रूप में, व्रतस्थ या दीक्षित की भांति, केवल अंगीकृत अवतार-कार्य की सिद्धि के लिए, क्या वन में और क्या अयोध्यापुरी में, जीवन जीते और विचरते दिखाया है। ऐसा भास होता है, मानो उनके मर्यादा पुरुषोत्तम के मुख्य लक्षण-स्वरूप नानाभाई पाठकों के मन पर इसी चीज की छाप छोड़ना चाहते हैं। श्री रामचंद्र के आदर्शों की विशेषता और उनके अवतार-पद की कुंजी भी यही है। राम और कृष्ण के दो चरित्र आर्य-जनता की अनंत संस्कार-गाथाओं के भंडार रूप हैं। आर्य-जाति के चारित्रिक गठन के लिए हिंदू संस्कृति के जनक वेदव्यास ने ये दो ऐसे चिरंतन प्रेरणा-बल उसे भेंट किये हैं, जिनमें हमारी जनता के जीवन के लिए शाश्वत संजीवनी निहित है। समय-समय पर इस संजीवनी का पान करके हमारी मुमूर्षु जनता पुनः-पुनः सजीवन हुई है, और होती रहेगी।

इस देववांछित कार्य की सिद्धि के लिए अनुरूप उपचार और अनुपान की योजना करनेवाले और आर्य-जनता को फिर-फिर संजीवनी का पान करानेवाले व्यास भी, हमारे दुर्दैवपूर्ण लोक-जीवन के चलते, समय-समय पर हमें मिलते ही रहे हैं। बंकिम, वैद्य आदि धुरंधर इसी कुल के उत्तराधिकारी कहे जायंगे। व्यास तो एक उपनाम या उपाधि है, एक परंपरा है, जो प्रत्येक युग में उस-उस युग की आवश्यकता के अनुरूप बल और प्राण का संयोजन लोक संस्कृति के उत्तराधिकार में से करके जनता को नया दर्शन उपलब्ध कराती है, नई प्रेरणा देती है और चिरंतन सत्यों का नवसंस्करण इस प्रकार करती रहती है कि जिससे समाज की नवरचना निरंतर होती रहे।

जब नानाभाई रामायण और महाभारत के पात्रों को आज की जनता के सामने इस तरह प्रस्तुत करते हैं, मानो प्राचीन होते हुए भी वे आज के समाज के हों, आज के समय की समस्याओं के हल खोजने और दिखाने वाले वृद्धजन या गुरुजन हों, तब ऐसा प्रतीत होता है कि पुराने पात्रों में नई चेतना उंडेली जा रही है, हाल की, नई-नई समस्याओं के ताजे हल हाथ में आ रहे हैं और उन्हें आर्य संपत्ति प्राप्त हो रही है इससे लोक-मानस में नया प्राण-संचार होता है और जनता निष्ठापूर्वक, दृढ़ता से खड़ी हो जाती है। नित्य नूतनता की ऐसी क्षमता जिस शब्द-सृष्टि की प्रकृति में

होती है, उसे शास्त्र-वचन की प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है, और इसी कारण वह युग-युगान्तर तक की जनताओं का चिरंतन और कभी न बीतने वाला उत्तराधिकार बन जाता है।

आधुनिक पाश्चात्य राष्ट्रों में इतिहास को जैसा महत्व दिया जाता है, उसे वैसा महत्व हमारे देश में कभी नहीं दिया गया। इतिहास की सामग्री में और कदाचित् उससे भी अधिक ऐतिहासिक घटनाओं को प्रस्तुत करने में तथा उनके कारणों और परिणामों की मीमांसा करने में जो मनमानी की जा सकती है और जिस भयानक हद तक गड़बड़ घोटाले हो सकते हैं, वे सब हमसे छिपे नहीं हैं; क्योंकि आज लिखे जानेवाले या प्रस्तुत होनेवाले इतिहास की विडंबना हमारी आंखों के सामने प्रतिदिन हो रही है, उसके हम स्वयं साक्षी हैं; किंतु इतिहास को केवल महत्वाकांक्षी राजाओं, राजवंशों अथवा पराक्रमी पुरुषों के साहसिक कार्यों की लिखित कथाओं के रूप में न देखनेवाले प्राचीन आर्यों ने अपने समय में रचे जा रहे इतिहास को उस-उस काल के राष्ट्रोद्धारकों की और विभूतियों की अखंड जीवन-साधना में देखा और ऐसे उद्धारकों के साथियों और अनुयायिओं के सेवा-भक्ति-परायणतापूर्ण पुरुषार्थों में उसे पढ़ा; और उन घटनाओं को इतिहास के रूप में, एक महान् संस्कार-गाथा के रूप में एवं आर्य जनता की सच्ची वसीयत के रूप में स्वीकार करके उन उन्नत अंशों को ही इतिहास के नाम से अमर किया, और उनके कलेवर की उपेक्षा की, यद्यपि ऐसा करने पर भी बाद में पुराणकारों के हाथों, किन्हीं शुभ हेतुओं से ही क्यों न हो, उनमें कई अनैसर्गिक और चमत्कारी तत्व घुस गये, जिन्होंने अपने-अपने समय में विविध विकृतियों को जन्म दिया और लोक-जीवन को निश्चित रूप से हानि पहुंचाई।

फिर भी जिनके जीवन और कार्यों को केन्द्र में रखकर प्राचीन आर्यों के इतिहास रचे गये और जिनके जीवन की घटनाओं को कृतज्ञ लोक-मानस ने अद्वितीय श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अपनी स्मृति में चिरकाल के लिए स्थान देकर जिन्हें अपनी स्थायी धरोहर बनाया, उन युग-पुरुषों में राम, कृष्ण और बुद्ध की गिनती होती है। यह अवतार-त्रिपुटी हजारों वर्ष बीत जाने के बाद भी आज के इस जमाने की आधी दुनिया के हृदयों पर अपना

प्रभुत्व बनाये हुए है ।

नानाभाई ने अपने इस पात्र-ग्रंथ में एक ऐसे ही युग-पुरुष के रूप में रामचंद्र का परिचय कराया है और उनके आन्तरिक जीवन के अतिरिक्त समकालीन समस्याओं को और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिए आजीवन प्रयत्न करने वाले युग-पुरुष के रूप में उनके कार्यकलापों का वर्णन करके उन्हें आधुनिक पाठक के लिए अनोखे ढंग से रुचिकर बना दिया है । अवतार-पद प्राप्त करने वाले युग-पुरुषों के जीवन और कार्य का ऐसा आलेखन अथवा उसकी ऐसी आलोचना प्रत्येक काल में लोक जीवनके लिए नीरोग और आरोग्यप्रद होती है, क्योंकि उससे जनता अपनी प्राचीन धरोहर का नए ढंग से उपयोग करना और उसे बढ़ाना सीखती है ।

इस दृष्टिकोण से देखें, तो यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि राम इस देश में आर्य-संस्कृति के विस्तार के आरंभिक युग में हुए सबसे महान् युग-पुरुष थे उन दिनों सिंधु से नर्मदा तक की सीमा में बंधा आर्यावर्त भौगोलिक दृष्टि में एक संपूर्ण इकाई नहीं था । अगस्त्य के समान आर्य-संस्कृति के अग्रणी प्रचारक, संस्कृति के विस्तार का उत्साह लेकर, विंध्याचल के अनंत और अपरंपार जंगलोंको लांघकर नर्मदा के उस पार के प्रदेशों में पहुंचने में सफल हुए थे, किन्तु इन नए प्रदेशों की प्रकृति और इनमें रहने वाले लोगों की वेश-भूषा निराली थी । इन प्रदेशों में रहने वाली शूरवीर, महामानी, अपनी स्वतंत्र संस्कृति में बहुत आगे बढ़ी हुई और पुरुषार्थ, तपस्या इत्यादि में आर्यों को भी पीछे छोड़नेवाली राक्षस आदि विजातीय अनार्य जातियों के साथ सम्पर्क स्थापित करने में उत्तरीय-प्रदेशों की रीति नीति उपयोगी सिद्ध नहीं हो रही है, इसका अनुभव करके वे इस गहरे सोच विचार में डूबे कि यहां आगे कैसे बढ़ा जाय ? ऐसे समय में उन्हें रामचंद्र के समान युग पुरुष का सहारा मिला और विश्वा-मित्र के समान विरले आर्यदृष्टाओं की देख रेख में उस युग में यहां रहने वाली विविध जातियों के समन्वय द्वारा नए सिरे से प्राप्त आसेतु हिमाचल आर्यावर्त का एक अखंड, अभेद्य और अविभाज्य एकीकरण साधने का जो स्वप्न था, वह सिद्ध हो पाया था । आर्यजाति के और आर्य संस्कृति के

आद्यगुरु रूप कुछ ऋषियों के इस महास्वप्न को सत्य सिद्ध करने के लिए अपने बाहुबल से, सौजन्य से और अपूर्व आत्मीयता से आजीवन अपना और अपनों का सर्वस्व होम देनेवाले प्राचीन आर्यों में राम और कृष्ण, गौरी और शंकर के समान अत्तुंग युग पुरुष थे। इसी कारण उन्हें अवतार पद प्राप्त हुआ था। नानाभाई द्वारा रचित इन पात्रों की पुस्तकों से हमें इन बातों का पता चलता है। श्री रामचंद्र ने स्वेच्छापूर्वक राजपाट का त्याग करके जीवन का सबसे अधिक शौर्य सम्पन्न और बहुमूल्य समय समूचे भारतवर्ष का परिभ्रमण करने में और उसके एकीकरण में बिता दिया; उन्होंने व्यक्तिगत विषाद के साथ अनेकानेक कष्ट सहे; अपने प्राणों के समान सीता सी शुद्ध, निर्दोष, सती स्त्री पर लगे अपमानजनक आरोपों को और विभोग जन्य दुःखों को जीवन भर सहन किया; आर्यावर्त का एकीकरण किया और आर्य संस्कृति के संरक्षक एवं प्रचारक ऋषि-मुनियों को निर्भय बनाया। यही नहीं, अगस्त्य विश्वामित्र के समान कुछ अपवादों के अतिरिक्त उस समय के अन्य ऋषि-मुनियों की भी दृष्टि मर्यादा से बाहर रहे जाति-समन्वय के काम को उन्होंने अपने सौजन्य के अद्भुत आकर्षण से और अपने अनेक व्यक्तिगत सद्गुणों के सहारे सम्पन्न किया, यह उनकी विशेषता थी। इस विराट समन्वय में से जिस संस्कार का जन्म हुआ, वह जनता के रोम रोम में व्याप्त हो गया, कहिए कि भर गया, और उसके स्वभाव का अंग बन गया। उसने आर्यावर्त को सदा के लिए संसार की जातियों के समन्वय का पालना बना दिया और आज हजारों वर्षों का समय बीत जाने पर भी इस देश की जनता के रक्त में से उस संस्कार की सुगंध मिट नहीं रही है। इतने बड़े पुरुषार्थ को और इतनी बड़ी सिद्धि को दुनिया के चरित्र-निर्माण में और संस्कृतियों के विकास-विस्तार में ऐतिहासिक योगदान ही कहा जायगा।

जब जनसाधारण के मन को युगोंयुगों से सदा-सर्वदा अपनी मुट्ठी में रखने वाले रामायण और महाभारत के प्राचीन पात्रों को, जो चिरनूतन भी हैं, नानाभाई आधुनिक हवा का पुट देते हैं, तो उनका वह विवेचन पाठकों को सानन्दाश्चर्य में और कृत-कृत्यता की भावना में डुबो देता है। पाठक यह देखकर दंग रह जाता है कि पुरातन में इतना बड़ा नवीन किस प्रकार

छिपा रह सका था ? जब गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने नानक, कबीर या तुलसी, तुकाराम जैसे सन्तों की वाणी को आधुनिक भाव और भाषा में प्रस्तुत किया, अथवा दयानन्द, विवेकानन्द ने जब जर्जर बनी आर्यभावनाओं को नए रूप में प्रस्तुत किया, तो उस समय भी सब ऐसे ही सानन्दाश्चर्य में डूबे थे और जन-जीवन के कलेवर में नए प्राणों की गर्जना उठ खड़ी हुई थी।

उन्हीं वेद व्यास की परंपरा के उत्तराधिकारी नानाभाई ने आर्षदृष्टि और आर्ष शैली अपनाकर जनता को ये पात्र उपहार-स्वरूप भेंट किये हैं। इन पात्रों की चरित्रगाथा के रूप में 'राम' प्रकट हुआ है। आधुनिक आर्य-मानस की अनेकविधि उच्चतम भावनाओं, अभिलाषाओं और तीव्रतम आकांक्षाओं को नानाभाई ने मर्यादामणि श्री रामचंद्र की व्यथाओं और भावनाओं में गूंथ दिया है। प्राचीन पात्रों की हड्डियां ऐसे संस्करणों को आत्मसात् कर सकती हैं और करती हैं, इसी कारण वे अवतार-पद के अधिकारी बने हैं। यह तो पहले कहा ही जा चुका है कि आर्ष धरती के उत्पादनों में यह क्षमता सदा के लिए निहित ही है। ये हड्डियां किसी भी युग की उत्तुंग भावनाओं का भार सह सकती हैं, और इनकी विशिष्टता इसी में है कि ऐसा करनेवाले को और उसे देखनेवाले को यह क्रिया नितान्त उपयुक्त और स्वाभाविक लगने लगती है।

नानाभाई की शैली वर्णन की दृष्टि से आर्ष और विधान-वक्तव्य अथवा तत्वचर्चा की दृष्टि से आधुनिक है। उनके पात्रों ने और उनकी धीर गंभीर, सरस और युगों की वेदना को व्यक्त करनेवाली शैली ने हमारी भाषा में एक नए ही आर्ष वाङ्मय की सृष्टि की है। आज के युग की अनेक विध सामाजिक समस्याओं और आन्तरिक व्यथाओं को उन्होंने आर्ष धरती के इन सपूतों के मनोमंथनों में पढ़ने और गूंथने का सफल प्रयत्न किया है। न्यायोचित व्यवहार की, समत्व-भावना की, सामाजिक स्तर पर जाति-जाति के बीच होने वाले अन्यायों के प्रायश्चित्त और परियार्जन की भावनाओं को उन्होंने अपने पात्रों में प्रकट किया है। इसी प्रकार संस्कार शिरोमणि के रूप में प्रसिद्ध आर्यजाति ने भी, किसी भी कारण से क्यों न हो, स्त्री-जाति के प्रति आदि काल से जिस निश्चित अन्याय का आचरण

किया है, उसे निष्कपट भाव से स्वीकार करके आज के युग में सर्वोच्च रूप से स्वीकृत स्त्री की प्रतिष्ठा और गौरव की भावना को उन्होंने अपने पात्रों के जीवन में प्रतिष्ठित किया है। आर्य-भावनाओं की ऊंची सतह पर चलनेवाले रथ को बुरी तरह उलट-पुलट देनेवाले गड्ढों को आत्मपरिताप से जलती वृत्ति की सहायता से समतल कर देने की उत्सुकता और व्यथा को उन्होंने अपने पात्रों द्वारा व्यक्त किया है। श्री रामचंद्र उनके मर्यादमणि हैं। रामायण के छोटे-बड़े पात्रों के प्रति न्याय करने के बाद अपनी इस अन्तिम रचना में ही ग्रंथकार ने अपनी समस्त व्यथाओं और आकांक्षाओं को उंड़ेलकर राम कथा का उपसंहार किया है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो नानाभाई समूची आर्यजाति की आज तक की समस्त त्रुटियों और पापों का प्रायश्चित्त अपने पात्रों के मेरुमणि श्री रामचंद्र से करवा रहे हैं।

नानाभाई के राम एक महान् मानवमूर्ति हैं, मन से मोम, अन्तर से दुःखी, मानो जन्म लेते ही वज्रपात का आघात सहना पड़ा हो, मानो जीवन के प्रभातकाल में ही विधाता के विधान का पता चल गया हो, अपने अवतार-कार्य का भान हो गया हो, समूचा जीवन मानो एक अखण्ड यज्ञ के रूप में बिता रहे हों—यही उनको स्थिर मुद्रा लगती है। सीता और राम मानो चक्रवाक के जोड़े की तरह जीवन भर जीवन-सरिता के दो किनारों पर आमने-सामने बसकर एक-दूसरे के वियोग में घुलने के लिए ही जन्मे हों। नानाभाई ने उनका यही रूप प्रस्तुत किया है, जो आर्य जनता के हृदय में चिरकाल से प्रतिष्ठित है। नानाभाई द्वारा दी गई पार्श्व भूमि पर यह चित्र जिस प्रकार प्रस्तुत होता है, उसमें राम का सीता के प्रति 'वज्र से भी कठोर' व्यवहार ऐसा लगता है, मानो वह दिन-रात क्षमा का भूखा हो ! यह चित्र पाठकों के मन में केवल सीता के प्रति नहीं, बल्कि प्रभु रामचंद्र के प्रति भी एक ऐसी अपरम्पार कोमलतायुक्त संवेदना और सहानुभूति उत्पन्न करता है, जैसी पिता के विधुर या माता के विधवा होने पर वयस्क और सयानी सन्तान के मन में उत्पन्न होती है। नानाभाई ने राम का चित्रण 'कर्तुम् अकर्तुम' अवतार के रूप में नहीं किया है, उन्होंने उनको एक ऐसे मनुष्य के रूप में चित्रित किया है, जो सामान्य-से-

सामान्य मनुष्य की भी सहानुभूति का भूखा हो; फिर भी उन्होंने यह कार्य इतनी कोमलता के साथ किया है कि प्रभु रामचंद्र को अवतार माननेवाली जनता को कहीं कोई आघात नहीं पहुंचता।

सीता से विवाह और युवराज-पद के अभिषेक-महोत्सव तक के जीवन-प्रभात की चांदनी-सी सुख-सूचक चमक के बाद मर्यादा-पुरुषोत्तम की जीवन-साधना कहिए, या व्यथा कहिए, आरंभ होती है और वह महा-प्रस्थान की घड़ी तक अटूट बनी रहती है। इस साधना के साधक तपस्वी रामचंद्र का चरित्र पाठक को एकाकी, नि:संग, विषाद और आत्मपरिताप की शोकमयी पार्श्व भूमिका पर खड़े छाया चित्र-सा दीखता रहता है, और यद्यपि तापस वेशधारी राम ही पाठक के मन:चक्षुओं के सामने सारे समय खड़े रहते हैं, तथापि इन सबकी आड़ में, परोक्ष रूप से, सीता का क्षीण किन्तु राम से भी अधिक ऊंचा-पूरा विराट् चित्र, अपने अंचल-तले रामचंद्र को छिपाता-सा, इस समूची चित्र-सृष्टि को घेरकर इससे भी ऊपर खड़ा है, यह आभास पाठक के मन पर बराबर बना रहता है।

स्त्री-जाति के प्रति की विकलांग, त्रुटिपूर्ण और रूढ़ आर्यभावना को इन पात्रों के आलेखन द्वारा संवारने और संस्कार-संपन्न बनाने का प्रयत्न करके ही नानाभाई संतुष्ट नहीं हुए। अनार्य और अछूत जातियों के प्रति किये गए अन्यायों के विषय में भी उन्होंने अपने पात्रों को उतनी ही गहरी व्यथा में डूबा और व्याकुल चित्रित किया है और आर्य-अनार्य दोनों वर्गों के पात्रों को एक-दूसरे के प्रति समभाव से और समता के नाते बरतते दिखाया है। इसमें जाति-समन्वय की और एक अनोखी राष्ट्रीय एकता की भावना व्यक्त हुई है, जो आज के हमारे तीव्र और उत्कटतम सामाजिक और आंतरिक संताप की प्रतिध्वनि-रूप है। ग्रंथकार ने अहल्या की कथा में से भी अनैसर्गिक और चमत्कारिक तत्त्वों को हटाकर उसे स्वाभाविक स्वरूप दे दिया है। निषादराज गुह, शबरी, सुग्रीव, अंगद, हनुमान, राक्षस, तपस्वी, ऋषियों के आश्रम, उनके शिष्य-मंडल और अन्य निवासी; इसी तरह उनकी दिनचर्या, ऋषि-मुनियों की विभूतियां, उनके मिशन और उनका संस्कृति-विस्तार-कार्य; इन सबके बीच वनवासी बनकर निकली और विचरण करती राम, लक्ष्मण, जानकी की तापस-त्रिपुटी,

और उसमें भी 'विनय-भार से नम्रनत' उसके मुखिया मर्यादमणि, सौजन्य मूर्ति श्री रामचंद्र, ऋषि-मुनियों, राक्षसों, अनार्यों और राजकाजी पात्रों के साथ उनके वार्तालाप, सन्धियां, मित्रता की प्रतिज्ञा—ये सब चित्र और चित्रण पाठक को ऐसे लगने लगते हैं, मानो वे उसके सुपरिचित हों, आज के हों, भारत-भ्रमण कर रहे गांधीजी के हों। इस प्रकार प्राचीन में अर्वाचीन और आधुनिक में प्राचीन घुल-मिल गये हैं। पाठक को भान नहीं रहता कि कहां प्राचीन समाप्त हुआ और कहां आधुनिक का आरम्भ हुआ। राजा में तपस्वी, गृहस्थ में वैरागी और आश्रमवासी में मिशनरी छिपे-से लगते हैं। ये सब राष्ट्रवाद, जातिवाद एवं नव-संस्कार की एक ही मथानी से मथे गये हैं और शांत हुए हैं।

पठन के अंत में पाठक के अन्तर्चक्षुओं के सामने मनुष्यता की एक ही महान् मूर्ति खड़ी रहती है। यह आदर्श मानव लाड़-प्यार में पला, अति कोमल और अति सकुमार होते हुए भी गहरे विषाद से व्याकुल, करुणा से परिपूर्ण गहरी विषादभरी आंखों वाला और अन्तर से अत्यन्त दुखी व्यक्ति के रूप में हमारे सामने खड़ा रहता है, मानो निष्ठुर, निर्लज्ज दुनिया के रूखे और क्रूर व्यवहार से घायल बना खून से लथपथ यीशु हो ! इसे पहचानने वाली आंखें अभी हमारे पास हैं नहीं, पर इसने तो प्रत्येक युग में इसी रुक्ष धरती पर अवतार लेकर फिर-फिर हमारे पापों का प्रायश्चित्त करते रहने का वचन दे रखा है, जिसे वह पालता रहता है और मर्माहत होने के बाद भी निरवधि करुणा के सहारे पुनः-पुनः नये वेश में, नया जामा पहनकर, नये कच्छ-कौपीन में, कांटों वाले ताज के साथ वह हमारे सामने उपस्थित होता है। अनेक विध प्राण लेवा सांसारिक समस्याओं से निकली यंत्रणा की आग में झुलसती जलती यह छवि, यह चित्र, प्राचीन आर्य आदर्श मर्यादमणि रामचंद्र की आधुनिक आवृत्ति है।

—स्वामी आनन्द

अनुक्रम

सीता २११-२६५

लक्ष्मण २६६-२७३

•

रामायण

के

पात्र

•

राम

: १ :

श्रवण-वध

आज जिस प्रदेश को हम उत्तर प्रदेश के नाम से पहचानते हैं, पुराने समय में वह कोशल कहलाता था। कोशल अत्यंत उपजाऊ प्रदेश था। गंगा, यमुना, सरयू आदि नदियां कोशल की भूमि पर अपना मीठा अमृत बहाती थीं। कोशल के खेत निरंतर धन-धान्य से परिपूर्ण रहते थे। जब कोशल की हरी-भरी भूमि पर मदमाती गाएं चरने निकलतीं, तो उनके गलों में बंधी घुंघरुओं वाली मालाओं की आवाज हवा में गूंजती रहती; कोशल के गांवों में दूध-दही की विपुलता थी; कोशल के रंग-बिरंगे पक्षी बारहों महीने उल्लास-भरे गीत गाते और अपने चारों ओर रूप की, रंग की तथा संगीत की एक अनोखी सृष्टि खड़ी करते रहते।

कोशल की मानव-सृष्टि भी इतनी ही समृद्ध और प्राणवान थी। लोगों के शरीर स्वस्थ, सुदृढ़, हृष्ट-पुष्ट और ऊंचे-पूरे थे। कहा जाता है कि कोशल में क्वचित् ही कभी बाप के जीते-जी बेटे की मृत्यु होती थी; चारों वर्णों के लोग अपने धर्म की और अधिकार की मर्यादा का ठीक-ठीक पालन करते थे और समाज की इन मर्यादाओं का यथोचित पालन करवाना राज्य का मुख्य कर्त्तव्य माना जाता था; इसी कारण चारों आश्रमों की सुव्यवस्था के फलस्वरूप कोशल का सामाजिक जीवन संतुलित बना रहता था; लोग धकापेली करके एक-दूसरे को दूर हटाने के बदले एक ही मानव-परिवार के भाई-बहन की तरह रहते और जीते थे। चारों वर्णों में और चारों आश्रमों में ऊंच-नीच की भावना का लेशमात्र भी दर्शन नहीं होता था। वर्णाश्रम के इस संतुलन का भार मुख्य रूप से ब्राह्मणों पर रहता था और इसी कारण स्वेच्छापूर्वक अकिंचन बने रहने का व्रत ब्राह्मण का एक आवश्यक लक्षण था। कोशल के एक महाराजा ने जब यज्ञ के अंत में सारी पृथ्वी ब्राह्मणों को दान में दे दी, तो ब्राह्मणों ने उसे पुनः राजा को सौंपकर

अपने अकिंचन व्रत को सुशोभित किया। कोशल में चोर या पाखंडी खोजे नहीं मिलता था; किसी भी व्यक्ति का रात को भूखों सोना राजा के लिए कलंक रूप माना जाता था। जो भी मनुष्य यज्ञ किए बिना अन्न खाता, जो भी मनुष्य आवश्यक धर्म का पालन किए बिना भोग भोगता, जो भी मनुष्य उत्पादक श्रम किए बिना श्रम का फल भोगता, जो भी मनुष्य खुद पसीना बहाए बिना दूसरों के पसीने से लाभ उठाता, वह मनुष्य समूचे समाज के लिए भार-रूप माना जाता था। ऐसे मनुष्य को ठिकाने लगाने के लिए राजा अपने हाथ में राजदंड धारण करता था।

अयोध्या कोशल की राजधानी थी और दशरथ कोशल का राजकुमार था। अयोध्या एक अलबेली नगरी थी। उसके बावन बड़े दरवाजे थे; समूची नगरी में राजमार्गों के अतिरिक्त दूसरे मार्ग भी स्फटिक से जड़े थे। नगर के सब भवन आरोग्य और कला की दृष्टि से योजना-पूर्वक बनाए गए थे। कोशल के रमणीक भवन, भवनों के कलायुक्त खिड़की-दरवाजे और झरोखे, बगीचों में पानी उड़ानेवाले फव्वारे, बागों में फलों से लदे और झुके पेड़, जगह-जगह बने आराम-घर, रात को खिड़कियों की जाली में से झांकने वाले मणिदीप, सांझ के समय गुछलियां बनाकर निकलने वाली अगर-तगर की सुवास, घर-आंगनों में कलरव करनेवाले पंक्षी, हिंडोलों पर झूलनेवाली रमणियों के पैंजनों की रुन-झुन आवाज, समूची नगरी पर मंद-मंद बहने-वाला सरयू का सरस समीर—ऐसी नगरी को निरखने के लिए तो अजन्मा ईश्वर को भी जन्म लेने की इच्छा हो जाय !

दशरथ की वह भरी जवानी थी। उसका शरीर ऊंचा-पूरा था। उसका चेहरा भरा हुआ था। उसके बाल घुंघराले थे। उसके हाथ घुटनों तक पहुंचते थे। उनके पैर चपटे थे। उसकी आंखें पैनी थीं। उसकी छाती विशाल थी। अभी उसके मुंह पर मूंछ की रेख भी फूटी नहीं थी। कोशल की समृद्ध गोद में कुमार सयाना हुआ था, इसलिए उसे जीवन की धूप-छांह की कोई कल्पना थी नहीं। कोशल के ऐश्वर्य, अयोध्या की मनोहरता और लोगों की सुख-समृद्धि के बीच अपनी एक मस्ती के साथ जीनेवाला कुमार जीवन-मात्र को एक लीला मानता था और इस लीला का उपभोग ही उसका जीवन-सर्वस्व था।

दशरथ को शिकार का बड़ा शौक था। एक कुशल शब्द-वेधी के नाते दशरथ ने बड़ा नाम कमाया था। अयोध्या के आसपास जो अनेकानेक विहार-स्थलियां फैली थीं, दशरथ उनमें बड़े उल्लास के साथ घूमा करता और शिकार खेला करता। वह जंगलों में घुसकर जंगली भैंसों, सांड़ों, हरिणों, हाथियों, सुअरों आदि को बड़ी चपलता से बेंधता था और कभी-कभी तो दशरथ कई-कई दिनों तक इसी एक धंधे के पीछे पागल बना फिरता रहता था।

एक वार सन्ध्या के समय दशरथ निकल पड़ा। उसके हाथ में धनुष था; उसके कंधे पर तरकश लटक रहा था; उसके सिर पर युवराज का मुकुट था; उसकी आंखों में चकोरता थी; उसके कान बिलकुल सावधान थे। कुमार अयोध्या के एक उपवन में पहुंचा। इस उपवन में कुमार ने जल-क्रीड़ा करते हुए अनेकानेक हाथियों को अपने बाणों से वेंध डाला था; इस उपवन में कुमार ने कई जंगली भैंसों को मौत के घाट उतारा था; इस उपवन में कुमार ने कई हरिणियों को अनाथ बनाया था।

ठीक आधी रात का समय हुआ; रोहिणी पति विलकुल सिर पर आ पहुंचा; पक्षी सारे अपने-अपने घोंसलों में छिपकर सो चुके थे; केवल कहीं-कहीं झींगुरों और झिल्लियों की आवाज सुनाई पड़ रही थी।

ज्योंही कुमार दशरथ ने उपवन में प्रवेश किया, त्योंही एक सूखे पेड़ पर बैठा उल्लू उड़ा। आज कुमार को अपने पैरों की आहट भी अखरने लगी; कुमार को अपनी सांस भी विघ्न-रूप प्रतीत हुई। कुमार कान देकर सुनने लगा। इतने में दूर की एक आवाज उसके कान से टकराई। यह आवाज कहां से आई ? किसकी है यह आवाज ? किसी वनवासी की तो नहीं ? दशरथ के कान आवाज को खोजते-खोजते ठेठ जलाशय तक पहुंचे। "हां...हां...लगता है, कोई हाथी जल-क्रीड़ा के लिए आया है।" चतुर कुमार ने एक ही क्षण में आवाज पहचान ली, और पहचानी, न पहचानी, इतने में तो धनुष पर डोरी चढ़ गई, डोरी पर बाण चढ़ा और बाण छूट भी गया, सननन...सननन...सननन। शब्द-बेधी दशरथ का बाण, अयोध्या के राजकुमार का बाण ! दशरथ अभी उस प्राणी के काल-शब्द की बाट जोहता खड़ा ही था कि इतने में उसके शब्द-भेदी कानों ने सुना, "हे

नाथ ! हे मैया !"

इन शब्दों के साथ ही सारा उपवन सहम उठा, सन्नाटे में आ गया, "हे नाथ ! हे मैया !"

इन शब्दों को सुनते ही कुमार चौंक उठा। उसके हाथ का धनुष धरती पर गिर पड़ा। उसका शरीर शिथिल हो गया। वह उतावली चाल से आवाज की दिशा में दौड़ा चला गया। उसने देखा, एक तपस्वी कुमार जलाशय के किनारे पर लोट-पोट हो रहा है। इस नौजवान का शरीर गोरा था; इसके माथे पर जटा थी; दोनों कंधों पर गट्ठे पड़े थे; उसके पास ही एक तुम्बी औंधी पड़ी थी; उसकी देह से लहू बह रहा था; उसकी बगल में कुमार का बाण घुसा था; उसकी आंखें मुंद रही थीं, उसके मुख पर वेदना के चिह्न प्रकट हो रहे थे।

जब कुमार दशरथ पास पहुंचा, तो उस नौजवान ने आंखें उठाकर उसे देखा। दशरथ भारी दिल से बोला, "महाराज ! आप कौन हैं ? मैं अयोध्या का राजकुमार दशरथ हूं। मैंने यह मानकर अपना बाण छोड़ा था कि सरोवर में कोई हाथी आया होगा, पर मेरा भाग्य उल्टा निकला। महाराज ! मुझे क्षमा कीजिए, मेरा अपराध माफ कर दीजिए !"

नौजवान ने कहा, "कुमार ! जो होना था, सो हो चुका है। मेरा मर्म-स्थान बिंध गया है, इस कारण मुझे बड़ी वेदना हो रही है। अगर आप इस बाण को खींच लें, तो वेदना कुछ कम हो जाय।"

दशरथ बोला, "महाराज ! जैसे ही मैं यह बाण खींचूंगा, समझिए कि आपका शरीर उसी क्षण छूट जाएगा।"

तपस्वी ने लड़खड़ाती आवाज में कहा, "राजकुमार ! अपना अंत तो मैं अपने सामने ही देख रहा हूं। अयोध्या का राजकुमार अब मुझे बचा नहीं सकता। लेकिन दशरथ ! मेरी एक विनती है।"

दशरथ ने हाथ जोड़कर कहा, "आज्ञा कीजिए, ऋषिकुमार !"

तपस्वी बोला, "मैं जन्म से ब्राह्मण नहीं, वैश्य हूं। यहां से कुछ ही दूर मेरे पिता की कुटिया है। वहां मेरे माता-पिता प्यासे बैठे हैं। मैं उनके लिए पानी लेने आया था। वे दोनों बूढ़े हैं और अंधे हैं। वे मेरी बाट जोहते बैठे होंगे। अब आप जाकर उन्हें इस तुम्बी का पानी पिला दीजिए।

इससे मुझे तृप्ति होगी। कुमार ! मेरी पीड़ा अब बढ़ रही है; मेरी आंखों के सामने अंधेरा छा रहा है; आप मेरी बगल में से इस बाण को खींच लीजिए। देर मत कीजिए, कुमार ! जल्दी खींच लीजिए।"

इतना कह चुकने के बाद वह तपस्वी युवक अपना हाथ फैलाकर उससे बाण खींचने जा रहा था कि तभी दशरथ ने कांपते हाथों से बाण खींच लिया। तुरंत ही तपस्वी कुमार की आंखें मुंद गईं। देह के सारे प्राणों को समेटते हुए युवक की आत्मा ने अंतिम सांस ली और वह शरीर छोड़कर चली गई !

कुमार दशरथ पानी से भरी तुम्बी लिये कुटिया की ओर जानेवाली पगडंडी पर चल पड़ा। उसके पैरों में जान नहीं थी; उसके होश-हवास गायब थे; उसकी आंखें भय-विह्वल थीं; उसके शरीर से पसीना बहा जा रहा था; उसका दिल जोर-जोर से धड़कने लगा था।

जलाशय से कुछ ही दूर कुटिया थी; कुटिया के चारों ओर पेड़ों की घनी घटा थी; कुटिया के आंगन में दोनों वृद्ध बैठे थे और श्रवण के लौटने की राह देख रहे थे; कुटिया के एक छोर पर एक छोटी-सी कांवर पड़ी थी। श्रवण की मां पगडंडी की ओर कान लगाकर किसी की आवाज की टोह ले रही थी।

कुमार ने पगडंडी पर से ही कुटिया देख ली। वह दो पेड़ों के बीच से निकलकर आंगन में आया। तभी उसे दोनों वृद्ध दिखाई पड़े। कुमार आज चोर की चाल से चल रहा था। ऐसा लग रहा था, मानो धरती स्वयं भी दशरथ के पैरों को छूने में हिचकिचा रही थी; दबे पांव और दबी सांस के साथ दशरथ धीमी चाल से इस तरह चल रहा था कि तनिक भी आवाज न हो, पर ज्योंही वह कुटिया के आंगन के पास पहुंचा, अचानक उसका पैर एक सूखी पत्ती पर पड़ गया और बुढ़िया तुरंत बोल उठी, "बेटा ! आ गया ? अरे, बोलता क्यों नहीं है ? क्या मुझसे रूठ गया है ? बेटा ! हम जानते हैं कि तेरे कंधों पर चढ़कर हमने इतने सारे तीर्थों की यात्रा की है। बेटा ! बोल तो सही। अब यह हमारा अंतिम तीर्थ है। तू छिपकर क्यों खड़ा है ? बेटा ! इतनी देर क्यों लगी ?"

इस तरह गिड़गिड़ाती, बेटे को मनाती, पैरों की आहट की दिशा में

अपनी आंखों की पुतलियों को घुमाती बुढ़िया के ये बोल सुनकर दशरथ से रहा नहीं गया। बोला, "माता ! लो यह पानी !"

"बेटा ! आज मेरे धन्य भाग्य हैं कि मैं 'मैया' न रहकर 'माता' बन गई हूं ! बेटा, अपने मुंह से ऐसा रूखा शब्द क्यों निकाल रहा है ? मैं तेरे मान-सम्मान की प्यासी नहीं हूं। मुझे तो तेरे स्नेह की प्यास है। श्रवण ! तू पहले मेरे पास आकर बैठ, फिर पानी की बात।" इस तरह बोलती हुई अंधी मां ने श्रवण को अपनी गोद में बैठाने के लिए अपने दोनों हाथ आगे फैला दिये।

"माताजी ! लो, यह पानी।"

"यह कौन बोल रहा है ? श्रवण ! आज तेरी आवाज बदल क्यों गई, बेटा ?"

"माताजी ! मैं श्रवण नहीं हूं, मैं तो दशरथ हूं, अयोध्या का राजकुमार।"

"मेरा श्रवण कहां है ?"

"श्रवण तो परलोक सिधार गया।"

"मेरा श्रवण परलोक सिधारा है, कहनेवाले की जीभ के हजार टुकड़े कर डालूंगी।" बुढ़िया उबल पड़ी। "सच बोल, मेरा श्रवण कहां है ?"

"माताजी ! मैं इस उपवन में आखेट के लिए आया था। भूल से मेरा बाण श्रवण को लग गया और उसके प्राण छूट गए। उसी के कहने से मैं आपके लिए यह पानी लाया हूं। आप इसे पी लीजिए।"

"अरे अभागे दशरथ !" बुढ़िया की वाग्धारा बह चली, "तूने यह क्या कर डाला ? तुझे दूसरा कोई नहीं मिला ? दशरथ ! सुन। हम दोनों बूढ़े हैं और अंधे भी हैं। हमें इस कांवर में बैठाकर और इसे अपने कंधे पर रखकर श्रवण ने हमें तीर्थों की यात्रा करवाई है। तीर्थ भी कितने ? एक नहीं, दो नहीं, पांच-पच्चीस नहीं, पूरे अड़सठ तीर्थ ! हमारे बोझ को वह बराबर ढोता रहा। देख, इस कांवर का बांस श्रवण के कंधे की रगड़ खा-खाकर चिकना हो गया है। इस कांवर में बैठाकर उसने हमें तीर्थों के स्नान करवाए, गंगा का जल पिलाया, संतों की वाणी सुनवाई, उनके चरण छुवाए, प्रसाद चखवाया और आरतियां करवाईं। आज जब

हम अपने जीवन के किनारे पर बैठे हैं, तभी श्रवण हमें निराधार छोड़कर चला गया !कुमार, बेटे तो सारी दुनिया में सब कहीं होते हैं; मां-बाप की सेवा करनेवाले कई बेटों की बातें भी सुनी हैं; घर में आग लगने पर मां-बाप को अपने कंधे पर बठाने और बचानेवाले बेटों की बातें सुनी हैं। अपनी जननी को माता के मंदिर में समय पर पहुंचाने के लिए रथ में घोड़े की जगह जुतनेवाले और आखिर अपने प्राण न्योछावर करनेवाले बेटों की कहानियां भी सुनी हैं। लेकिन दशरथ ! बूढ़े मां-बाप को कांवर में बैठाकर उन्हें बरसों तक अपने कंधों के बल तीर्थों की यात्रा करवानेवाला बेटा तो इस धरातल पर आजतक पैदा हुआ सुनने में नहीं आया।"

इतना कहने के बाद बुढ़िया बूढ़े की तरफ मुंह करके बोली "आप कुछ बोलते क्यों नहीं हैं ? आपने सुना, हमारा श्रवण चला गया ?"

बूढ़े ने कहा, "हां, सुना। जी चाहता है कि मैं खूब बोलूं, लेकिन मेरा दिल कुछ इस तरह पथरा गया है कि मैं न बोल पाता हूं और न रो पाता हूं।"

बुढ़िया बोली, "अभागे दशरथ ! अगर भगवान ने मुझे आंखें दी होतीं, तो मैं तुझे इसी क्षण जिंदा जला देती !"

बूढ़े ने माथे पर हाथ रखते हुए कहा, "हमारे नसीब फूटे हैं, इसमें दशरथ बेचारा क्या करे ?"

बुढ़िया भभक उठी, "दशरथ बेचारा कैसा ? मेरा श्रवण तो आज ही इसके हाथ में पड़ा। लेकिन आज तक इस उपवन की न जाने कितनी माताओं को दशरथ ने रुलाया और बिलखाया है। कोई हिसाब है उसका ? पुरुष क्या जानें कि अंतर की कितनी-कितनी आशाओं के साथ स्त्री माता बनती है। दशरथ ! तूने आज तक इस उपवन के अनेकानेक पशुओं और पक्षियों को अपने बाणों से बींधा होगा और न जाने कितनी माताओं के जीवन को उजाड़ा होगा, वीरान बनाया होगा। इन मूक माताओं का मूक विलाप तूने सुना है ? इन माताओं की आंखों से बहनेवाले गरम आंसू तूने देखे हैं ? इन माताओं के दिलों की आहों और कराहों को कभी तूने सुना है ? दशरथ ! अयोध्या के राजकुमार ! ये सब माताएं आज मेरी जीभ पर बैठकर तुझसे कह रही हैं, 'यह दशरथ भी भविष्य में पुत्र-वियोग

के दुःख से दुःखी होकर मरेगा !' "

बूढ़ा बोल उठा, "ना...ना...ना ! हम कुमार को ऐसा शाप देंगे, तो हमारा तप लजायगा।"

बुढ़िया ने कहा, "इसमें लजाने की क्या बात है ? मैं इस समय इस समूचे अरण्य की उन माताओं का विलाप सुन रही हूं, जिनके बच्चे उनसे सदा के लिए छिन गए हैं। दशरथ ! यह चिड़िया, यह भैंसा, यह सुअर, यह हरिण, ये सारे निर्दोष प्राणी इस वन में रहें, घूमें-फिरें, खेलें, नाचें, कूदें, इसमें तुम शिकारियों का क्या बिगड़ता है ? राजकुमार ! जीने और जीवन का सुख लूटने का जितना अधिकार हमें है, क्या उतना ही इन प्राणियों को नहीं ? दशरथ ! तूने इन पशु-पक्षियों को अपने बाणों से बेंधने का आनंद तो लूटा है, लेकिन क्या कभी इन पशु-पक्षियों को निकट से देखने, इनके रूप-रंग का अध्ययन करने, इनके शरीरों, इनकी आदतों, इनकी खूबियों और गुणों, इनके कलरव और इनके रूप-रंग के मूल में ईश्वर की जो कला रही है, क्या तूने कभी उसका आनंद भी लूटा है ? आज तो मैं इन सारे प्राणियों की मर्म-भेदी चीखें ही सुन रही हूं। इन सबका विलाप और संताप सारे अरण्य में मंडरा रहा है। उनके दिलों की आह इस सारे वन में छाई हुई है। आज वही मेरी जीभ पर चढ़कर बरस रही है। दशरथ ! तेरी भी मां तो होगी ही; अपने जीवन के उगते प्रभात में तुझे यह सब सुनना पड़ रहा है, इससे मुझे दुःख होता है। लेकिन दशरथ ! मैं जो बोल रही हूं, सो विवश भाव से बोल रही हूं; सारी दुनिया के सब शिकारियों के लिए संसार की माताओं की तरफ से बोल रही हूं। कुमार! मुझे माफ कर ! अब चल, जल्दी कर ! जहां मेरा श्रवण है, वहीं हमें ले चल।"

दशरथ बोला, "माताजी ! मैं यह पानी लाया हूं। इसे तो आप पी लीजिए।"

"अब तो पानी भी परलोक में श्रवण के हाथ से ही पीना है।" फिर पति से बोली, "क्यों हम श्रवण के पास चलें न ?"

बूढ़े ने जवाब दिया, "मुझे तो कुछ सूझ नहीं रहा है। जहां तू जायगी, वहीं चलने के लिए मैं तैयार हूं।"

"दशरथ ! अब देर मत कर।"

दशरथ ने कांवर बुढ़िया के पास लाकर रखी और कहा, "माताजी ! आप इस कांवर में बैठिए। मैं आपको ले चलता हूं।"

मां बोली, "कांवर का उठानेवाला तो चला गया ! अब इस कांवर में बैठने का स्वाद क्या रहा ?"

दशरथ ने कहा, "आपके लिए स्वाद चाहे न रहा हो, पर इस बहाने मेरा कंधा पवित्र हो जायगा।"

बुढ़िया बोली, "कुमार ! अगर सचमुच तुम अपने कंधे पवित्र करना चाहते हो, तो तुम राजा लोगों को चाहिए कि तुम सब अपने कंधों पर अपनी प्रजा को बैठाओ और उसका बोझ उठाओ। आज तो तुम सब राजा प्रजा के कंधों पर चढ़कर बैठे हो। इसका सच्चा प्रायश्चित यही है। हम दोनों तो श्रवण के कंधे पर चढ़कर ही परलोक जायंगे। दशरथ ! जल्दी कर; मेरा श्रवण वहां हमारी बाट जोह रहा होगा।"

इतना कहकर बुढ़िया तुरंत खड़ी हो गई। उसने अपने कपड़े ठीक किए, हाथ में एक लंबी पतली लकड़ी ले ली और बूढ़े की ओर देखकर बोली, "लो, इसका यह सिरा पकड़कर मेरे पीछे-पीछे चले आओ।"

बूढ़ा और बुढ़िया दोनों दो तरफ लकड़ी का छोर पकड़े कुटिया के बाहर निकल आये। बुढ़िया ने कहा, "कुमार ! तुम मेरा हाथ पकड़ लो, जिससे मैं तुम्हारे पीछे-पीछे चल सकूं।"

दशरथ ने पूछा, "माताजी ! इस कांवर का क्या करना है ?"

बुढ़िया ने कहा, "जहां हम, वहीं हमारी कांवर। इसमें बैठाकर तो श्रवण हमें आखिरी यात्रा करवानेवाला है। इसे तुम अपने साथ ले लो।"

दशरथ ने कांवर उठा ली और बुढ़िया का हाथ पकड़कर जलाशय की ओर चला। श्रवण के शव के पास पहुंचकर दशरथ रुक गया। इस पर बुढ़िया ने पूछा, "क्या हम मुकाम पर पहुंच गए ?"

"जी, माताजी !"

"श्रवण कहां है ? मेरा हाथ उसके सिर पर रखवा दो।"

दशरथ ने दोनों बूढ़ों को शव के पास बैठा दिया और बुढ़िया का हाथ

श्रवण के कपाल से छुवा दिया।"

बुढ़िया बिलख उठी, "हाय बेटा श्रवण ! तू यों चुपचाप क्यों चला गया ? तुझे अपने इन अंधे माता-पिता पर तनिक भी दया नहीं आई ? जरा इधर तो देख, ये तेरे पिता कैसे जड़-पत्थर बनकर बैठे हैं ? बेटा ! तू तो हमसे बिछुड़ गया, पर हम तुझे छोड़कर कहां जायं ? हम तो तेरे पीछे ही आ रहे हैं। बेटा, तूने हमें इतने तीर्थों की यात्रा करवाई, तो अब इस अंतिम तीर्थ की यात्रा भी तू ही करवा दे। यह रही तेरी कांवर। मैं इसे लेकर तेरे पीछे ही आ रही हूं। कुमार दशरथ ! चिता के लिए लकड़ी इकट्ठा करो।"

बुढ़िया ने श्रवण के कपाल पर से पसीने की बूंदें पोंछीं; एक बार उसकी समूची देह पर हाथ फेरा, वह झुक-झुककर उसके गालों को चूमने लगी, उसने श्रवण के दोनों कंधों को सहलाया, उसके सिर के बिखरे बालों को संवारा, उसके दोनों हाथ ठीक-से जमा दिये, उसके पैरों के तलुवों को धीमे-धीमे दबाया, उसकी दोनों बगलों पर हाथ घुमाया और श्रवण के जीवन की घटनाओं को याद कर-करके वह मुक्तकंठ से विलाप करने लगी। इस करुण प्रसंग के कारण समूचा अरण्य रो उठा—अरण्य के वृक्ष, पक्षी, पशु, लताएं, जलाशय, आकाश, तारे सभी बेचैन और विह्वल हो उठे।

दशरथ ने आसपास की सूखी पत्तियां, बांस और लकड़ियां इकट्ठी करके चिता रच दी।

बुढ़िया ने कहा, "कुमार, चिता तैयार हो जाय, तो मुझे बता देना। इस बात का ध्यान रखना कि श्रवण के और हमारे बीच बहुत फासला न रह जाय।"

भारी दिल से दशरथ बोला, "माताजी ! चिता तैयार है।"

बुढ़िया ने कहा, "तो पहले मुझे चिता पर चढ़ा दे; बाद में श्रवण के पिता को चढ़ाना; फिर हम दोनों के कंधों पर यह कांवर रख देना। इसके पल्ले हमारी गोद में रखकर उनमें श्रवण को सुला देना। दशरथ ! ठीक वही करना, जो मैं कह रही हूं। अगर थोड़ा भी इधर-उधर करोगे, तो हमारा अंत समय बिगड़ जायगा।"

दशरथ कांपती आवाज में बोल,ा "माताजी ! अगर श्रवण के पीछे चिता पर चढ़ने का अपना विचार आप किसी भी तरह बदल सकें, तो मैं जीवन भर आपका दास बनकर रहूंगा।"

बुढ़िया ने कहा, "दशरथ ! मेरा संकल्प अटल है। तुझे हमारी चिंता करने की कोई जरूरत नहीं। तू हम तीनों के जीवन का हिसाब मत लगा। लेकिन अगर तुझे अपने हाथों दूसरी ऐसी चिता रचने से बचना हो, तो आज ही से अपने इस शौक को ठुकरा दे। दशरथ, अयोध्या के राजकुमार! मैं देख रही हूं कि तेरे सारे जीवन पर एक प्रकार की गहरी छाया मंडराने लगी है। मुझे दीख रहा है कि तेरे परिवार पर इस छाया का कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़नेवाला है। काल-पुरुष को जो प्रिय होगा, सो होकर रहेगा। लेकिन कुमार ! अगर तू आज से अपने धनुष-बाण समेट ले और इन उपवनों के निर्दोष पशु-पक्षियों को अभयदान दे दे, तो आखिर समूचे कोशल पर परमात्मा के आशीर्वाद बरसेंगे।"

यह सब कहने के बाद बुढ़िया ने अपना हाथ आगे बढ़ा दिया। दशरथ ने उसे सहारा देकर चिता पर चढ़ा दिया; बाद में श्रवण के पिता को भी चिता पर चढ़ाया; फिर दोनों के कंधों पर कांवर टिकाकर कांवर के पल्ले बूढ़े की और बुढ़िया की गोद में रख दिये और बाद में उन पर श्रवण के शव को लिटा दिया।

बुढ़िया ने शव को अपनी गोद में लेते-लेते कहा, "बेटा ! तू आ गया ? कुमार ! अब इस चिता को सुलगा दो। वन के पशु-पक्षियो ! अब तुम सब किलोल करो, गाओ, नाचो ! आकाश हमारी चिता को सवेरे की ओस से ठंडा करेगा। तुम सब हम दोनों बूढ़ों को भूल जाना, पर मेरे श्रवण को मत भूलना। मेरा श्रवण प्रायः इस कांवर के साथ आकाश में खेलने निकलेगा। उस समय तुम उसे जी भर-भरकर देखना और अपने किसी मीठे सुर से उसका स्वागत करना।"

ज्योंही बुढ़िया ने बोलना बंद किया, दशरथ ने चिता सुलगा दी और आग धू-धू करके जल पड़ी।

"जय अग्निदेव, जय अग्निदेव !"

दशरथ कुछ दूर पेड़ के एक ठूंठ के पास खड़ा-खड़ा यह सब देखता

रहा। जब चिता जल उठी, तो दशरथ ने अपना धनुष, बाण और तरकश चिता पर रख दिया। उसने चिता को प्रणाम किया और नीचा मुंह किये वहां से चल पड़ा।

बुढ़िया के शाप के शब्द उसके कानों में गूंजते रहे !

: २ :

पुत्रेष्टि यज्ञ

वसिष्ठ उस युग के बड़े ब्रह्मर्षि थे। उन्हें परमात्मा का साक्षात्कार हुआ था। अहिंसा की उनकी साधना अनुपम थी। उनकी कामधेनु ने विश्वामित्र की विशाल सेना को परास्त किया था; उनके हाथ में उठी कुश की एक सींक ने विश्वामित्र के शस्त्रास्त्रों को कुंठित बना दिया था। उनकी आर्य दृष्टि संसार के और रघुकुल के कल्याण के लिए निरंतर जाग्रत रहती थी।

वसिष्ठ की शोभा जितनी उनके ब्रह्मतेज के कारण थी, उससे अधिक अरुंधती के कारण थी। जब से अरुंधती आईं, उनके यज्ञ की स्नेहाग्नि अखंड रूप से प्रज्वलित रही। अरुंधती ने ऋषि की बगल में बैठकर ही कल्याण की साधना की थी और संसार के सप्तर्षियों में उनके निकट का स्थान प्राप्त किया था। अरुंधती की मिठास और समर्पण के कारण वसिष्ठ के तपस्वी जीवन में एक अनोखी छटा फूट पड़ी थी। नव विवाहित वर-कन्या के सामने कल्याणमय गृहस्थ जीवन का आदर्श उपस्थित करने के लिए लोग वसिष्ठ और अरुंधती की ओर इशारा करते थे।

वसिष्ठ का आश्रम हिमालय की तलहटी में था। पतित-पावनी गंगा आश्रम का पाद-प्रक्षालन करती हुई मंदगति से बहती रहती थी। शंकर के अट्ट हास्य का-सा निर्मल श्वेत जल-प्रवाह, आकाश के साथ बात

करनेवाले आश्रम के वृक्ष, वृक्षों की डालियों पर नाचने-कूदने और कलरव करनेवाले पक्षी, दूर-दूर तक निर्भय भाव से चरनेवाले हरिण, पास की गोचर-भूमि में चरती बड़े आंचलों वाली घुंघरू बँधी गाएं, कुटियाओं में से निकलने वाली मीठी वेद-ध्वनि, क्यारियों में झुक-झुककर अमृत सींचने-वाली निर्दोष ऋषि-कन्याएं, होमशाला में से गुछली बनकर निकलनेवाला पवित्र धुआं, जलाशयों और पुण्यलताओं पर से बहकर आनेवाला मीठा मंद पवन; पृथ्वी के तल पर ऐसा प्राकृतिक सौंदर्य विरल ही होता है।

आश्रम के बीचोंबीच वसिष्ठ की पर्णकुटी थी। पर्णकुटी के ओसारे में से दृष्टि मंदाकिनी के तट को बेधकर बहुत दूर तक पहुंचती थी। वसिष्ठ और अरुंधती प्रायः अपने आंगन में बैठकर प्रातःकाल के निरंतर बदलने-वाले दृश्यों को देखा करते और संसार के सविता को अपने अंतर से अर्घ्य अर्पित किया करते थे। पर्णकुटी के पास ही एक छोटा चबूतरा था। इस चबूतरे पर बैठकर देवी छोटे बछड़ों को घास खिलातीं और गायों को सहलाती थीं। रोज शाम को जब गाएं चरकर लौटतीं तो अरुंधती दरवाजे पर खड़ी होकर उनका स्वागत करतीं और फिर सब साथ मिलकर गायों को दुहते। गायों को घास-चारा डालना, गायों का गोबर उठाना, गोशाला की सफाई करना, गाएं चराना, गायों का दूध निकालना और उनकी सेवा-सुश्रूषा करना, ये सारे कार्य वसिष्ठ और अरुंधती के अपने विशेष अधि-कार के काम थे। सारे आश्रम-जीवन में वेद-वेदांग के अध्ययन का जितना महत्व था, उतना ही महत्व इस तरह के सब कामों का था। अरुंधती की गोद में रहकर वसिष्ठ के शिष्य स्थूल दीखनेवाले व्यवहार में भी उच्चता का अनुभव करते थे और अपने बीच ऐसे सौंदर्य का निर्माण कर लेते थे, जो आश्रम के प्राकृतिक सौंदर्य से बढ़कर होता था।

किंतु वसिष्ठ का आत्म-तेज आश्रम में ही सीमित रहनेवाला नहीं था। वसिष्ठ इक्ष्वाकु वंश के कुलगुरु थे। अयोध्या के राजाओं के मस्तक निरंतर दोनों के चरणों में झुका करते थे और इनके आशीर्वाद पाते थे। जब अयोध्या के महाराज संतान-प्राप्ति के लिए चिंतित हो उठते, तो उनकी दृष्टि वसिष्ठ की ओर जाती; जब अयोध्या के महाराज अकाल-दुकाल से

पीड़ित हो उठते, तो उनकी दृष्टि वसिष्ठ पर जा टिकती; जब अयोध्या के महाराज के सामने राज-काज-संबंधी कोई उलझन खड़ी हो जाती, तो उनकी दृष्टि वसिष्ठ की ओर मुड़ती; जब अयोध्यापति को धर्म-अधर्म का निर्णय करना पड़ता, तो वे वसिष्ठ की ओर देखते; जब अयोध्या के वयोवृद्ध महाराज के सामने अपना राजपाट छोड़कर वन में जाने का प्रश्न खड़ा होता, तब भी उनकी दृष्टि वसिष्ठ की ओर जाती; ये पति-पत्नी दोनों ही समूचे रघुकुल को और कोशल देश को ऐसी कुशलता से पोषण पहुंचाते कि लोग देखते रह जाते।

सबेरे का समय था; सब शिष्य आश्रम के अलग-अलग कामों में जुट चुके थे; ऋषि-कन्याएं पानी से भरे घड़े ला-लाकर पेड़ों की क्यारियों को सींच रही थीं; आश्रम का गोधन हवा में अपने सींग उछालता हुआ गोचर-भूमि की ओर जा रहा था; होम की अग्नि को भलीभांति ढंककर अरुंधती चबूतरे पर बैठे-बैठे एक बालहरिण के मुंह में तेल लगा रही थीं; पास ही किसी गहरे चिंतन में डूबे हुए वसिष्ठ एक दर्भासन पर बैठे थे; वसिष्ठ की आंखें मानो जमीन में गड़-सी गई थीं।

अरुंधती बोलीं, "यह बेचारा कल ही चरने निकला और दर्भ की तीखी धार इसे लग गई। जीभ कुछ कट गई है। एक-दो बार इंगुदी का तेल लगाने से घाव भर जायगा। किंतु ऋषि ! सुनती हूं कि आज इस दुनिया के मनुष्यों के दिल घावों से भर गए हैं। उनके ये घाव कब बुझेंगे ?"

ध्यान में से जागते हुए वसिष्ठ बोले, "देवि ! आज यह संसार प्रसव-वेदना का अनुभव कर रहा है। इस वेदना में से ही समाज का नया जन्म होगा और प्रभु स्वयं ही पीड़ितों के दिलों के घाव बुझायेंगे।"

वसिष्ठ की ओर मुड़कर अरुंधती बोली, "ऋषि ! आजतक तो मैं भी यही मानती थी, लेकिन आज जब अलग-अलग आलमों और गुरुकुलों से भाग कर आए हुए शिष्यों की बातें सुनती हूं, तो मेरी श्रद्धा पंगु बन जाती है।"

वसिष्ठ ने कहा, "देवि ! तुम तो सुनी-सुनाई बातें जानती हो, पर मैं तो इस सारे त्रास को, सारी पीड़ा को और सारे दुःख को अपनी आंखों देख आया हूं, फिर भी मैं कहता हूं कि उषाकाल हो चुका है और भगवान

सूर्यनारायण घड़ी-दो घड़ी में ही उगनेवाले हैं। अरुंधती ! मैं सारे भारत-वर्ष की परिक्रमा करके लौटा हूं। मैंने अनेकानेक तीर्थ, आश्रम, पर्वत, गुफाएं, नगर और गांव देख डाले हैं; अपनी इस लंबी यात्रा में मैं अनेकानेक ऋषियों, मुनियों, तपस्वियों, कुलपतियों, योगियों, राजाओं, वानरों, गृद्धों, ऋक्षों, निषादों, शबरों, भीलों और राक्षसों से न केवल मिला हूं, बल्कि मैंने उनके जीवन को भी निकट से देखा है। देवि ! आज समूचा आर्यावर्त उजड़ चुका है, वीरान बन चुका है। फिर भी अयोध्या और मिथिला-जैसे प्रदेश इस उजाड़ में उपवन की तरह खड़े हैं। इसलिए किसी को अपनी श्रद्धा खोनी नहीं चाहिए।"

अरुंधती बोलीं, "ऋषि ! मैं यह तो समझती हूं कि श्रद्धा खोनी नहीं चाहिए; किंतु जब इन राक्षसों को पृथ्वी की छाती पर मदमस्त होकर घूमते देखती हूं, तो क्षण-भर के लिए ऐसा लगता है, मानो ईश्वर सो गया है।"

वसिष्ठ ने कहा, "देवि ! ईश्वर की आंख एक क्षण के लिए भी मुंद जाय तो यह समूचा ब्रह्मांड टूट पड़े। अपनी सृष्टि को संतुलित रखने के लिए प्रभु निरंतर जाग्रत रहता है; पर जब-जब इस संतुलन में गड़बड़ी आ जाती है, तो स्वयं उसको अवतार लेना पड़ता है।

अरुंधती बोलीं, "इन राक्षसों ने जीवन के सनातन मूल्यों को उलट-पलट दिया है; सत्य, अहिंसा, दया, मानवता आदि को तिलांजलि देकर इनकी जगह कपट, हिंसा, निर्दयता और आसुरी भावना की स्थापना की है; मांसाहार, मदिरापान, परस्त्री-गमन आदि को संस्कारिता की पोशाक पहनाकर इन्हें समाज में प्रतिष्ठित कर दिया है; संयम, तप आदि की अवगणना की है; खान-पान, भोग-विलास आदि को ही जीवन के ध्येय के रूप में स्थापित किया है; गरीबों, साधुओं और भोले-भाले लोगों को डरा-डराकर ही उनपर अपना राज्य कायम किया है और अब उनका दावा यह है कि वे स्वयं ही इस संसार के स्वामी हैं और शेष सब लोगों को उनकी दया पर जीना है। इन राक्षसों ने आर्यत्व का इतना ह्रास किया है, क्या फिर भी संसार का संतुलन अभी बिगड़ा नहीं ?"

वसिष्ठ कहने लगे, "देवि ! मैं तुमसे यही कहने जा रहा था। संसार

के पीड़तों की पुकार आज परमात्मा के सिंहासन तक पहुंच चुकी है और परमात्मा ने पृथ्वी पर आने की सब तैयारियां कर ली हैं। जब मैं महाराज दशरथ के यज्ञ में गया, तो मैंने वहां यह सब साक्षात देखा है। इसीलिए मैं यह कह रहा हूं।"

अरुंधती ने तेल लगाने का काम पूरा करते हुए कहा, "क्या कह रहे हैं ? मुझे सारी बातें विस्तार से बताइए।"

वसिष्ठ ने कहा, "देवि ! महाराज दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ चल रहा था और मुनि ऋष्य श्रृंग यज्ञ-विधि पूरी करवा रहे थे, तभी सब देवता वहां पहुंचे और बाद में ब्रह्मा भी आ गए।"

अरुंधती बोलीं, "ब्रह्मा ने ही रावण को सिर चढ़ाया है, उन्मत्त बनाया है। ब्रह्मा के वरदान के कारण ही रावण आज मृत्यु से भी नहीं डरता है।"

वसिष्ठ ने अरुंधती को टोकते हुए कहा, "अरुंधती ! यह तुम क्या कह रही हो ? मृत्यु का भय तो उस वरदान के गर्भ में ही निहित है। सृष्टि के आरंभ से लेकर आज तक संसार के समस्त राक्षसों ने अपनी स्थूल देह को अमर बनाने का व्यर्थ प्रयास किया है। बेचारे राक्षस नहीं जानते कि ब्रह्मा की अपनी स्थूल देह भी नष्ट होती है, तो फिर दूसरों की तो बात ही क्या ? इस तरह न मरूं, उस तरह न मरूं, इस समय न मरूं, उस समय न मरूं, इसके हाथ न मरूं, उसके हाथ न मरूं, इस प्रकार राक्षसों ने वरदान मांग-मांग कर ब्रह्मा को बांधने के अनेक प्रयत्न किये हैं और ब्रह्मा भी सबको 'तथास्तु' कहकर सबकी मांग पूरी कर देते हैं। फिर भी ईश्वर की सृष्टि में मृत्यु को कोई टाल नहीं पाता।"

अरुंधती ने पूछा, "अच्छा, तो यह बताइए कि ब्रह्मा ने वहां आकर क्या किया ?"

वसिष्ठ बोले, "ब्रह्मा के आने पर देवों ने उनसे राक्षसों के त्रास की बातें कहीं।"

अरुंधती ने भौंहें चढ़ाकर पूछा, "और इस रावण-राज्य में स्त्रियों की जो भयंकर दुर्दशा हो रही है, उसके बारे में कुछ कहा ? हम आर्यों के लिए भी अभी इस दिशा में बहुत-कुछ करना बाकी है; किंतु आज तो इस

दुनिया में गंधर्वों, यक्षों, किन्नरों और मनुष्यों आदि में से किसी की भी मां, बहन, बेटी सुरक्षित नहीं है। ब्रह्मा की सृष्टि में स्वयं ब्रह्मा की कृपा से ऐसे अत्याचार होते रहते हैं, तो ऐसा लगे बिना रहता नहीं कि सृष्टि का अंत समीप आ गया है।"

वसिष्ठ ने कहा, "देवों ने ये सारी बातें विस्तार से सुनाईं और उनसे विनती की कि वे संसार को इस त्रास से मुक्त करें।"

"फिर ?"

"फिर ब्रह्मा बोले, 'देवो ! आपकी ये सारी बातें मैं जानता हूं। रावण का और राक्षसों का समय पूरा हो चुका है। संसार के स्वास्थ्य के लिए परमात्मा स्वयं कुछ ही समय में अवतार लेंगे। इस अवतार से पहले आपको भूमि संशोधन करके रखना है। आप सब अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार परमात्मा के अवतार के लिए अनुकूल वातावरण पैदा कीजिए।' इतना कहकर ब्रह्मा अंतर्धान हो गए और देव अपने-अपने स्थानों को चले गए। ठीक इसी समय पूर्णाहुति का नारियल होमा जा रहा था। तभी यह कुंड में से एक प्रजापति पुरुष प्रकट हुआ और उसने महाराज के हाथ में पायसान्न रखा। ऋष्य शृंग ऋषि की आर्षवाणी है कि इस पायसान्न से महाराज की तीनों रानियों के गर्भ रहेगा।"

अरुंधती ने पूछा, "तो क्या ईश्वर का अवतार दशरथ के घर ही होगा ?"

सहज नीची निगाह के साथ विचार की मुद्रा में वसिष्ठ ने कहा "ईश्वर-शक्ति के आविर्भाव के लिए अनुकूल भूमि तो अयोध्या और मिथिला की ही दिखाई पड़ती है। जब मैं संसार के प्रवाहों की पहेली को बूझने का प्रयत्न करता हूं, तो मुझे लगता है कि इन दोनों जगहों में उस शक्ति का प्रादुर्भाव होना चाहिए।"

अरुंधती का कौतूहल जागा, "ऋषि ! जब-जब ईश्वर का अवतार होता है, तब-तब उनका अपना कोई विशिष्ट अवतार-कृत्य भी रहता है। क्या आप यह बता सकेंगे कि इस बार के अवतार का अवतार-कृत्य क्या होगा ?"

वसिष्ठ बोले, "संसार की साधुता की रक्षा करना, दुष्टता का नाश

करना और धर्म की पुनः स्थापना करना ही अवतार-कृत्य है।"

अरुंधती ने कहा, "यह तो आपने सब अवतारों के साधारण अवतार-कृत्य की बात कही; किंतु अधर्म, दुष्टता, आसुरीभाव, इन सबके हजारों मुंह होते हैं। अधर्म किसी युग में एक स्वांग धारण करता है, तो दूसरे किसी युग में उसका कोई दूसरा ही रूप सामने आता है। किसी युग में ये राक्षस साधुओं के यज्ञों को भ्रष्ट करते हैं, तो किसी युग में गरीबों का लहू चूसते हैं; किसी युग में ये राक्षस देवों से बेगार करवाते हैं, तो दूसरे किसी युग में स्त्रियों की लाज लूटते हैं; किसी युग में ये राक्षस ईश्वर का नाम लेने वालों की जीभ काटने को तैयार हो जाते हैं, तो दूसरे किसी युग में समूचे मानव-समाज के जीवन में छिपे-छिपे जहर घोल देते हैं। आपके विचार में ईश्वर का यह नया अवतार समाज में किस तरह की स्वस्थता की स्थापना करेगा?"

अरुंधती की इन बातों को सुनकर वसिष्ठ कुछ समय के लिए चुप रह गए; क्षण भर उन्होंने अपनी दृष्टि अंतर्मुख की और फिर इस तरह बोले, मानो दिल की किसी गहराई में से बोल रहे हों। उन्होंने कहा, "आपका प्रश्न मेरी शक्ति के बाहर है। हम साधारण मनुष्य ईश्वर की लीला को कैसे जान सकते हैं? फिर भी जहां तक मेरी बुद्धि पहुंचती है, वहां तक की बात बताता हूं। एक प्रकार से यह सच है कि ये राक्षस लंका में, जन-स्थान में और दंडकारण्य में रहते हैं; लेकिन सचमुच तो ये राक्षस, इनकी यह राक्षसी वृत्ति, हमारे लोक-समुदाय के मन में भी मौजूद है। नया अवतार राक्षसों का संहार करता है, इसका मतलब यही है कि नया अवतार लोकमानस में विद्यमान इस वृत्ति को बदल डालता है और उसके स्थान पर ईश्वर-भाव की स्थापना करता है। भारतवर्ष के लोकमानस में आज यह वृत्ति अनेक रूपों में व्यक्त हो रही है, फिर भी जब हम इन रूपों को सूक्ष्मता से देखते हैं, तो इनमें एक रूप सबसे अधिक भयंकर दीखता है। प्राचीन काल में हम आर्यों ने जब-जब भी जीवन के विषय में सोचा है, तब-तब हम सबसे पहले धर्म के विषय में सोचा करते थे। मनुष्य के साथ मनुष्य के आपसी व्यवहार में लोग पहले स्वयं यह सोचते थे कि 'मेरा धर्म क्या है?' 'मेरा अधिकार क्या है?' इसके बारे में वे बाद में सोचा करते

थे। यह हमारा परंपरागत आचार रहा।

"आज लोग उल्टी रीति से सोचने लगे हैं, 'मेरा धर्म क्या है ?' इसका विचार करने के बदले 'मेरा अधिकार क्या है ?' इसकी बात लोग पहले सोचते हैं। 'दूसरों के प्रति मेरा क्या कर्त्तव्य है ?' इसे सोचने के बदले लोग पहले यह सोचते हैं कि 'दूसरों को मेरे साथ कैसा बरताव करना चाहिए ?' आज यह सचाई समाज में से समाप्त हो चुकी है कि अपने कर्त्तव्य का यथार्थ पालन करने से ही मनुष्य के अधिकारों का जन्म होता है, और इस प्रकार जन्मे हुए अधिकारों के सामने बड़े-से-बड़ों को भी अपने सिर झुकाने पड़ते हैं। इस प्रकार अधिकार का चिंतन, उसकी चर्चा, स्वार्थ का ही एक स्वरूप है। इसके मूल में अहंभाव भरा है। संसार के सूक्ष्म प्रवाहों को देखने पर मुझे लगता है कि प्रभु का यह नया अवतार अधिकार के स्थान पर धर्म की स्थापना करेगा; आज लोग अपनी-अपनी मर्यादा का विचार किए बिना इस तरह का बरताव करने लगे हैं, मानो वे स्वयं इस संसार के केंद्र में हों। प्रभु का यह अवतार इसके स्थान पर धर्म-मर्यादा की स्थापना करेगा। यह अधिकार-वृत्ति राक्षस-वृत्ति का ही एक छिपा रूप है। समाज में से यह वृत्ति उखाड़ दी जाय, तो समझिए कि रावण बिना मौत मर जाय। देवी ! आप तो जानती हैं कि बाहर के स्थूल राक्षस मन में बसी ऐसी वृत्तियों के ही प्रतिबिंब होते हैं।"

अरुंधती बोली, "बात तो सच है, पर आपकी यह बात गले उतरती नहीं। हमारे इन ऋषियों, मुनियों आदि में ऐसी वृत्ति कहां है ? फिर भी राक्षस सबसे अधिक इन्हीं लोगों को कुचलते हैं।"

वसिष्ठ ने देवी की ओर देखते हुए कहा, "देवी ! राक्षस हमें कुचल सकते हैं, हमारे यज्ञों को नष्ट-भ्रष्ट कर सकते हैं, हमारे ऋषियों और मुनियों को जिंदा खा सकते हैं, क्या इसमें हमारा कोई दोष ही नहीं ?"

अरुंधती ने प्रश्न किया, "तप की रक्षा करनी हो और शाप न देने की मर्यादा को स्वीकार करके चलना हो, तब तो हमारे हाथ-पैर बँध ही जाते हैं न ?"

वसिष्ठ ने समझाते हुए कहा, "देवी ! सच है कि शाप देकर हमें अपने तप को नष्ट नहीं करना चाहिए, किंतु यदि हमारी ईश्वरोपासना

सच्ची हो, तो किसी राक्षस की ताकत नहीं कि वह हमारे यज्ञ को भ्रष्ट कर सके या हमें बेखटके निगल सके। लेकिन सचाई यह है कि आज हमारी उपासना, हमारा तप, हमारी श्रद्धा, सब कुछ निर्बल बन चुकी है। साधुता अच्छी चीज है, किंतु यदि उसे प्रतिकूल परिस्थितियों में टिकना है, तो उसको वीर्यवती बनना होगा। अपनी साधुता हमें सात्विक प्रतीत होती है, किंतु इस साधुता के गर्भ में जो क्षात्रवृत्ति होनी चाहिए, उसे आज हम गँवा बैठे हैं। प्रभु का यह नया अवतार हमारी साधुता में क्षात्रवृत्ति प्रकट करेगा·और इस तरह उसके द्वारा राक्षसों का संहार होगा। आजतक राक्षस हमारे अनेकानेक ऋषियों और मुनियों को निगल गए; किंतु क्या कोई एक भी मुनि किसी के गले में अटक पाया ? सवीर्य साधुता को कोई भी राक्षस पचा नहीं सकता। देवि ! आपसे यह बात कौन छिपी है ? यदि हमारी पवित्रता पूरी तरह सच्ची पवित्रता हो, यदि हमारी साधुता सवीर्य साधुता हो, यदि हमारी प्रभुनिष्ठा अडिग हो; तो इस साधुता में, पवित्रता में और निष्ठा में एक प्रकार का ऐसा गुप्त बल होता है कि उसके सामने संसार का कोई राक्षस आजतक टिका नहीं है।"

अरुंधती बोलीं, "यह एक अवतार-कृत्य हुआ। किंतु क्या यह अवतार हम स्त्रियों का उद्धार नहीं करेगा ? आर्यों का हमारा समाज कितना ही उच्च क्यों न माना जाता हो, फिर भी कहना होगा कि स्त्रियों के प्रति हमारे पुरुषों का जो व्यवहार है, वह तो राक्षसी ही है। यदि हमारे पुरुष ही हमारी बहन-बेटी को अपनी संपत्ति मानें, तो फिर उन्हें इस बात का शोक क्यों होना चाहिए कि राक्षस उनकी उस संपत्ति का हरण कर लेते हैं ? फिर तो संपत्ति के स्वामित्व का ही प्रश्न रह जाता है।"

वसिष्ठ ने कहा, "देवि ! इस विषय में स्वयं ब्रह्मा ने तो कुछ भी कहा नहीं; किंतु नर-नारायण के आलम में जो बातचीत हुई थी, उसके आधार पर मुझे कुछ बातें सूझ रही हैं। अपने पुरुषों के लिए तुमने जो कहा है, सो बिलकुल सच है। हमें अपनी बहनों को राक्षसों के त्रास से भी छुड़ाना है और हमारे अपने त्रास से भी उन्हें मुक्त करना है। यह भगीरथ कार्य है। आजतक ईश्वर के कई अवतार हो चुके हैं; पर किसी अवतार ने यह कार्य अपने हाथ में नहीं लिया।"

अरुंधती बोली, "इस कार्य के लिए तो प्रभु को स्त्री का ही अवतार लेना होगा ! लेकिन आप पुरुषों की इतनी तैयारी कहां है कि प्रभु को स्त्री का अवतार लेने दें ?"

वसिष्ठ ने कहा, "अरुंधती ! यह सच है; परंतु स्त्री-जाति के प्रति हमारी हीनवृत्ति आज इस हद तक पहुंच चुकी है कि ईश्वरी शक्ति अपनी पवित्रता से, अपनी निष्ठा से, अपने समर्पण से और अपने बलिदान से हम पुरुषों को झकझोरकर जगायगी और मुंह से वेदना का एक शब्द भी निकाले बिना स्वयं मरकर पुरुष-समाज को जीना सिखाएगी।"

अरुंधती ने पूछा, "पुरुषों ने समाज में अपनी रक्षा के लिए जो बड़ी दीवार खड़ी कर ली है, क्या वह इतना बड़ा बलिदान लेगी ?"

वसिष्ठ ने कहा, "यह भी तभी होगा, जब प्रभु स्वयं अपना सारा सामर्थ्य तराजू के पलड़े में डालेंगे ! किंतु मनुष्य के हृदय पर जमी हुई तहों का उखड़ना बहुत कठिन है।"..."क्यों भार्गव ! कैसे आए ?"

भार्गव बोला, "गुरुजी ! अयोध्या से कोई राजपुरुष आपको लिवा ले जाने के लिए आए हैं ?"

"क्या काम है ?"

भार्गव ने कहा, "रानियों के पुत्र-प्रसव के शुभ समाचार लेकर आए हैं।"

अरुंधती बोली, "धन्य भाग्य अयोध्या के! धन्य भाग्य सूर्यवंश के !"

अपने मन की बात कहते हुए भार्गव बोला : "देवी ! सच कहूं, मुझे तो आज सवेरे से ही लग रहा था कि आज का दिन कोई पुण्य दिन होना चाहिए।"

वसिष्ठ ने पूछा, "ऐसा तुम्हें क्यों लगा ?"

भार्गव ने जवाब दिया, "जब आप होमशाला से चले गए, तो जो थोड़ी आहुतियां बाद में मैंने दीं, उस समय अग्नि की ज्वालाएं एकदम सीधी बनी रहीं; आज सवेरे ही से समूचे आश्रम में एक प्रकार की खुशहाली सी बनी रही; आज सुबह से ही शीतल और सुगंधित पवन मंद-मंद बह रहा है; आज सुबह से ही आकाश और दिशाएं अत्यंत स्वच्छ दीख रही हैं। आप ही ने हमें समझाया था कि जब ऐसे चिह्न प्रकट हों, तो समझना

चाहिए कि वह दिन पुण्य दिन है।"

वसिष्ठ ने कहा, "अच्छा, तो तुम जाओ और उन राजपुरुष को कहीं आराम से बैठाओ। तबतक मैं अयोध्या जाने के लिए तैयार हो लूं।"

अरुंधती बोली, "ऋषि! महाराज को, रानियों को और चारों कुमारों को मेरा आशीर्वाद कहिए। बुढ़ापे में दशरथ ने आज पुत्र का मुंह देखा है, इसलिए वे तो मारे खुशी के पागल हो गए होंगे।"

"देवि! अयोध्या के भाग्य से हमारा भाग्य भी जुड़ा है न? हम तो यही चाहते हैं कि रघुकुल के राजा निरंतर धर्म के मार्ग पर चलें।"

कहते हुए वसिष्ठ खड़े हो गए और कुछ ही देर बाद राजपुरुष के साथ अयोध्या के लिए चल पड़े।

: ३ :

विश्वामित्र के साथ

आज से कई सौ वर्ष पहले सरयू के तट पर एक पवित्र दिन का उदय हुआ। देव ऐसे पुण्य दिवस की बाट बरसों से देखते आ रहे थे; तपस्वी बरसों से इस पुण्य दिवस के लिए तपश्चर्या कर रहे थे; ऋषि-मुनि ऐसे पुण्य दिवस के लिए युगों-युगों से योग की साधना करते आ रहे थे; ऐसे पुण्य दिवस के लिए समूचा संसार प्रयत्नशील था; ऐसे सौभाग्यशाली दिन के लिए कोशल की जनता अधीर बनी बैठी थी।

वसंत ऋतु के समान सुंदर, मधुर ऋतु, चैत मास के समान पवित्र मास और उजेले पक्ष की नवमी, यही वह दिन था। संसार के सौभाग्य का दिन! आज सुबह से ही यज्ञ-कुंड की अग्नि की सब ज्वालाएं सीधी जल रही थीं, आकाश निरभ्र था, मलय का मीठा पवन मंद-मंद बह रहा था, दिशाएं निर्मल थीं, प्रकृति में एक प्रकार की सुगंध फैल रही थी, लोक-हृदय में एक प्रकार की प्रसन्नता दीख रही थी। दशरथ के राजमहल में

आज ही पहली बार नवजात शिशुओं का रुदन सुनाई पड़ा। दशरथ की पटरानी कौशल्या की कोख से राम का जन्म हुआ, सुमित्रा की कोख से लक्ष्मण और शत्रुघ्न की जोड़ी जन्मी, कैकेयी की कोख से भरत का जन्म हुआ।

बुढ़ापे की ढलती उम्र में अपने घर पुत्र-जन्म से दशरथ तो पागल ही बन गया। आज उसके हर्ष का पार न था; आज उसने मुंह-मांगे दान देने शुरू किये; आज वह बार-बार प्रसूतिगृह के चक्कर लगाने लगा; आज उसके मनोरथ पूरे हुए; आज उसका जीवन सार्थक हुआ!

अयोध्या के आंगन में भी आज एक महोत्सव का श्रीगणेश हुआ। रास्तों पर पानी छिड़का गया, घर-घर में तोरण बँधे, आंगन-आंगन में चौक पूरे गये, चौराहों-चौराहों पर नौबतें बजने लगीं! मंदिरों में घी के दीए जल उठे; नगर-कन्याएं रंग-बिरंगे वस्त्र पहनकर कुमारों को बधाई देने निकल पड़ीं, महाजन-समाज मंगल उपहार लेकर राजमहल की ओर चल पड़ा, समूची अयोध्या नगरी में एक नये प्राण का संचार हो उठा।

वसिष्ठ ने आकर चारों कुमारों पर आशीर्वादों की वर्षा की और चारों के नाम रखे। राम सबसे बड़े थे; उनके शरीर का रंग मेघ के समान श्याम था; लक्ष्मण के शरीर का रंग श्वेत था। चारों कुमारों को देखकर दशरथ क्षण भर के लिए अपना बुढ़ापा भूल गया।

... ...

एक बार दशरथ राजमहल के एक विशाल कक्ष में बैठा था; तभी विश्वामित्र ऋषि वहां आ पहुंचे। विश्वामित्र का आना सुनकर दशरथ एकदम खड़ा हो गया, ऋषि की अगवानी के लिए आगे बढ़ा; अर्घ्य-पाद से उनका पूजन किया; ऋषि के चरणों में अपना मस्तक झुका दिया और फिर ऋषि को लाकर सिंहासन पर बैठाया। बाद में हाथ जोड़कर दशरथ बोला, "ऋषिदेव! पधारिए, आज आपने मेरा घर-आंगन पवित्र किया। आप स्वयं ही मेरी और कोशल देश की कुशलता की रक्षा करनेवाले हैं, इसलिए आपके कुशल-मंगल की बात मैं क्या पूछूं? आपका आश्रम तो भली भांति चल रहा है न? आपका यज्ञ तो सांगोपांग संपन्न होता है न? मेरे अधिकारी आपको त्रास तो नहीं पहुंचाते न? आपके शिष्यों को

वेदाभ्यास में कोई कठिनाई तो नहीं हो रही ? आपके जलाशयों में पानी तो है न ? जंगली जानवर आपके आश्रम को कोई क्षति तो नहीं पहुंचाते हैं न ? ऋषिदेव ! आज आपने मुझपर बड़ी कृपा की ! मैं जानना चाहता हूं कि आप किसलिए पधारे हैं ? मैं आपकी आज्ञा का पालन करने को तैयार हूं।" यों कहकर दशरथ विश्वामित्र के चरणों के पास बैठ गया।

विश्वामित्र ने दशरथ को आशीर्वाद दिए और वे धीर-गंभीर वाणी में बोले, "महाराज ! हम तो जंगलों में रहनेवाले जीव ठहरे, इसलिए जब भी इच्छा होती है, आ पहुंचते हैं और आपके समान सुखी लोगों को कष्ट पहुंचाते हैं।"

दशरथ ने कहा, "गुरुदेव ! जिस पर आपकी कृपा होती है, उसी को आपकी आज्ञा का पालन करने का सौभाग्य प्राप्त होता है ! आपका दिया कष्ट भी अंत में कल्याणकारी होता है।"

विश्वामित्र बोले, "रघुकुल के राजाओं को यही शोभा देता है। महाराज ! मेरे आश्रम की तो ठीक, आज किसी भी ऋषि-मुनि के आश्रम की कुशल नहीं है। न आश्रम कुशल हैं, न शिष्य कुशल हैं, न यज्ञ कुशल हैं, न ऋषि-कन्याएं कुशल हैं, न खेत कुशल हैं और न हमारी गाएं ही कुशल हैं। ये राक्षस हमारे यज्ञ-कुंडों में लहू बरसाते हैं, हमारे जलाशयों में हड्डियां आदि डालते हैं, हमारी कन्याओं को अपवित्र करते हैं, हमारे खेतों को उजाड़ते हैं, हमारे शिष्यों के पास से वेद चुराकर ले जाते हैं। मेरे अपने यज्ञ की भी यही दशा है। मैंने यज्ञ की दीक्षा ली है, इस कारण मैं उनका क्या कर सकता हूं ? इन राक्षसों ने हमारे आश्रमों की संस्कृति-मात्र को मिट्टी में मिला दिया है। जहां एक दिन घने छायादार पेड़ और वेद-पाठ से गूंजनेवाले आश्रम थे, वहां आज राक्षसों की भीड़ से भरे भयावने खंडहर और उजड़े प्रदेश हैं। मेरी मांग यह है कि इन राक्षसों से अपने यज्ञ की रक्षा करने के लिए आप कुमार रामचंद्र को मेरे साथ भेज दें। मैं राम को ले जाने के लिए आया हूं।"

विश्वामित्र के ये वचन सुनकर दशरथ तो बर्फ की तरह ठंडा हो गया, उसका शरीर कांपने लगा, उसकी जीभ सुन्न हो गई। फिर भी अपना सारा सामर्थ्य इकट्ठा करके वह बोला, "भगवन् ! मेरा राम तो अभी बालक

है; वह तो अभी पूरे पंद्रह साल का भी नहीं हुआ है; उसकी काया अभी नितांत कोमल है; उसके अभी रेख तक नहीं फूटी है। ऐसा यह राम राक्षसों को कैसे मार पायेगा ?"

दशरथ के इन वाक्यों को सुनते ही विश्वामित्र कह उठे, "रघुकुल के राजाओं ने आजतक कभी वचन-भंग नहीं किया है। तुम्हारे वचन देने के बाद ही मैंने तुमसे राम की मांग की है।"

कांपती हुई आवाज में दशरथ बोला, "भगवन्! इसमें वचन-भंग का कोई सवाल नहीं उठता। आप राक्षसों का संहार करना चाहते हैं, तो मैं स्वयं अपनी सेना के साथ चलने को तैयार हूं, किशोरवय के राम की क्या बिसात है ? दशरथ राजमहल में रहकर आनंद मनाए और बालक राम को राक्षसों के साथ लड़ने भेजे, तो लोग क्या कहेंगे ? आप तो बड़े हैं, किंतु..."

विश्वामित्र से अब रहा न गया। बोले, "दशरथ ! विश्वामित्र क्या जाने कि तेरा राम कितने साल का हुआ है ! तेरे राम के स्नायु कितने कोमल हैं और उसकी उमर कितनी है, इसे मैं तुझसे अधिक जानता हूं। राजन् ! मुझे तो राम की ही जरूरत है; मुझे न दशरथ से मतलब है, न उसकी सेना से। बोल, दशरथ ! राम को मेरे साथ भेजना है या इक्ष्वाकु वंश की उज्ज्वल कीर्ति को कलंकित करना है ?"

इस प्रकार बातचीत चल ही रही थी कि इतने में कुलगुरु वसिष्ठ वहां आ पहुंचे। वसिष्ठ को आते देखकर विश्वामित्र ने और दशरथ ने उनका स्वागत किया। फिर वसिष्ठ हँसते-हँसते बोले, "आज ये राजर्षि कैसे रास्ता भूल गये ?"

विश्वामित्र ने कहा, "राजर्षि विश्वामित्र राजर्षि दशरथ से भीख मांगने आया है। सारी दुनिया जानती है कि इस कुल में आपकी निगरानी में अनेक राजाओं ने सर्वमेध-जैसे यज्ञ किये हैं और यज्ञ के अंत में रामपात्र को छोड़कर दूसरा कोई परिग्रह रखा नहीं है। मुझे यह देखकर आश्चर्य हो रहा है कि आज महाराज दशरथ मेरी एक छोटी-सी याचना को स्वीकार नहीं कर रहा !"

वसिष्ठ कहने लगे, "राजर्षि ! दशरथ इतना कंजूस नहीं है। इस वंश

में कोई कंजूस पैदा नहीं हो सकता।"

अपना बचाव करता हुआ दशरथ बोला, "महाराज ! मैं अपनी साठ हजार की विशाल सेना सहित आपके साथ चलने को तैयार हूं, फिर भी आप राम के लिए इतना आग्रह क्यों करते हैं? गुरुदेव! आप हमारा न्याय कीजिये। यदि राक्षसों को ही मारना है, तो मैं कहता हूं कि राम अभी निरा बालक है। उसके बदले मैं चलने को तैयार हूं। किंतु ऋषि हठ कर रहे हैं और कहते हैं, मुझे तो राम की ही जरूरत है। भगवन्! कहिए, क्या मेरी बात गलत है ?"

विश्वामित्र ने अपने अंतरकी भावना व्यक्त करते हुए कहा, "ब्रह्मर्षि ! इस विश्वामित्र के गले यह बात कैसे उतरे कि यह राम निरा बालक है, इसके स्नायु कोमल हैं और राक्षसों को मारने के लिए यह दशरथ अपने राम से अधिक योग्य हैं ?"

वसिष्ठ गंभीरतापूर्वक कहने लगे, "राजन् ! तेरा राम आयु के हिसाब से बहुत छोटा है, इस सीधी-सी बात को अयोध्या के रास्ते पर चलनेवाला मामूली आदमी भी समझता है, तो क्या ये विश्वामित्र न समझते होंगे ? फिर भी विश्वामित्र राम को ही मांग रहे हैं, तो समझ ले कि उसके मूल में कोई विशेष कारण होना चाहिए। तुझे यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि ऐसे मामलों में दृष्टा पुरुष संसार के बलाबल को जिस प्रकार परख पाते हैं, उस प्रकार तुम दुनियादार लोग नहीं परख सकते। दशरथ ! याद कर ! जब इस राम का जन्म हुआ, तब तेरे आंगन में अनेक ऋषि-मुनि, तपस्वी, ज्ञानी, योगी, भक्त और सिद्ध इकट्ठे हुए थे। मैं तो सोच रहा था कि ये सब लोग तेरे समान अयोध्यापति के प्रति अपना हर्ष प्रकट करने आये होंगे; किंतु असल में तो ये सब तेरे राम के दर्शन करके पवित्र बनने आये थे। इन लोगों में से एक मुंहफट ब्राह्मण कुमार ने तुझे साफ शब्दों में कह दिया था, 'दशरथ ! इस पृथ्वीतल पर अनगिनत दशरथ पड़े हैं और अनगिनत रानियां कुमारों को जन्म देती हैं। हम तो आये हैं इस छोटे-से पालने में सोये हुए बालक का मुंह देखने।' दशरथ ! यह बालक केवल अयोध्या का राजकुमार नहीं, यह तो समूचे ब्रह्मांड का राजकुमार है। इसी कारण आज ब्रह्मांड में उत्सव की धूम है।"

दशरथ बोला, "वसिष्ठ महाराज ! आप कह रहे हैं, इसलिए मुझे कुछ धुंधली-सी याद जरूर आ रही है। हां, उस दिन उस ब्राह्मण ने तो मेरा मुंह ही बंद कर दिया था।"

विश्वामित्र ने कहा, "तेरा मुंह बंद नहीं किया, भर दिया था !"

दशरथ बोला, "लेकिन महाराज ! मैं आपके समान योगी लोगों की ऐसी अगम-निगम की भेदवाली बातें समझ नहीं पाता।"

वसिष्ठ ने कहा, "समझ नहीं पाता, तो विश्वामित्र पर श्रद्धा रख।"

दशरथ बोला, "गुरुदेव ! क्या आप भी ऐसी ही बात कहेंगे ? वर्षों की मनोव्यथा के बाद मुझे आज राम का मुंह देखने का दिन नसीब हुआ है।"

वसिष्ठ ने कहा, "राजन् ! यह मानकर चल कि जब विश्वामित्र के समान ऋषि कोई बात कहते हैं, तो उसमें संसार का कोई कल्याण ही छिपा है। यह तो निर्विवाद है कि हम अपनी हाड़-मांस की आंखों से जो देख पाते हैं, उसकी तुलना में उनकी आर्षदृष्टि कहीं अधिक और बड़ी सूक्ष्मता से देख सकती है। विश्वामित्र के समान तपस्वी संसार के प्रवाहों को भलीभांति पहचानते हैं और यह भी समझते हैं कि उन प्रवाहों को कैसे वेगवान् बनाया जाय। अतएव राम को इनके साथ भेज दे। क्या तू यह भूल गया कि ये विश्वामित्र इतने समर्थ हैं कि स्वयं ब्रह्मा से स्वतंत्र अपनी सृष्टि की रचना कर सकते हैं ? राक्षसों का संहार करना इनके लिए तो बाएं हाथ का खेल है; फिर भी ये राम को ले जाना चाहते हैं, तो समझ ले कि उसमें कोई ईश्वरी संकेत है। राजन् ! विश्वामित्र पर, उनकी तपस्या पर, उनकी शक्ति पर और उनकी कल्याण-बुद्धि पर विश्वास रखकर राम को रवाना कर।"

विश्वामित्र बोले, "लक्ष्मण को तो मैं राम के साथ ही समझता हूं, इसलिए मैंने उसका अलग से नाम लेकर उसे नहीं मांगा है।"

दशरथ ने आतुरतापूर्वक पूछा, "तो आप लक्ष्मण को भी ले जाना चाहते हैं ?"

विश्वामित्र बोले, "मैं लक्ष्मण को राम से अलग मानता नहीं।"

वसिष्ठ ने कहा, "आप मांगें, चाहे न मांगें, लक्ष्मण तो राम के साथ जायगा ही। क्या किसी चीज से उसकी परछाईं कभी अलग हो पाई है ?"

दशरथ बोला, "बात तो ऐसी ही है। ऐसा लगता है कि इन दोनों की पूर्वजन्म की कोई प्रीति है।"

वसिष्ठ ने पूछा, "और ऐसी ही पूर्वजन्म की प्रीति भरत-शत्रुघ्न के बीच भी है न ?"

दशरथ ने कहा, "ठीक ऐसी ही : जीव एक, किंतु देह दो।"

इसके बाद दशरथ ने वसिष्ठ की आज्ञा से राम-लक्ष्मण को विश्वामित्र के साथ जाने के लिए बुलवा भेजा। दोनों राजकुमार तुरंत आ पहुंचे—अयोध्या के राजकुमार; नवयुवक, सुकुमार, गठीले शरीरवाले, गंगा-यमुना की तरह श्वेत-श्याम वर्णवाले। दोनों के हाथ में धनुष है, दोनों के कंधों पर तूणीर हैं, दोनों की कमर में कोपीन है, दोनों के सिर पर पांच-पांच शिखाएं हैं।

दोनों कुमारों ने आकर तीनों गुरुजनों को प्रणाम किया और फिर हाथ जोड़कर दशरथ के निकट में खड़े हो गए।

"राम, लक्ष्मण ! तुम्हें विश्वामित्र ऋषि के साथ जाना है।" कहते-कहते दशरथ की आंख से एक बूंद टपक पड़ी।

दोनों बोले, "जैसी आपकी आज्ञा !"

वसिष्ठ ने पूछा, "कुमार ! इन विश्वामित्र को पहचाना ?"

राम ने जवाब दिया, "नाम तो कई बार सुना है, पर आंखों से तो आज ही देखा।"

वसिष्ठ ने कहना शुरू किया, "तो सुनो ! ये विश्वामित्र इस युग के महान् दृष्टा हैं। तुम्हारी तरह एक साधारण राजा थे, लेकिन आज ये राजर्षि बने हैं। ऐसा इनका भगीरथ पुरुषार्थ है। इनके जीवन की कथाएं बड़ी रोमांचकारी हैं। ये अपने जीवन में न जाने कितनी बार ऊंचे शिखरों पर चढ़े हैं और न जाने कितनी बार गहरी खाइयों में गिरे हैं। उन सब बातों को तुम मुझसे सुनने के बदले इन्हीं के मुंह से सुनोगे, तो तुम्हें अधिक आनंद आयेगा। राक्षस इनके यज्ञ में बाधा डालते हैं, इसलिए तुम इनके साथ जाओ और उन राक्षसों को मार गिराओ। क्यों लक्ष्मण ! जाओगे न ?"

लक्ष्मण ने राम की ओर देखकर कहा, "जैसी बड़े भैया की इच्छा।"

राम बोले, "आप गुरुजनों की इच्छा मेरे लिए तो शिरोधार्य आज्ञा है।"

दशरथ ने गद्गद् कंठ से कहा, "बेटा! आज कड़ा दिल करके मैं तुम दोनों को राक्षसों का वध करने के लिए भेज रहा हूं। तुम ऋषि की छाया में रहना। पूरी सावधानी रखना, क्योंकि राक्षस बड़े कपटी होते हैं। काम पूरा करके जल्दी ही लौट आना। संसार के समस्त देव तुम्हारी रक्षा करें!"

फिर विश्वामित्र की ओर मुड़कर दशरथ बोला, "भगवन् विश्वामित्र! अपनी और कोशल की सारी पूंजी आपके हाथों में सौंप रहा हूं। इसे संभालिये!"

विश्वामित्र ने उठते-उठते कहा, "समूचे संसार की पूंजी कहिये न! राजन्! आप तनिक भी चिंता मत कीजिए। विश्वास रखिये कि विश्वामित्र इन दोनों कुमारों को आज से अधिक स्वस्थ, अधिक तेजस्वी और अधिक समृद्ध बनाकर आपको वापस सौंपेगा।"

फिर ऋषि दोनों कुमारों के साथ निकल पड़े। आगे विश्वामित्र, पीछे राम और सबके पीछे लक्ष्मण।

पुत्र-प्रेम से पागल दशरथ ने अपनी आंखें पोंछीं और गुरु वसिष्ठ के साथ वह कौशल्या के महल में चला गया।

: ३ :

यज्ञ : आर्य संस्कृति के प्रतीक

विश्वामित्र के आश्रम के एक विशाल वट वृक्ष की छाया तले विश्वामित्र, राम, लक्ष्मण और आश्रमवासी बैठे थे।

राम बोले, "भगवन्! मुझे कल्पना नहीं थी कि ताड़का ने इस प्रदेश को इतना उजाड़ा होगा।"

विश्वामित्र ने कहा, "कुमार ! तुम्हें इसकी कल्पना कैसे होती ? कुछ वर्षों पहले यह प्रदेश कोशल के समान ही समृद्ध था; कोशल के जैसे ही सुखी बालक इस प्रदेश में खिलखिलाते थे; कोशल के समान ही संस्कारी माताएं इस प्रदेश के घरों को आलोकित करती थीं; कोशल के जैसे ही पवित्र ब्राह्मण इस प्रदेश में वेदगान करते थे; कोशल के समान ही उपजाऊ भूमि इस प्रदेश को धन-धान्य से भरा-पूरा रखती थी। आज वह सब कहां है ? रामचंद्र ! हम अयोध्या से निकले, तो पहले सरयू के किनारे-किनारे चले और बाद में हम गंगा के किनारे आये। कुमार ! यह गंगा आज युगों-युगों से हमारी जनता को अपने अमृत का पान कराती रही है और इसी कारण यह हमारे देश की माता है। इसका दूध पी कर हमारी फसलें खड़ी होती हैं; इसका दूध पी कर हमारे आश्रम तेजस्वी बनते हैं; इसका दूध पी-पीकर हमारे दृष्टाओं ने वेद-गान किया है; इसके पालने में पली हमारी संस्कृति आज हमारा परम धन है। रामचंद्र! शायद तुम्हें पता न हो, इस गंगामैया को अपनी पृथ्वी पर लानेवाला तुम्हारे ही वंश का राजा भगीरथ था। गंगा के किनारे हमने कितने सारे आश्रम देखे? ऐसे ही आश्रम इस प्रदेश में भी जगह-जगह खड़े थे और समाज में संस्कारिता का प्रचार करते थे।"

राम ने पूछा, "राक्षस हमारे इन आश्रमों को नष्ट-भ्रष्ट क्यों करते हैं ?"

विश्वामित्र ने कहा, "इसलिए कि राक्षस हमारी आर्यसंस्कृति के बड़े शत्रु हैं।"

राम ने पूछा, "कैसे ? किस तरह ?"

विश्वामित्र बोले, "तुमने सुना होगा कि ये राक्षस हमारे वेदों को उठाकर ले जाते हैं।"

उत्तर में राम ने कहा, "जी हां, आपके आश्रमवासी भी यही बात कह रहे थे।"

ऋषि कहने लगे, "ठीक है। वेद हैं, शुद्ध ज्ञान; परमतत्त्व का साक्षात् दर्शन—वे हमारे धर्म के मुकुटमणि हैं। हमारी संस्कृति के मूल। ये वेद हमारे ऋषि-मुनियों का, हम ब्राह्मणों का और हमारे समूचे समाज का

महान् धन हैं। राक्षस वेदों को स्वीकार करते हैं, उसके अक्षरों और स्वर-व्यंजनों को अपनाते हैं, लेकिन उसका अर्थ उलटा करते हैं, और इस तरह वे शुद्ध वेदों का अपहरण करते रहते हैं। हमारे दृष्टाओं ने वेदों में पुराण-पुरुष का दर्शन किया; हमारे दृष्टाओं ने अपने उन गानों में परमात्मा की विभूति का गान किया, जबकि ये राक्षस वेदों के स्थूल कर्मकांड से चिपके रहते हैं और अपना जीवन इस तरह जीते हैं, मानो बाहर का ऐश्वर्य ही जीवन की परम वस्तु हो !"

राम ने पूछा, "यदि राक्षस स्वयं भी यज्ञ करते हैं, तो वे हमारे यज्ञों में विघ्न क्यों डालते हैं ?"

विश्वामित्र ने हँसकर उत्तर दिया, "यह बात भी स्पष्ट है। हमारी समूची संस्कृति की नींव में यज्ञ की उच्च भावना है; हमारी संस्कृति का रहस्य यह है कि मानव-जीवन एक महायज्ञ है और इस यज्ञ पर ही यह विश्व टिका हुआ है। किंतु इस यज्ञ का अर्थ है, स्वार्थ की आहुति; इस यज्ञ का अर्थ है, समर्पण; इस यज्ञ का अर्थ है कि आदर्शों के लिए मनुष्य अपना सिर समर्पित करे। इन राक्षसों की संस्कृति की नींव में इस तरह का समर्पण-भाव नहीं है; उसके मूल में बल है, शक्ति है। उनका समूचा समाज शक्ति का उपासक है; उनकी यज्ञ-भावना स्थूल देह से और देह के सुखों से अधिक आगे बढ़ती ही नहीं। इस प्रकार दोनों संस्कृतियों में यज्ञ का समावेश है, किंतु दोनों के बीच उसके अर्थ में बड़ा अंतर है। यह तो सच है ही कि राक्षस हमारे यज्ञों को भ्रष्ट करते हैं, अग्नि-कुंडों में लहू की झड़ी-सी लगा देते हैं; किंतु यज्ञ के ऐसे विपरीत अर्थ का समाज में प्रचार करके वे यज्ञ की आर्य-भावना को अपवित्र कर देते हैं और ऐसा प्रयत्न करते हैं कि जिससे धीमे-धीमे हमारे यज्ञ भी उनके यज्ञों की तरह आग के अलाव-भर बनकर रह जायं।"

राम ने कहा, "तब तो हमारी संस्कृति के लिए यह एक बड़ा भय ही माना जायेगा ?"

विश्वामित्र तनकर बैठे और बोले, "सो तो है ही। यदि हम समय रहते न चेते, तो हमारी सारी प्रजा का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। कुमार ! अभी एक और बात तो तुमने सुनी नहीं है। ये लोग हमारी

कन्याओं का भी हरण कर लेते हैं।"

लक्ष्मण खड़े हो गए और बोले, "ऐसी बात है ?"

विश्वामित्र ने कहा, "हां ! ये लोग इस युद्ध में न जाने कितनी देव-कन्याओं, मुनि-कन्याओं, यक्ष-कन्याओं और गंधर्व-कन्याओं को उठाकर ले गए हैं। राम ! समझ रहे हो न ? हमारी आर्य स्त्रियां तो हमारी संस्कृति की समर्थ संरक्षिकाएं हैं। उनकी कोमलता, उनकी मधुरता, उनका समर्पण, उनकी क्षमा, उनकी सहनशीलता, उनकी वत्सलता, ये सब हमारी संस्कृति के समर्थ किंतु गुप्त बल हैं। ये राक्षस लोग हमारे जीवन में से ऐसे समस्त कल्याणकारी अंशों को नष्ट करना चाहते हैं, इसलिए वे हमारी भावी माताओं को अपवित्र करते हैं। कुमार ! इन लोगों का यह उपद्रव आज अयोध्या और मिथिला में न भी हो, फिर भी यदि ये लोग आज एक प्रदेश से आर्य-कन्याओं को उठाकर ले जायंगे, तो समझो कि कल अयोध्या की भी बारी आ जायगी और परसों मिथिला की भी। रामचंद्र ! राक्षसों के ऐसे तो अनगिनत त्रास हैं। इन सबका उपाय करने के लिए ही मैं तुमको इधर लाया हूं।"

रामचंद्र ने धीर-गंभीर आवाज में उत्तर दिया, "भगवन् ! मुझे यह देखकर आश्चर्य हो रहा है कि आप ऋषि-मुनि इतने वर्षों से यह त्रास सहन करते आ रहे हैं !"

विश्वामित्र बोले, "यह आश्चर्य है ही। दूसरे किसी देश में राक्षसों का ऐसा त्रास होने पर वहां के लोग उसे एक क्षण के लिए भी सहन न करते। किंतु हम तो आर्य ठहरे, इसलिए जहां तक संभव होता है, हम लोग कलह और क्लेश से दूर ही रहते हैं। रामचंद्र ! सच तो यह है कि आज हमारे समाज में से क्षत्रियों का अर्थात् क्षात्रवृत्ति का नाश हुआ है। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अर्थात् ब्राह्मणवृत्ति और क्षात्रवृत्ति के सुभग मिलन में ही हमारे समाज की रक्षा है। वर्षों पहले सहस्रार्जुन राजा ने ब्राह्मणवृत्ति का उच्छेद करने का प्रयत्न किया और उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप आज पिछले कई-कई वर्षों से परशुराम समग्र क्षात्रवृत्ति का उच्छेद करने में लगे हैं। ऐसा लग रहा है, मानो हमारे समूचे देश में से क्षात्र-बीज का विनाश हो चुका हो। कुमार ! जब समाज में से क्षात्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, तो

सारा समाज नपुंसक बन जाता है, ब्रह्मवृत्ति निर्वीर्य बनती है, वैश्य गुलाम बन जाते हैं और शूद्र निकम्मे और अहंकारी बन जाते हैं। कुमार ! आज सारा संसार इन लोगों के त्रास से त्राहि-त्राहि पुकार रहा है और वह टक लगाकर अयोध्या तथा मिथिला की ओर देख रहा है।

राम ने कहा, "भगवन् ! आपकी बात यथार्थ है। किंतु जिस समाज को मैंने अभी अपनी आंखों देखा तक नहीं है और जिसकी सेवा करके मैंने उसके साथ अपनी आत्मीयता का अनुभव नहीं किया है, उस समाज में मेरे द्वारा ऐसा परिवर्तन किस प्रकार आ पायगा? उसके लिए तो मुझे अयोध्या छोड़कर वर्षों तक इन निषादों, वानरों, ऋक्षों, असुरों और सर्पों के बीच बसना चाहिए। आपकी कृपा होगी, तो यह भी होकर रहेगा।"

विश्वामित्र बोले, "कुमार ! ये सब तो साधारण बातें हुईं। मैं जिस खास काम के लिए तुम्हें लाया हूं, हम अब उस पर थोड़ा विचार कर लें। तुमने ताड़का का वध तो कर डाला। अब तुम्हें अपने हाथों सुबाहु और मारीच का वध भी करना है।"

लक्ष्मण ने कहा, "ताड़का का वध करते समय शुरू में तो बड़े भैया थोड़े ढीले पड़ गए थे।"

स्पष्टता करते हुए राम बोले, "इसलिए कि ताड़का स्त्री थी। क्या हम आर्यों का यह सिद्धांत नहीं है कि क्षत्रिय को स्त्री का वध नहीं करना चाहिए? फिर भी जब आपने आज्ञा दी, तो मेरे लिए विचार का कोई प्रश्न ही न रहा। मैं तो आपकी आज्ञा को वेदवाक्य मानता हूं।"

विश्वामित्र ने कहा, "साधारणतया तो मैं भी यह मानता हूं कि आर्य क्षत्रिय को स्त्री पर हाथ नहीं उठाना चाहिए, फिर भी मैंने तुम्हें आज्ञा क्यों दी, सो कहूं ? सामान्यत: स्त्रियां समाज में कोमलता, मधुरता, समर्पण, लज्जा, क्षमा आदि गुणों का प्रतिनिधित्व करती हैं, जो स्त्रियां इन सब समाज-रक्षक गुण-दोषों का त्याग करके विधिवत् पुरुषों के समान कठोरता, धृष्टता, बड़प्पन, कपट-सामर्थ्य आदि का विकास कर लेती हैं, उन स्त्रियों का आधार मात्र स्त्री का होता है, पर असल में वे पुरुष हैं अथवा समझो कि पुरुषों की भी अत्यंत उच्छिष्ट मूर्तियां हैं। ताड़का ऐसी ही एक स्त्री थी। जब उसने इधर के इन प्रदेशों को उजाड़ा, तो एक भी बालक के आक्रंद

से उसकी आंखें गीली नहीं हुईं; एक भी स्त्री के विलाप से उसके हृदय के तार नहीं झनझनाए, एक भी पुरुष के मरने पर उसका दिल नहीं कांपा। ऐसी ताड़का को मारने में आर्यधर्म को कोई लांछन नहीं लगता।"

लक्ष्मण ने पूछा, "भगवन् ! यदि अविनय न होता हो, तो मुझे एक बात पूछनी है।"

"खुशी से पूछो।"

"ये सब राक्षस मूल निवासी कहां के हैं ?"

ऋषि बोले, "बेटा ! इनका मूल स्थान तो यहां से अनेकों योजन दूर है। अपने देश के ठेठ दक्षिण में एक बड़ा द्वीप है। ये राक्षस उसी द्वीप के मूल निवासी हैं। वहीं से इनके दल-के-दल हमारे देश में घुस आते हैं, ये यहां बस जाते हैं, हमारे प्रदेशों को उजाड़ते रहते हैं, लोगों को सताते रहते हैं; किंतु इनकी निगाह तो हमेशा अपने उस द्वीप पर ही लगी रहती है।"

लक्ष्मण ने पूछा, "क्या वहां इनका कोई राजा है ?"

विश्वामित्र ने कहा, "वहां रावण नाम का इनका एक समर्थ राजा रहता है। यदि इन्हें रावण का सहारा और हिम्मत न हो, तो इन राक्षसों को तो हमारे लोग बात-की-बात में मसलकर रख दें। किंतु रावण महा समर्थ है। उसके दस तो सिर हैं; उसने कुबेर, ब्रह्मा और शंकर से भी 'त्राहिमाम्' कहलवा लिया है और अब वह हमसे कहलवा रहा है।"

राम बोले, "लक्ष्मण! अब हम यह समझ लें कि हमें यहां क्या करना है। भगवन् ! आप हमें यहां के काम के लिए आदेश दीजिए।"

विश्वामित्र ने कहा, "यहां त्रास पहुंचानेवाले दो मुख्य राक्षस हैं—सुबाहु और मारीच। मैं कल से दीक्षा ग्रहण करके यज्ञ-कार्य में लगूंगा। मेरा यह कार्य पूरे छह दिन चलेगा। इन छहों दिनों में तुम्हें तनिक भी प्रमाद न करते हुए मेरे यज्ञ की रक्षा करनी है। पहले पांच दिन तो कोई कठिनाई खड़ी होगी नहीं। वे लोग छठे दिन आयंगे। उस समय तुम उनका संहार करना और मैं यज्ञ समाप्त करूंगा। राम ! ध्यान रखो कि वे बहुत कपटी होते हैं। वे तरह-तरह के रूप धारण कर सकते हैं; मीठी-मीठी बातें कह-कर भोले लोगों को धोखा देते हैं; साधुता का दिखावा करते हैं और पवित्रता धारण करके लोगों को अपवित्रता की ओर धकेलते हैं। आज तुम

दोनों बालक हो, इसलिए इन राक्षसों के बाहरी रूप से धोखे में मत आना।"

राम बोले, "भगवन् ! आपने मुझे जृम्भकास्त्र दिये हैं, साथ ही बला और अबला नाम की दो विद्याएं दी हैं, अतएव मेरे सामने चिंता का कोई प्रश्न ही नहीं है।"

विश्वामित्र ने कहा, "कुमार ! इन विद्याओं को सिखाते समय और अस्त्र देते समय मैंने जो एक बात तुमसे कही नहीं थी, उसे आज कहे देता हूं। ये जृम्भकास्त्र संसार के दैवी अस्त्र हैं। जब-जब संसार में राक्षसों का त्रास असह्य हो उठता है और जब साधारण शस्त्रास्त्र तथा साधारण पुरुष उनका संहार करने में असमर्थ हो जाते हैं, तब उनके नाश के लिए कोई अधिकारी पुरुष जन्म लेता है और किसी ईश्वरी संकेत से ये शस्त्रास्त्र उस पुरुष के हाथ में पहुंचते हैं। राम ! हम ऋषि-मुनियों को यह प्रतीत हुआ है कि इन राक्षसों को मारने के लिए तुम ऐसे अधिकारी पुरुष हो, इसलिए ये शस्त्रास्त्र मैंने तुम्हें सौंपे हैं। दिव्यलोक के लोकपालों ने इन्हें मुझे सौंपा था। आज इन्हें योग्य योजक के हाथ में सौंपकर मैं कृतार्थ हुआ हूं। राम ! अब तुम आराम करो। रात काफी बीत चुकी है। पर्णशाला में तुम्हारे लिए बिछौने लग चुके हैं। इन छह दिनों में, जब भी समय मिले, मेरे इन आश्रमवासियों के साथ भी संपर्क बढ़ाना। तुम्हारे समान कुमार इस स्थान में क्वचित् ही आते हैं। गौतम ! राम-लक्ष्मण को ले जाओ।"

यों कहकर विश्वामित्र ने दोनों कुमारों को सोने के लिए विदा किया और स्वयं दूसरे दिन ली जानेवाली दीक्षा की तैयारी में लग गए।

: ५ :

राक्षस-संस्कृति अर्थात्...

रामचंद्र और लक्ष्मण हाथ में धनुष-बाण लेकर विश्वामित्र की यज्ञ-शाला के आसपास पहरा दे रहे थे। आज उनके पहरे का चौथा दिन था।

अबतक उन्होंने एक भी राक्षस देखा नहीं था। आज चौथे दिन की रात थी। आधी रात होने को थी; यज्ञशाला के अंदर विश्वामित्र अपनी उपासना में लीन थे; होमकुंड में अग्नि धीमे-धीमे जल रही थी; कुंड के आस-पास यज्ञ की सामग्री पड़ी थी; कुछ दूर पर एक दीपक अखंड जल रहा था; एक शिष्य असाधारण शक्ति के साथ एक कोने में बैठा मंत्र जप रहा था। राम और लक्ष्मण यज्ञशाला के चारों ओर चक्कर लगा रहे थे। तभी राम के कान पर ये शब्द पड़े, "दशरथ-कुमार रामचंद्र !" यह समझकर कि कहीं विश्वामित्र उन्हें बुला न रहे हों, राम ने यज्ञशाला के अंदर झांककर देखा, किंतु ऋषि तो ध्यान में लीन थे, इसलिए राम वहां से लौट पड़े।

फिर आवाज आई, "कुमार राम !"

राम ने चारों तरफ निगाह दौड़ातेहुए पूछा, "कौनपुकार रहा है ?" पर कोई दिखाई नहीं पड़ा।

इतने में बिलकुल पास के एक पेड़ से आवाज आई, "कुमार ! यह तो मैं सुबाहु हूं।"

राम ने कहा, "लक्ष्मण ! सावधान। सुबाहु आया है। खड़ा रह, दुष्ट !" और उन्होंने धनुष पर बाण चढ़ा लिया। तभी पेड़ की ओट से खिलखिलाकर हँसता हुआ सुबाहु बोला, "कुमार ! अभी धनुष चढ़ाने में देर है। आज सुबाहु शत्रु बनकर नहीं आया है। वह तो आपका मित्र बनने आया है।"

राम ने पूछा, "क्या राक्षस किसी का मित्र बन सकता है ?"

सुबाहु बोला, "राक्षस भी मनुष्य हैं; उनके भी दिल है; उनकी भी अपनी भावना होती है। कुमार ! धनुष नीचे रखिए और मेरी बात शांतिपूर्वक सुनिए।"

लक्ष्मण ने कहा, "बड़े भैया! इन राक्षसों का विश्वास मत कीजिए। ये हमें धोखा देकर वार करेंगे।"

सुबाहु बोला, "वाह, कोशल कुमार ! तुम भी अजब हो। अभी हमें पूरी तरह पहचाना भी नहीं और हम पर अविश्वास करने लगे ? कुमार ! मैं सुबाहु आपको वचन देता हूं कि इस समय मैं आपको सताने नहीं आया।"

राम ने कहा, "लक्ष्मण ! यह कह रहा है, तो आओ, हम इसके साथ बात कर लें।"

लक्ष्मण बोला, "बड़े भैया ! आप चाहे बात कीजिए, लेकिन मैं तो आपकी बगल में तैयार ही खड़ा रहूंगा। मैं इन लोगों का विश्वास नहीं करूंगा।"

राम ने कहा, "अच्छा, यही करो। बोल सुबाहु ! तुझे क्या कहना है ?"

पेड़ की एक डाल पर बैठा-बैठा सुबाहु बोला, "रामचंद्र ! चार दिन पहले बरगद के नीचे बैठकर आप सब लोग जो बातें कर रहे थे, उन्हें मैं सुन चुका हूं। उन बातों को सुनने के बाद मैंने सोचा कि क्यों न मैं ही कुमार से बात करके देखूं ? कौशल्या पुत्र ! मैं जानता हूं कि आप विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करने आए हैं। लेकिन आपको कैसे पता चले कि इस यज्ञ की आड़ में कितना बड़ा कपट छिपा है ? राम ! इन ऋषि-मुनियों ने गरीब और भोले लोगों को ठगने के लिए दुनिया में धर्म का ढोंग खड़ा किया है और उस धर्म के नशे से लोगों को पागल बनाकर ये लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करते रहते हैं। हम राक्षस भी मनुष्य हैं; हमारे अंदर भी मन, बुद्धि, हृदय और भावना है; हमारा अपना भी एक समाज है; हमारी भी एक निश्चित जीवन-दृष्टि है। वेद में हमें श्रद्धा है; हम भी तप तपते हैं और ब्रह्मा को प्रसन्न करते हैं। किंतु इन ऋषि-मुनियों ने ईश्वर, आत्मा, परमतत्त्व, धर्म आदि का जो आडंबर खड़ा किया है, उससे तो भगवान् ही बचाए ! इतने वर्षों के बाद भी ये लोग स्वयं ईश्वर को देख नहीं पाए, फिर भी उस ईश्वर के नाम पर ये लोग गरीब और भोली जनता को भुलावे में डालते हैं और उस पर अपना दृढ़ अधिकार बनाए रखते हैं। यज्ञ तो हम भी करते हैं; पर हमारे यज्ञ तो सीधे-सादे होते हैं। हमें वरदान मांगना होता है, तो खुल्लमखुल्ला मांग लेते हैं और मौज करते हैं। वरदान इन ऋषि-मुनियों को भी चाहिए; पर वरदान मांगते-मांगते ये अपनी बात को इतना घुमाते-फिराते हैं कि ब्रह्मा भी ऊब जाते हैं। और, अंत में ये भक्ति का और नम्रता का पूरा ढोंग करके वरदान मांगते हैं। हमें जीवन का यह छल रुचता नहीं। कुमार ! मेरी बात समझ रहे हैं न ?"

राम बोले, "सुन रहा हूं।"

सुबाहु ने कहा, "बिना किसी पूर्वग्रह के सुनिए। आप आर्य होते हुए भी स्वतंत्र विचार कर सकते हैं, इसीलिए मैं आपके पास आया हूं। आपने ताड़का का वध किया, उससे पहले मैं आपसे मिला होता, तो शायद आप वहीं से अयोध्या लौट गए होते। लेकिन वह तो जो होना था, सो हो चुका। राम ! सुनिए। आप स्वयं अपनी स्त्रियों को पूजने का दावा करते हैं और राक्षस-समाज की निंदा करते हैं; किंतु आप यह तो देखिए कि आर्यों के समाज में स्त्रियों का स्थान कितना नीचा है। जिस तरह आर्य धर्म का यह ढोंग खड़ा किये हुए हैं उसी तरह उनका दूसरा बड़ा ढोंग स्त्रियों की पवित्रता का, उनके शील का है। आप लोगों ने आज भी अपनी स्त्रियों को गुलाम बनाकर रखा है, और इस गुलामी को ही आप पवित्रता और शील के नाम पर छिपाते रहते हैं। आपके पुरुष चाहे जितनी स्त्रियों से विवाह करें, चाहे जहां भटकें, जैसा चाहें, वैसा विलाप करें, किंतु उनसे कोई कुछ कहता नहीं। दूसरी तरफ, आपकी स्त्रियों से कोई छोटी-सी भी भूल हो जाती है तो उन्हें कितना त्रास सहन करना पड़ता है। कुमार ! ये आपके ऋषि विश्वामित्र हैं ! इनसे पूछिए कि इन्होंने मेनका के साथ कितने वर्षों तक विहार किया ? उन दिनों इनके ये यज्ञ, ये तप, यह संयम, यह पवित्रता, सारी चीजें कहां चली गई थीं ? किंतु किसी ने इनका नाम लिया ? ऐसा यह पाखंडी भी आपके समाज में राजर्षि बनकर घूमता है और मान-सम्मान पाता है ! लेकिन आपके समाज की किसी स्त्री ने ऐसा कुछ किया तो ? कुमार ! दूर जाने की आवश्यकता नहीं है, कुछ ही दूर मिथिला के पास वह अहल्या पड़ी है। बेचारी एक ऋषि के पल्ले पड़ी, तो उसके माथे संयम, ब्रह्मचर्य, तप आदि चीजें चिपक गईं। मनुष्य-मात्र मिट्टी का पुतला है। अहिल्या भी उसी मिट्टी की बनी थी। बेचारी एक दिन काम के वेग में फँस गई, तो खत्म हो गई। गौतम ने उसे शाप दे दिया। वह स्वयं भी उसी हवा में पली-पुसी थी, इसलिए पश्चात्ताप से पीड़ित होकर आज अपनी सुध-बुध खो कर पड़ी है। चेतनाशून्य बेचारी अहल्या आज पत्थर की तरह जड़ बन गई। कुमार ! यदि वह राक्षसी होती, तो अहल्या को दोष देने के बदले हमने गौतम को दोष दिया होता और यह समझकर उसे

दंडित किया होता कि गौतम को ऐसा कोई अधिकार न था कि वह अहल्या के स्वाभाविक आवेग को उसकी इच्छा के विरुद्ध इतना रोके।"

राम ने पूछा, "इसका मतलब तो यही हुआ न कि आप लोग स्त्रियों की पवित्रता का कोई आग्रह नहीं रखते ?"

सुबाहु ने समझाते हुए कहा, "राम ! ऐसा मत समझिए। हमारा आग्रह तो स्त्री और पुरुष दोनों की पवित्रता का है। इस पवित्रता की रक्षा के लिए ही हमने स्त्री-पुरुष दोनों को समाज में बराबरी का स्थान दिया है और दोनों को सहर्ष छूट दी है। आप लोग मनुष्य की स्वाभाविक काम-वासना के प्रति इतनी अधिक घृणा रखते हैं कि मनुष्य अपनी शक्ति से अधिक उस घृणा के अधीन हो जाता है और उसकी कामवृत्ति प्रकट होने के बदले अधिक-से-अधिक छिपे रास्ते खोजती रहती है। रामचंद्र ! आप समझ रहे हैं न ?"

राम बोले, "समझ रहा हूं; तुम अपनी बात आगे चलाओ।"

सुबाहु कहने लगा, "यही मेरी बात है। इसीलिए हम राक्षस इन ढोंगी ऋषियों का पाखंड समाप्त करने का प्रयत्न करते हैं और वे इन गरीब-भोले लोगों को ठग न लें, इसके लिए उन्हें इस प्रदेश से दूर खदेड़ते रहते हैं। यदि मेरी यह बात आपको सच लगती हो, तो अब आपको इन शठ लोगों की रक्षा का काम छोड़ देना चाहिए। इस विश्वामित्र की यह सफेद जटा, इसकी सफेद छाती पर लहरानेवाली यह दाढ़ी, इसकी यह लंगोटी और इसका यह दंड, इन सबके पीछे जाकर देखेंगे, तो आप इनके सारे दंभ को भलीभांति समझ जायंगे। ऐसा ही वह अगस्त्य है, जो यहां से बहुत दूर जाकर अकेला पड़ा है। ये सारे आश्रम ठगों और पाखंडियों के केन्द्र हैं। आपके समान महानुभाव कुमार को इन ढोंगी लोगों के जाल में फंसना नहीं चाहिए।"

राम ने धीर-गंभीर आवाज में कहना शुरू किया, "सुबाहु ! मैंने तुम्हारी सब बातें सुनी हैं। मैं यह समझ सकता हूं कि तुम भौतिकतावादी राक्षसों को आर्य मुनियों का यह धर्म-मार्ग ढोंग मालूम होता है। तुम्हारे शरीर की, तुम्हारे मन की और तुम्हारी बुद्धि की रचना ही कुछ इस प्रकार की है कि तुम्हें यह सब उलटा ही दीखता है। फिर तुम अपनी बात

इतनी खूबी के साथ रखते हो कि सुननेवाले को क्षण-भर के लिए तुम्हारी बात ही सच लगती है और ये सारे ऋषि-मुनि पाखंडी प्रतीत होते हैं। किंतु सुबाहु ! मैं कौशल्या की कोख में रहा हूं और वसिष्ठ की गुरु-छाया के नीचे बढ़कर सयाना बना हूं, इसलिए तुम्हारी विचारधारा के मूल में जो दोष पड़े हैं, वे मुझे स्पष्ट दिखाई देते हैं। किंतु आज दोषादोष की ऐसी चर्चा में पड़ने का कोई अर्थ नहीं है। तुम राक्षस हो, तुम मनुष्य हो, तुम्हारी अपनी एक निश्चित जीवन-दृष्टि है और उस दृष्टि के प्रति एकनिष्ठ रहकर तुम जीना चाहते हो। आर्य भी मनुष्य हैं, उनकी भी अपनी एक जीवन-दृष्टि है, उसके प्रति एकनिष्ठ रहकर वे भी जीना चाहते हैं। अंधकार और प्रकाश एक स्थान पर कैसे रह सकते हैं ? या तो आर्य जीयंगे या तुम जीओगे। मैं आर्य हूं। विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा के लिए आया हूं, इसलिए किसी भी कीमत पर मैं यज्ञ की रक्षा तो करूंगा ही। सुबाहु ! तुम अब भी चेतो और दूर ही रहो, तो यज्ञ पूरा हो जाय और मुझे तुम पर प्रहार न करना पड़े।"

सुबाहु बोला, "कुमार ! यह कैसे संभव है ? इसका अर्थ तो यह हुआ कि जिसे हम निश्चित रूप से पाखंड मानते हैं, उसे अपनी आंखों के सामने चलने दें ? राम ! यज्ञ के इस एक ढोंग के सहारे तुम लोगों के सारे ढोंगों को हम चलने दें और चुपचाप सबकुछ सहन करते रहें, यह तो हम राक्षसों के लिए जीतेजी मरने की बात हुई ! क्या इससे अच्छा यह नहीं कि हम राक्षस अपने आदर्श पर डटे रहें, इन मुनियों का अपनी शक्ति-भर विरोध करें और ऐसा करते हुए हमें खप जाना पड़े, तो खप जायं ? कुमार ! भगवान शंकर ने हमारे आदर्श का स्वागत किया, ब्रह्मा ने भी हमारे आदर्श को सराहा और हमारे राजा को अमर बनाया। देव, दानव, गंधर्व और यक्ष हमारे आदर्श के सामने टिक नहीं पाए, इसलिए वे हमारे अधीन हो गए और उन्होंने हमारी दृष्टि को अपना लिया। अरे, खुद तुम्हारे आर्यों को भी हमारे आदर्श प्रिय लगते हैं, पर अभी उन्हें खुलेआम अपनाने की हिम्मत उनमें नहीं है। इस प्रदेश में न जाने कितने ऋषि-मुनि अपनी झोपड़ियां डालकर बैठ गए थे, पर वे सब अपनी-अपनी झोपड़ियों में आग लगाकर भाग खड़े हुए हैं और समाज में जहां-तहां समा

जाने की कोशिश में लगे हैं। इस विश्वामित्र के समान कुछ इने-गिने महा-ढोंगी बच गए हैं। ये खत्म हो जायं, तो बात ही निपट जाय ! कुमार ! आर्यावर्त में अयोध्या और मिथिला के दो प्रदेश ही आजतक अडिग रहे हैं। अयोध्या के मूल में वसिष्ठ का सामर्थ्य है और मिथिला के मूल में जनक का सामर्थ्य पड़ा है। इन लोगों की महान धूर्तता का सामना करने की बाट ही रावण जोह रहा है। राम ! खूब समझ लो कि अगर आज तुम सुबाहु पर चोट करोगे, तो कल तुम्हारी अयोध्या पर चोट पड़ेगी। यह न समझो कि सुबाहु अकेला है और निराधार है। समझ लो कि सुबाहु के पीछे तो समूचे राक्षस-समाज का बल है। अब भी सोचो और मुझे न छेड़ो। किंतु कुमार ! यदि अयोध्या पर जल्दी-से-जल्दी प्रहार न्योतना ही हो, तो तुम खुशी से विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करो। सुबाहु भी लड़ना जानता है। रामचंद्र ! आज तो जाता हूं। इतने समय की हमारी यह जो मित्रता हुई उसे ध्यान में रखकर मैं तुम्हें मित्रभाव से सूचित करता हूं कि परसों शाम मैं मारीच को लेकर फिर आऊंगा। मारीच को पहचानते हो न ? ताड़का का लड़का है। बहुत पहले से दांत कचकचा रहा है। आज तो मैंने उसे रोका है; किंतु अयोध्या कुमार ! परसों या तो सुबाहु नहीं रहेगा या राम नहीं रहेगा।"

लक्ष्मण ने जवाब दिया, "ऐसा ही हो।"

सुबाहु वहां से चला गया। राम-लक्ष्मण फिर पहरा देने लगे।

राम ने कहा, "लक्ष्मण ! सुना न ? राक्षस इतने दुष्ट हैं, फिर भी उनके हृदय में ईश्वरीय अंश किस प्रकार छिपा पड़ा है ! दुष्ट-से-दुष्ट मनुष्य भी आखिर तो प्रभु का ही पुत्र है न !"

इस प्रकार बातचीत करते हुए दोनों राजकुमार यज्ञशाला की प्रदक्षिणा पर निकल पड़े।

: ६ :

पतित-पावन रामचंद्र

आश्रम के दरवाजे पर खड़ी भीलबाला बोली, "ऋषिबावा ! आप रास्ता भूल गए लगते हैं। रास्ता तो वही सीधा जाता है, जिससे आप आए।"

विश्वामित्र ने पूछा, "बेटी ! तू कौन है ?"

"मैं गौतम दादा की लड़की हूं।"

विश्वामित्र बोले, "यह गौतम ऋषि का ही आश्रम है न ? बेटी ! दरवाजा खोल।"

भीलबाला ने कहा, "जी, दरवाजा तो खोले देती हूं, पर यहां विश्राम लेने के लिए एक पेड़ भी तो बचा नही है।"

लक्ष्मण ने पूछा, "गौतम ऋषि हैं ?"

बाला बोली, "गौतम दादा तो कभी के हिमालय चले गए हैं।"

विश्वामित्र ने कहा, "बेटी ! मुझे इसका पता है। पर अहल्या तो हैं न ?"

दरवाजा खोलती हुई भीलकन्या बोली, "अहल्या मां ? वे तो वहां हैं। पर उनकी क्या हालत हो गई है !"

लक्ष्मण ने पूछा, "यह आश्रम ऐसा रूखा-सूखा क्यों है ?"

बाला कहने लगी, "अरे भैया ! हमारे करम की कथा तुमसे क्या कहूं ? एक दिन मुंह अंधेरे वह कलमुंहा ऋषि का वेश धारण करके आया; अभी आया-ही-आया था कि तुरंत लौट पड़ा और सबकुछ उजाड़कर चला गया। उसका आना हुआ कि हमारे इस आश्रम की पवित्रता, शोभा, तेज, मनोहरता सबकुछ समाप्त हो गयी। उधर सामने ही हरे-भरे वृक्षों के बीच छिपी जो मिथिला दिखाई देती है, उससे भी अधिक हरे और घने घटादार वृक्ष हमारे आश्रम में थे। ये आम, ये पीपल, ये नीम, ये वरगद, ये अशोक, ये लताएं, सब-के-सब उस शनीचर के आते ही सूख गए; देखिए न, निरे ठूंठ खड़े हैं ! वह आया उसी दिन से यह बारहकोसा कुआं भी एक सूखा गड्ढा भर रह गया है, नहीं तो इस कुएं का पानी अकाल-

दुकाल में भी कभी कम नहीं हुआ था। भैया, जब मानव कुमानव बन जाता है, तब तो कुआं और तालाबों के पानी भी सूख ही जाते हैं। उस दिन से आश्रम के सारे पक्षी उड़ गए हैं। आश्रम के हरिण रोते-रोते भाग खड़े हुए हैं; आश्रम की अग्नियां सब ठंडी पड़ी हैं और समूचे आश्रम पर किसी ने कोई अंधेरी चादर ओढ़ा दी हो, इस तरह आश्रम का चैतन्य ही लुप्त हो गया है। देखिए न, ये अहल्या कैसी गुमसुम पड़ी हैं ?"

राम ने पूछा, "अहल्या देवी कहां हैं ?"

भीलबाला बोली, "वे रहीं, उस मोरसली के पेड़ के नीचे। ऐसा लगता है, मानो ये अहल्या मां हैं ही नहीं ! बस, पत्थर बनकर पड़ी हैं; न बोलती हैं, न चलती हैं, न खाती हैं, न पीती हैं, न हिलती-डुलती हैं। मानो सारे शरीर में कोई चेतन ही नहीं रह गया है ! सिर्फ दो आंखों में जान सिमटी है—चमक बची है।"

लक्ष्मण ने पूछा, "क्या ये तुझसे कभी बात करती हैं ?"

भीलकन्या ने कहा, "नहीं, कभी नहीं। इनके मुंह में जीभ ही कहां रह गई है ? मैं तो रोज दीन और अधार बनकर कोशिश करती हूं कि ये कुछ बोलें, पर पत्थर बोलता हो, तो ये बोलें न ! मैं गीत गाती हूं, रास रचती हूं, पक्षियों की बोलियां बोलती हूं, तुतला-तुतलाकर बातें करती हूं : किसी तरह ये बोलें तो ! लेकिन कौन बोले ? बस, कभी-कभीं ये तिरछी आंखों से मेरे सारे ऊधमों को देखती हैं; और इनके चेहरे पर हँसी की एकाध रेखा उमड़ आती है।"

विश्वामित्र बोले, "बेटी ! अब हमें अहल्या के पास ले चल।"

"अच्छी बात है, उधर चलना है, तो चलिए।"

भीलबाला तीनों व्यक्तियों को मोरसली के सूखे पेड़ के पास ले गई। तभी लक्ष्मण ने पूछा, "देवी कहां हैं ?"

भीलबाला बोली, "ये जो ढेर बनकर पड़ी हैं, ये ही हैं अहल्या मां। मैंने कहा नहीं था कि बिलकुल पत्थर बनकर पड़ी हैं ? अहल्या मां ! ये कोई ऋषिबाबा आए हैं और इनके साथ कोई दो युवक हैं। अब आप ही कहिए कि आप कौन हैं ?"

राम ने अहल्या के चरणों में सिर रखते हुए कहा, "अयोध्या कुमार

राम आपके चरणों में प्रणाम करता है।"

यह सुनते ही ढेर बनकर पड़ी अहल्या की काया धीरे-धीरे उठ बैठी और अहल्या ने रामचंद्र के पैर छुए।

अहल्या बोलीं, "मेरे राम, मेरे राम ! मैं पतित हूं। आज आपके स्पर्श से मैं पावन बनी।"

"देवि ! विश्वामित्र आपको नमस्कार करता है।"

अहल्या ने कहा, "राजर्षि ! प्रणाम। मेरा अहोभाग्य कि आप इन पतितपावन प्रभु को मेरे आंगन में ले आए !"

लक्ष्मण ने धीमे स्वर में राम से पूछा, "बड़े भैया ! क्या गौतम ऋषि ने इन देवी को शाप दिया होगा ?"

अहल्या स्वयं बोलीं, "कुमार मुझ से ही पूछिए न ? अपनी शरम की कथा मैं अपने ही मुंह कहूंगी, तभी मेरा प्रायश्चित्त पूरा होगा। भैया लक्ष्मण ! गौतम ने मुझे शाप नहीं दिया, किंतु अपने अंतर के ताप से मैं ही भुन गई। रामचंद्र ! एक बात कहूं ? आपसे न कहूंगी तो किससे कह पाऊंगी ? आज से चालीस वर्ष पहले की बात है। जब मेरे पिता ने मेरा हाथ गौतम के हाथ में दिया और मैंने गौतम के मुंह की तरफ देखा, तो मैं उनके तेज से चौंधिया गई, मैंने अपनी आंखें नीची कर लीं। तब से वर्षों तक मैं आश्रम में रही, पर आश्रम के प्राण को मैं अपने अंतर में पचा नहीं पाई। यह बात जितनी आज मेरी समझ में आ रही है, उतनी मैं उस समय समझ भी न पाती थी। किंतु अपने मन की गहराई में मुझे यह लगता रहता था कि इस हवा को पचाने के लिए अधिक सशक्त फेफड़ों की आवश्यकता है। रामचंद्र ! मेरा अधिकार भिन्न था, मेरा मन अपक्व था; किंतु मैं इसे कहने में लजाती थी, इसलिए अनमने भाव से मैं गौतम का ही अनुसरण किया करती थी। लेकिन ईश्वर ऐसी आत्मवंचना को क्यों चलने देता ? एक दिन मुझे पता चल गया कि मेरा अधिकार कितना घटिया है ! पतित-पावन प्रभु ! आज आपने मेरा उद्धार किया।"

राम ने कहा, "देवि ! आप पतित क्यों हैं ? हम सब मिट्टी के पुतले हैं। संसार के प्राणियां में केवल मनुष्य को ही ईश्वर ने भूल करने का अधिकार दिया है। आपने भूल की, आपका पैर फिसला, और आप अपनी

ही शक्ति से फिर उठकर बैठ गईं। अब आप शोक न करें।"

अहल्या बोलीं, "मुझ-जैसी पतिता पर ऐसा अमृत-सिंचन करने वाले रामचंद्र ? देखिए, वह गौतम भी आ पहुंचे।"

भीलबाला बोल पड़ी, "मां, मां ! दादा आ गए। दादा ! देखिए तो सही, आज हमारे यहां ये मेहमान आए हैं, इसलिए मां आज ही पहली बार उठकर बैठी हैं। मैं तो तब से यह सब देख ही रही हूं।"

गौतम ने कन्या का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा, "इन मेहमानों को तू पहचानती है ?"

बाला ने कहा, "मैं इन्हें कैसे पहचानूं ? मैं तो बड़ी देर से इन्हें देख रही हूं। इन तीनों लोगों ने अपने दरवाजे में पैर रखा, तभी से एक छोटी-सी बदली इस श्यामवर्णवाले पुरुष के सिर पर छाया करती रही है; इन लोगों के आते ही इन सब सूखे पेड़ों में कोयलें कूकने लगी हैं और यह बारह कोसा कुआं तो पहले की तरह फिर छलाछल भर गया है। देखिये न, ये सारे पक्षी फिर इन पेड़ों पर चहचहाने लगे हैं। इस पर तुर्रा यह कि मेरी मां उठकर बैठ गईं ! कमाल ही हो गया ! कौन हैं ये लोग ?"

गौतम कहने लगे, "ये ऋषि तो विश्वामित्र ऋषि हैं, और ये दोनों युवक हैं राजा दशरथ के राजकुमार। ये जो श्याम वर्णवाले पुरुष दीखते हैं, भगवान के साक्षात् अवतार हैं।"

बाला बोली, "ऐसा दो हाथ और दो पैरवाला भगवान ? दादा ! मेरी हँसी मत उड़ाओ। किंतु इन्होंने मेरी मां को फिर उठने-बैठने योग्य बना दिया, इस कारण मेरे लिए तो ये एक नहीं, बल्कि ड्योढ़े भगवान हैं !"

गौतम ने कहा, "अब तू समझ गई। कुमार रामचंद्र ! यह गौतम आपके चरणों में प्रणाम करता है।"

राम बोले. "प्रणाम तो ऋषि के चरण-कमल में राम को करना है। आप कुशल तो हैं ?"

गौतम ने कहा, "इससे अधिक कुशल और क्या हो सकता है ? देवि ! हमारा अहोभाग्य है कि अपने इस आश्रम में इस पुरुष के पैर पड़े। हमारी विपत्ति भी आखिर आशीर्वाद में बदल गई।"

राम बोले, ''ऋषि ! अहल्या देवी को स्वीकार कीजिए।''

अहल्या ने कहा, ''किंतु इन्होंने मुझे अस्वीकार ही कब किया था ?''

राम कहने लगे, ''गौतम ! अहल्या का त्याग करने के बदले उनके स्खलन का प्रायश्चित्त करने के लिए आप स्वयं हिमालय चले गए, यह सुनकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूं।''

गौतम बोले, ''कुमार ! अहल्या के स्खलन के मूल में दोष मेरा था। मैं आश्रम में रहकर अपने ही आदर्शों का विकास करता गया, किंतु जिसने मेरा हाथ पकड़ा है और जो एक ही जुए में जुड़कर आश्रम में मेरे साथ काम करती है उसके आदर्श की ओर मैंने ध्यान नहीं दिया—उसे ऊपर उठाने और आगे बढ़ाने के मामले में मैं एकदम बेखबर रहा। गृहस्थ के नाते मेरा धर्म था कि मैं अपनी सहधर्मचारिणी को निरंतर अपने साथ ही रखूं; उसकी गति मंद हो, उसका बल कम हो, तो उस गति को बढ़ाने, बल में वृद्धि करने के जितने प्रयत्न किये जा सकें, उतने किये जायं, किंतु जबतक गति न बढ़े, तबतक उसे भी अपने साथ घसीटा न जाय; उल्टे, उचित प्रतीत होने पर मुझे अपनी निज की गति धीमी कर लेनी चाहिए, पर उसे तो अपने साथ ही रखना चाहिए। मैं गृहस्थाश्रम के इस धर्म का पालन करने में चूका, इसलिए प्रायश्चित करने की दृष्टि से मुझे हिमालय जाना पड़ा। हिमालय में मुझे समाचार मिला कि आप इस तरफ निकले हैं, इसलिए मैं भी वहां से निकल पड़ा। आज आपने हमारे आश्रम को और हमारे जीवन को पवित्र किया है !''

राम ने कहा, ''ऋषि ! आपका आश्रम और आपके जीवन तो आपके कारण ही पवित्र हैं। आज मैंने आपसे यह सीखा कि आर्यों को अपने स्खलनों का भी कितनी उदारता के साथ स्वागत करना चाहिए और उन स्खलनों में से भी पवित्रता को किस प्रकार प्रकट करना चाहिए। अहल्या देवि ! गौतम ऋषि ! आप दोनों ने तो आर्यों के आदर्श का उद्धार किया।''

''जो पतितों के प्रति ऐसी समबुद्धि रखता है और पतित का स्पर्श करके उसके दिल में चुभे शूल को खींच लेता है, वही पतित-पावन है ! प्रभो ! अब आप हमारे आश्रम में पधारिए और हमारा आतिथ्य स्वीकार कीजिए।''

यों कहकर गौतम सबको पर्णशाला में ले गए।

वह भीलबाला तो अहल्या की बगल में ही छिपकर बैठी रही।

: ७ :

पावित्र्य की मूर्ति सीता

लक्ष्मण ने अत्यंत विवेक-पूर्वक पूछा, "बड़े भैया ! आज जब समूची मिथिला आनंद में सराबोर हो रही है, तब आप अकेले इस उपवन में यों शांत और उदासीन बनकर क्यों घूम रहे हैं ?"

राम ने अपनी आंखें लक्ष्मण की ओर घुमाईं और बोले, "लक्ष्मण ! मैं न तो शांत हूं और न उदासीन ही हूं।"

लक्ष्मण कहने लगे, "बड़े भैया ! उधर देखिए, मिथिला और अयोध्या के संगम के कारण कैसी गर्जना सुनाई पड़ रही है ? ये मिथिला-वासी हमारी बारात के लोगों पर कितने उल्लास के साथ रंग-राग की वर्षा कर रहे हैं और कितनी अधिक उमंग से उनके स्वागत-सत्कार में लगे हैं ! मिथिला की ये ललनाएं कितने अधिक माधुर्य से हवा को तरंगित कर रही हैं ! मिथिला के बालक कैसी निर्दोष खिलखिलाहट से हमारे हृदयों को ठंडक पहुंचा रहे हैं ! मिथिला के राजपुरुष कैसी शांति से और कितनी दक्षता के साथ हमारे मंत्रियों को नगर-दर्शन करवा रहे हैं ? बड़े भैया ! सीता देवी कैसे कौतूहल के साथ और कितने निष्कपट स्नेह से इस सारे समुदाय में आपको खोज रही हैं ? बड़े भैया ! ऐसे अवसर पर भी आप इस तरह अकेले घूमेंगे, तो मुझ-जैसों को सहज ही लगेगा कि इस विवाह से आपको संतोष नहीं है।"

लक्ष्मण के कंधे पर हाथ रखते हुए राम ने कहा, "भैया लक्ष्मण, बात ऐसी नहीं है। जब महाराज जनक ने कुंकुम की-सी लालीवाला सीतादेवी का हाथ मेरे हाथ में रखा, तब मुझे ऐसी गहरी तृप्ति हुई, मानो मुझे वह

वस्तु मिल गई हो, जिसे मैं अनंतकाल से खोजता रहा हूं। उस हाथ के स्पर्श से ही मैंने अपने जीवन में नये प्राणों के संचार का अनुभव किया।"

लक्ष्मण ने सहज कड़ी आवाज में पूछा, "तो फिर आनंद और उल्लास की इस घड़ी में आप यहां अकेले क्यों घूम रहे हैं ?"

राम बोले, "लक्ष्मण ! सच बात कह दूं ? जब मैंने सीता देवी का हाथ अपने हाथ में लिया, उस समय जिस तरह मैंने एक प्रकार की आंतरिक तृप्ति का अनुभव किया, उसी तरह मैंने अपने हृदय पर एक प्रकार के भार का भी अनुभव किया।"

लक्ष्मण ने चौंककर पूछा, "भार ? सीता देवी के समूचे शरीर में भार है ही कहां ? कभी हवा चाहे तो उनकी देह-लता को अपनी एक ही फूंक में उड़ा दे। उनकी देह में पृथ्वी के तत्त्व हैं ही कहां ?"

राम ने कहा, "इसीलिए सीता देवी की पवित्रता से मेरा हृदय भारी हो उठा है। मैं सोचता हूं कि क्या हमारी अयोध्या सीता की इतनी अधिक कोमलता, इतनी अधिक मृदुता और इतनी अधिक पवित्रता को पचा पायगी ?"

लक्ष्मण ने जवाब दिया, "यदि मिथिला पचा सकती है, तो अयोध्या क्यों नहीं पचा सकेगी ?"

राम बोले, "मिथिला तो सीता की जन्मभूमि है, उद्गम भूमि है; कुमारी सीता ने मिथिला का ही दूध पिया है। किंतु जब वह अयोध्या में प्रवेश करेगी, तो कुलवधू बनकर करेगी। कन्यावस्था की निर्दोषता और स्वतंत्रता देवी की नस-नस में समा चुकी है, इसी कारण उसकी पवित्रता ने मुझे चिंतित कर दिया है। लक्ष्मण ! तू नहीं जानता। शंकर का वह धनुष कितना वजनदार था ? उसे एक जगह से दूसरी जगह ले जाने के लिए बड़ी गाड़ी में रखकर हटाना होता था। ऐसे बड़े और भारी धनुष का भी मुझे जितना बोझ नहीं लगा था, उतना बोझ इस सीता के नन्हे-से हाथ का लगा है !"

लक्ष्मण कहने लगे, "बड़े भैया ! जब मैं आपकी ऐसी बातें सुनता हूं, तो क्षण-भर के लिए मन में यह विचार कौंध जाता है कि मुझमें आपका सेवक बनने की योग्यता नहीं है। आपकी ऐसी अगम-निगम की बातें, मैं पूरी

तरह समझ नहीं पाता; किंतु ऐसा लगता है, मानो आप किसी पर्वत के शिखर पर से अमृत उंडेल रहे हैं और मैं उसे पीता ही चला जाता हूं। बड़े भैया ! आज तो मैं आपसे विनती करता हूं कि आप इन सब विचारों को एक ओर छोड़ दीजिए और इस उत्सव में सम्मिलित होकर आपके अभाव में रूखे लगनेवाले इस उत्सव को प्राणवान बना दीजिए। देखिए, मां कौशल्या भी इधर ही आ रही हैं।"

मंगल पोशाक में सजी कौशल्या देवी बोलीं, "बेटा राम ! जब सारा नगर तुझे देखने के लिए उलट पड़ा है, तब तू यहां क्यों चला आया है ? जरा देख तो, आज महाराज कैसे पागल बने घूम रहे हैं ? जब सीता उनके पैर छूने लगी, तो महाराज ने उसे अपनी गोद में बैठा लिया और कहा, "तू मेरी पुत्रवधू नहीं, तू तो मेरी बेटी है।"

लक्ष्मण बोला, "कौशल्या माता ! मिथिला के ये लोग जो एक बात आपस में कहते हैं, सो मैं आपको सुनाऊं ? ये लोग कहते हैं कि एक बार सारे देश के ऋषि-मुनि राक्षसों के त्रास से त्राहि-त्राहि पुकार उठे। उन ऋषियों ने अपने दिलों की आह एक घड़े में इकट्ठा की और उस घड़े को जनक की भूमि में गाड़ दिया। महाराज जनक सोने के हल से अपनी धरती जोत रहे थे तभी हल की नोक उस घड़े के साथ टकराई और जनक ने देखा कि घड़ा है ! जब जनक ने घड़े का मुंह खोला, तो उसके अंदर से सीता देवी निकलीं। जनक महाराज तो त्रिकालदर्शी ठहरे, इसलिए उन्होंने सीता को अपनी बेटी की तरह अपना लिया।"

कौशल्या ने कहा, "बेटा लक्ष्मण ! वह ऋषियों के दिलों की आह भी हो सकती है और हम स्त्रियों के दिलों की आह भी क्यों न हो ? अच्छे-खासे राजा-महाराजा जिस धनुष को उठाने की कोशिश में गिर पड़े, उस धनुष का घोड़ा बनाकर उससे खेलने वाली कोई ऐसी-वैसी हो सकती है ?"

लक्ष्मण बोला, "महाराज दशरथ ने जब यह सब सुना होगा, तब उनके मन में न जाने क्या हुआ होगा ?"

कौशल्या ने कहा, "अरे, उनकी तो बात ही मत कर ! उन्होंने तो जब से इस मिथिला में पैर रखा है, वे विश्वामित्र की प्रशंसा करते हुए

थकते ही नहीं हैं। और, बात भी सच है। तुम दोनों को ऋषि विश्वामित्र के साथ भेज देने के बाद महाराज कई दिनों तक उदास बने रहे। आज जब विश्वामित्र ने अकेले राम का ही नहीं, बल्कि तुम चारों का विवाह करवा दिया, तो महाराज इसे अपना सौभाग्य क्यों न मानें ?"

लक्ष्मण बोला, "माताजी ! विश्वामित्र ने तो बड़े भैया को विद्या की गुह्य दीक्षा दी है। संसार के विश्वकर्मा ने विशिष्ट अधिकारी पुरुष के उपयोग के लिए जो शस्त्रास्त्र बनाए थे, उन्होंने वे सब बड़े भैया को सौंप दिए हैं, और पतित मानी जानेवाली ऋषि-पत्नियों को पत्थर की तरह लात मारने के बदले उनके चोट खाए हुए दिलों पर अमृत सींचना ही पवित्रता की दिशा में बढ़ने का सच्चा मार्ग है, इसका दर्शन उन्होंने सारे आश्रमवासियों को कराया है।"

कौशल्या कहने लगीं, "यों तो बहुत-कुछ किया—ताड़का को मारा, सुबाहु को समाप्त किया, आदि-आदि। ये सारी बातें तो मुझे तुझसे फुरसत के समय में शांति-पूर्वक सुननी हैं। किंतु रामचंद्र ! इस समय तो मैं तुझे बुलाने ही आई हूं। वसिष्ठ, शतानंद, जनक, महाराज आदि सब तेरी बाट जोह रहे हैं। हमने तो माना था कि तू कहीं सीता के महल में घुसकर बैठा होगा; लेकिन इतने में सीता वहां आ गई, तो हमारा भ्रम दूर हुआ। बेटा ! अब चलो।"

लक्ष्मण बोला, "मां कौशल्या ! बड़े भैया तो आज देवी की पवित्रता के भार से दबे जा रहे हैं !"

कौशल्या ने कहा, "क्या पवित्रता हमने देखी नहीं है ? हम भी एक दिन इतनी ही बड़ी थीऔर हमारे माता-पिता ने हमें अयोध्या के लिए विदा किया था। हम कुछ कम कोमल रही होंगी, कुछ कम पवित्र रही होंगी, कुछ कम निर्दोष रही होंगी; किंतु हमारे पिता के मन में हमारी भी कीमत तो इतनी ही थी। व्यवहार की दुनिया में जो जितना जंचता है, सो जंचता ही है। राम का ब्याह आज पहली बार हो रहा; किंतु इस रघुकुल में तो न जाने कितने राजकुमार हो चुके हैं। जरा उनके जीवन भी तो देखो। लक्ष्मण ! तुम लोग अभी व्यवहार में पड़े नहीं हो, ऊंच-नीच को जानते-बूझते नहीं हो, इसलिए इन जरा-जरा-सी बातों को बहुत तूल देते रहते हो।

फिर अपने-आप हैरान होते हो और हम जैसों को भी हैरान करते हो। राम ! चलो। जबतक मैं तुम्हारी मां कौशल्या बैठी हूं, तबतक तुम्हें ये सारी चिंताएं क्यों करनी चाहिए ?"

राम बोले, "सीता का हाथ जनक ने मुझे सौंपा है, इसलिए चिंता तो मुझी को करनी होगी।"

कौशल्या ने कहा, "पर हम सब बैठे हैं न ! क्या तू अकेला एक राम ही है ? क्या तू दशरथ और कौशल्या का बेटा नहीं ? क्या तू लक्ष्मण का भाई नहीं ? क्या तू अयोध्या का राजकुमार नहीं ? क्या तू कोशल के सिंहासन का उत्तराधिकारी नहीं ? निश्चय ही तू राम है, पर इन अनेक संबंधों से गुंथा हुआ राम है। जनक ने सीता राम को सौंपी है, सो ऐसे अनेक मानवीय संबंधों से गुंथे और बंधे राम को सौंपा है। सीता की पवित्रता तेरे सब संबंधों को पवित्र बनायगी। क्या तू जानता नहीं कि इस पवित्रता की सुगंध ही मधुर होती है। लेकिन अब और कितनी देर करेगा ?"

राम ने मां के पीछे चलते-चलते कहा, "माता कौशल्या! फूल तो दूर से सूंघनेवाले को भी सुगंध ही देता है और पैरों तले कुचलनेवाले को भी सुगंध ही देता है।"

कौशल्या बोलीं, "बेटा, राम ! ये सारी सयानेपन की बातें तू अयोध्या पहुंचने पर करना। आज तो इस अवसर का लाभ उठा ले। देख, सब तेरी राह देखते बैठे हैं।"

यों कहकर कौशल्या राम और लक्ष्मण के साथ वहां पहुंचीं, जहां वसिष्ठ, विश्वामित्र, जनक, दशरथ आदि बैठे थे और बोलीं, "लो, यह राम आ गया। जनक महाराज ! आप राजर्षि हैं। ये ऋषि-मुनि कहते हैं कि आप इतने बड़े राज्य का काम चलाते हैं, फिर भी वीतराग हैं। इसलिए आप इन आठों बच्चों को आशीर्वाद दीजिए, जिससे ये सब सुखी हों और इनकी बेल बढ़े।"

जनक ने हँसते हुए कहा, "आशीर्वाद क्या दिया जाय और कैसा दिया जाय, इसे भी आप तय करेंगी ?"

कौशल्या बोलीं, "अवश्य ! मैं निरी समधिन नहीं हूं, बल्कि आपकी

तो मित्र-पत्नी हूं। मेरे और दशरथ के बीच बोलचाल बंद होने पर आप मध्यस्थ बनकर हमें किस तरह फुसला लेते हैं ! उस संबंध के अधिकार से ही मैं आज यह आशीर्वाद मांग रही हूं।"

जनक ने कहा, "आओ बच्चो ! सब आ जाओ। रामचंद्र, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न ! आओ। बेटी सीता, बेटी उर्मिला, बेटी मांडवी, बेटी श्रुत-कीर्ति ! बैठो। तुम चारों को वसिष्ठ के कुल-गुरुत्व वाले रघुकुल में ब्याह कर मैं आज निश्चिंत हुआ हूं। आज का समय बहुत विषम है। आज पीड़ित संसार परमात्मा की ओर एकटक आंखें लगाए बैठा है; पीड़ित आर्यावर्त की आंखें आज अयोध्या और मिथिला पर टिकी हुई हैं। मैं आशीर्वाद देता हूं कि तुम्हारे विवाह संसार की और आर्यावर्त की आशाओं को पूरा करें। कोशल के राजकुमारो ! जनक की मिथिला में जो भी सत्त्व है, उसे मैं आज तुम्हें सौंप रहा हूं। मेरी ये पुत्रियां अयोध्या के राजवैभव की भूखी नहीं हैं; मेरी ये पुत्रियां भूखी हैं तुम्हारे दृश्य के भावों की। भाग्यवश ये अयोध्या में होंगी और तुम पृथ्वी के दूसरे छोर पर भटकते होगे, तो भी जबतक तुम्हारे दिलों के तार अखंडित रहेंगे, तबतक समझो कि ये सुरक्षित ही हैं। ये तार..."

कहते-कहते जनक की आंखें डबडबा आईं। उन्होंने बारी-बारी से आठों के सिर अपनी गोद में लिये, आठों के सिर सूंघे और उन्हें बिदा किया। जनक की आंख से एक छोटी-सी बूंद सीता के सिर पर पड़ी और वहीं सूख कर रह गई।

: ८ :

नया अवतार

राजकुमारों की बारात मिथिला की सीमा पर आ पहुंची। चारों लाड़ले रघुकुमार नवोढ़ा कन्याओं के साथ अपने जीवन की गांठ बांधकर इस मंडल

के पीछे-पीछे चल रहे थे। अयोध्या और मिथिला का महिला-मंडल वस्त्रा-भूषण की रंग-बिरंगी सृष्टि खड़ी करता हुआ बारात के आगे-आगे चल रहा था। इन महिलाओं के मंगल गीतों में आदर की, स्नेह की और बिदाई के दुःख की छाया पड़ रही थी। वर-वधुओं के पीछे वसिष्ठ, विश्वामित्र, दशरथ, जनक, कुशध्वज और दोनों पक्षों के पुरुष चल रहे थे।

रथों, हाथियों, घोड़ों, वाद्यों, मागधों, सूतों आदि की तो कोई गिनती ही न थी।

बारात सीमा पर आकर खड़ी रह गई। महाराज दशरथ और कौशल्या ने हाथ जोड़कर जनक से कहा, "महाराज ! अब आप यहीं रुकिए। हम किन शब्दों में आपका उपकार मानें ? परमात्मा ने ढलती उमर में मेरे घर में पुत्र पैदा किया, पर आपने तो मेरे अंधेरे घर को उजाले से ही भर दिया। महाराज विश्वामित्र ! मैं आपके चरणों में अपना मस्तक रखता हूं। आपके समान साधुओं के क्रोध में भी कितनी मिठास होती है ? जनकराज ! अब हमें बिदा कीजिए। अपने इन बच्चों को आशीर्वाद दीजिए कि ये सुखी हों। राम ! तुम सब यहां आओ।"

जनक का दिल भर आया। वे बोले, "अयोध्यापति, देवि ! आपको विदा करते हुए मुंह खुलता नहीं है। यह सीता विश्वम्भरा की पुत्री है। मैं तो इसका ग्वाला-भर रहा हूं। इसके मुंह में जीभ नहीं है। सीता को राम के पराक्रम का अनुभव हो चुका है; अब आपके घर पहुंचकर उसे रघुकुल की कोमलता का अनुभव होगा। राम ! तुम तो समझते हो। कोमलता से शून्य कोरा पराक्रम कठोरता है और पराक्रम-शून्य कोरी कोमलता निकम्मी है—निःसार है। मेरे आशीर्वाद हैं कि तुम चारों का जीवन धर्म के कारण तेजस्वी बने। प्यारी बेटियो ! जाओ।"

बोलते-बोलते जनक की आंखें गीली हो आईं। चारों दंपती ने उन्हें प्रणाम किया। बाद में सभी वर-वधुओं ने शतानंद को, कुशध्वज को और दूसरे गुरुजनों को भी प्रणाम किया। उस समय विश्वामित्र ऋषि उत्तर दिशा की ओर मुंह करके खड़े थे। अंत में जब रामचंद्र ने उनके पास पहुंच कर अपना सिर झुकाया, तो वे बोले, "रामचंद्र ! तुम्हारा कल्याण हो। बेटा ! यहीं से जुदा होंगे। तुम जानते हो कि मुझे जो कुछ करना था, मैं

कर चुका हूं। अब तो तुम्हारे पास तुम्हारे जीवन-कार्य की दिशा स्पष्ट है। मैं तुम्हें यही आशीर्वाद देता हूं कि वीरान-से पड़े हमारे आर्यों के समाज में और उजड़े हुए इन तपोवनों में तुम नये प्राणों का संचार करो। मिथिला की बेटियो ! मिथिला के दूध में ही जो मूक बल निहित है, वह तुम्हारी रक्षा करे।"

इस प्रकार आशीर्वाद देकर, परस्पर नमस्कार करके, परस्पर क्षमा मांगकर और परस्पर आंसू बहाकर सब एक-दूसरे से अलग हुए। जनक मिथिला की तरफ चले और बारात अयोध्या की दिशा में आगे बढ़ी।

... ...

रथ में बैठे हुए महाराज दशरथ बोले, "सुमंत्र ! रथ क्यों खड़ा किया है ?"

सुमंत्र ने कहा, "महाराज ! सामने से कोई बड़े तपस्वी वेगपूर्वक चले आ रहे हैं। उनके सिर की जटा हवा में उड़ रही है और उनकी चाल की तेजी से धूल के बादल खड़े हो गये हैं।"

"जरा मुझे देखने दो। रथ खड़ा रखो। राम-लक्ष्मण ! तुम अंदर बैठे रहो। कोई खास प्रणाम करने योग्य तपस्वी होंगे, तो मैं तुम्हें बुला लूंगा।"

यों कहकर दशरथ रथ से नीचे उतरने लगे तभी उनके कान से एक प्रचंड आवाज टकराई।

"रथ खड़ा रख ! क्या यह बारात अयोध्या की है ?"

इन शब्दों को सुनते ही दशरथ के अंग-अंग शिथिल हो गए। दशरथ ने आवाज से ही परशुराम को पहचान लिया। इन परशुराम ने आज तक न जाने कितने क्षत्रियों के सिर धड़ से अलग किये थे; इन परशुराम के आने के समाचार-मात्र से न जाने कितनी क्षत्राणियों के गर्भ गिर गये थे; इन परशुराम ने आजतक इक्कीस बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय किया था; इन परशुराम ने आजतक क्षत्रियों के रक्त से पांच बड़े-बड़े कुंड लबालब भर दिए थे; इन परशुराम के परशु से बचने के लिए स्वयं दशरथ को अपना प्रभाव छिपाना पड़ा था। ऐसे ये परशुराम हाथ में कुल्हाड़ी लिये वेग से बढ़े चले आ रहे थे।

दशरथ बड़ी कठिनाई के बाद रथ से नीचे उतरे। आनेवाले तपस्वी

परशुराम हैं, यह तथ्य दशरथ को हक्का-बक्का करने के लिए काफी था। हक्के-बक्के-से दशरथ गिरते-पड़ते आगे बढ़े, उन्होंने परशुराम के चरणों में प्रणाम किये और वे हाथ जोड़कर खड़े हो गये।

परशुराम ने परशु दिखाकर और आंखें फाड़कर गर्जना की, "क्यों रे दशरथ ! क्या तू मुझे और मेरे इस परशु को भूल गया है ?"

दशरथ ने कांपते दिल और कांपती आवाज के साथ कहा, "महाराज ! मुझे माफ कीजिए।"

परशुराम बोले, "तेरे बेटे ने शंकर का धनुष तोड़ डाला है; मैंने उसकी आवाज महेंद्र पर्वत पर सुनी। क्या तुम क्षत्रियों को फिर अभिमान हो आया है ? क्या तुम जानते नहीं कि जबतक इस परशुराम के शरीर में प्राण हैं, तबतक परशुराम क्षत्रिय के एक भी अंकुर को उगने नहीं देगा ? दशरथ ! कहां है, तेरा बेटा ?"

दशरथ ने हाथ जोड़े। कहा, "भगवन् ! मैं आपका दास हूं। आप जैसों की कृपा से बुढ़ापे में मुझे पुत्र प्राप्त हुआ। उसके लिए तो मुझे आपके आशीर्वाद चाहिए। महामुनि, शांत हूजिए, शांत हूजिए !"

परशुराम कहने लगे, "शांति ? जबतक पृथ्वी के सभी क्षत्रियों का अस्तित्व न मिटा दूं, तबतक शांति कैसे हो सकती है ? मेरे परशु को शांत करना था, तो तुझे अपने बेटे से कहना चाहिए था कि वह धनुष न तोड़े। बोल, कहां है तेरा बेटा ? एक रघुकुल बच गया था, आज वह भी इस परशु का स्वाद चख ले।"

दशरथ गिड़गिड़ाते हुए बोले, "भगवन् ! मेरा यह पुत्र इस रथ में बैठा है। मैं आपके पैरों पड़कर याचना करता हूं कि इसका यह एक अपराध आप क्षमा कर दें।"

तभी दोनों के बीच की कहा-सुनी सुनकर राम-लक्ष्मण भी रथ से उतरने लगे। दशरथ का गिड़गिड़ाना सुनकर लक्ष्मण सहज ही उत्तेजित हो गए और बोले, "बड़े भैया ! पिताजी इतने घबरा क्यों रहे हैं ? ये मुनि कौन हैं ?"

राम बोले, "रंग-ढंग से तो परशुराम मालूम होते हैं। देखो न, उनके हाथ में वह बड़ा कुल्हाड़ा जो है !"

इस तरह बातचीत करते हुए राम-लक्ष्मण अधिक पास पहुंचे और इससे पहले कि परशुराम और दशरथ रथ की ओर आवें, राम ही वहां पहुंच गए।

राम ने कहा, "भगवन् ! आपके चरणों में वंदन करता हूं।"

परशुराम बोले, "बेटा ! चिरंजीव हो।"

दशरथ ने बताया, "यही मेरा राम है।"

परशुराम ने पूछा, "इस लड़के ने शंकर का धनुष तोड़ा ? क्यों रे राम ! तुझे मेरी याद ही न आई ?"

राम बोले, "आज तो आर्यावर्त का कोई क्षत्रिय आपको भूल नहीं सकता। आपका पराक्रम प्रसिद्ध है।"

परशुराम ने तमककर पूछा, "तो फिर तूने शंकर का धनुष क्यों तोड़ डाला ? क्या तू यह भूल गया कि अभी परशुराम जीता-जागता बैठा है और उसके फरसे पर अभी जंग नहीं चढ़ा है ?"

राम ने निडर भाव से उत्तर देते हुए कहा, "धनुष तो मुझे तोड़ना ही नहीं पड़ा। मैंने उसे हाथ लगाया, इतने में उसके दो टुकड़े हो गए। धनुष क्यों टूट गया, सो तो आप धनुष से ही पूछिए।"

परशुराम आंख चढ़ाकर बोले, "ऐसी बात है ! दशरथ ! तूने अपने बेटे का जवाब सुना ? मानो यह परशुराम पांच-सात साल का कोई बच्चा हो, इस तरह तू मुझे समझा रहा है। अभी तुझे दिखाए देता हूं।"

दशरथ ने गिड़गिड़ाना शुरू किया। बोले, "भगवन् ! यह तो बालक है; इसे आपके प्रभाव का पता नहीं। मैं दशरथ आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप हमें क्षमा कर दें। मैं तो आपकी गाय हूं।"

राम ने कहा, "पिताजी ! ऐसी बातें न कहिए।" और फिर परशुराम की ओर मुड़कर बोले, "भगवन् ! जिस तरह आप मेरे पिता के पूज्य हैं, उसी तरह मेरे भी पूज्य हैं। आपके कुछ पराक्रमों के लिए मेरे मन में अत्यंत आदर है। पर आज आप जिस तरह मेरे वृद्ध पिता को डरा रहे हैं, वह मुझसे सहा नहीं जाता।"

अपनी ओर से लक्ष्मण ने कहा, "कोई भी क्षत्रिय सह नहीं सकता।"

परशुराम हँसते-हँसते बोले, "तब तो लगता है कि वसुन्धरा को चीर

कर क्षत्रियों के सिर उग निकले हैं। राम ! बकवास बंद कर। मैं अपने हाथ में यह एक दूसरा धनुष लाया हूं। तू इसे चढ़ाकर दिखा। मैं देखूं तो सही कि राम में कितना बल है ? विश्वकर्मा ने संसार के विशेष अवसरों के लिए दो विशेष धनुष बनाए थे : एक शिव का धनुष और दूसरा यह वैष्णवी धनुष। अगर तू इस धनुष को चढ़ा दे, तो मैं अपनी आंखों से यह सब देख लूं। उसके बाद तो मेरे लिए अंतिम उपाय यही रहेगा कि मैं तुझसे द्वंद्व युद्ध करूं।"

लक्ष्मण ने पूछा : "शंकर के धनुष के टूटने से आपको इतना क्रोध क्यों आ रहा है ?"

परशुराम ने अपने अंतरतर की बात समझाते हुए कहा, "बेटा ! धनुष चाहे एक टूटे या हजार टूटें, कोई बड़ी बात नहीं। किंतु जिस आर्यावर्त में से क्षत्रियों का बीज मिटाने की प्रतिज्ञा मैंने की है, और जिसके लिए तपश्चर्या आदि का अपना मूल धर्म छोड़कर मुझ-जैसा ब्राह्मण केवल उग्र हिंसा में रमा हुआ है, उस आर्यावर्त में मेरी पीठ के पीछे ही ऐसे बड़े धनुष को चढ़ाने और तोड़नेवाला क्षत्रिय पैदा हो जाय, इसे परशुराम सह नहीं सकता। जनक के राज-दरबार में तो धनुष की एक लकड़ी-भर टूटी, पर परशुराम का तो जीवन ही टूट गया। समझे ?"

इस प्रकार बातचीत चल रही थी तभी बारातियों में भी आश्चर्य, कोलाहल, कुतूहल, भय, विह्वलता आदि के भाव फैल गए; उसी समय वसिष्ठ, जो सबसे पीछेवाले रथ में आ रहे थे, रथ से नीचे उतरे और परशुराम के पास आकर खड़े हो गए। बोले, "भगवन् परशुराम ! नमस्कार।"

परशुराम ने पूछा, "ओहो, भगवन् वसिष्ठ ! आप यहां कैसे ?"

वसिष्ठ ने जवाब दिया, "अयोध्या के राजकुमारों का विवाह हो, तो वसिष्ठ तो उनके साथ होगा ही न ?"

दशरथ बोले, "गुरुदेव ! मैं भगवान् परशुराम से क्षमा मांग रहा हूं।"

राम ने कहा, "भगवान परशुराम ! आप मुझे वैष्णवी धनुष दीजिए; मैं उसे चढ़ाकर देख लूं।"

परशुराम ने दांत पीसते हुए कहा, "राम ! लगता है, अभी अहंकार

तेरे मन में समा नहीं रहा है ? ले, यह है वह धनुष; चढ़ाकर देख।"

यों कहकर परशुराम ने अपने कंधे से वैष्णवी धनुष उतारा और राम को दिया। राम ने उसे तुरंत अपने हाथ में ले लिया, उसकी डोर बांधी और उस पर बाण चढ़ाने लगे। इस सारे समय में परशुराम तो उन्हें ताकते ही रह गए। उनका अनुमान था कि राम उस वैष्णवी धनुष को उठा ही नहीं सकेगा, फिर उसे चढ़ाने की तो बात ही क्या ?"

राम बोले, "भगवान परशुराम ! मैं बाण चढ़ाता हूं; आप संभल जाइए।"

वसिष्ठ ने धीर-गंभीर वाणी में कहा, "बेटा राम ! जरा रुको। परशुराम ! आप शांति रखिए। जो शंकर के धनुष को तोड़ सकता है और वैष्णवी धनुष को चढ़ा सकता है, वह कोई साधारण क्षत्रिय तो होगा नहीं, इसे तो आप भी समझ सके होंगे।"

परशुराम बोले, "वसिष्ठ ! परमात्मा का जो नया अवतार होनेवाला था, क्या वह हो चुका है ?"

वसिष्ठ ने कहा, "परशुराम ! नया प्रभात हो चुका है।"

परशुराम ने पूछा, "ये राम ही संसार के नए तारणहार हैं ?"

वसिष्ठ बोले, "परशुराम ! बात यही है। अब आपका अवतार-कृत्य पूरा हुआ। आपने मदमस्त क्षत्रियों का मद उतारा। क्षत्रिय अपने पशु-बल के कारण मदान्ध हो उठे थे और संसार से साधुता को मिटा रहे थे। आपने उनका नाश किया। इतना लोक-कल्याण आपके हाथों हुआ।"

परशुराम ने लंबी सांस लेकर कहा, "नाश तो कहां हो पाया है ?"

वसिष्ठ बोले, "क्षत्रियों का तो नाश हुआ, किंतु साथ ही आर्यों की क्षात्रवृत्ति भी नष्ट हो गई, सो गजब ही हुआ ! इसी कारण तो आज रावण और उसके राक्षस हमारे ऋषि-मुनियों के यज्ञों को नष्ट कर रहे हैं, हमारे देवों को दास बना रहे हैं, हमारी बहन-बेटियों की लाज लूट रहे हैं, हमारे धन-धान्य से भरे प्रदेशों को उजाड़ रहे हैं और हमारे सारे जीवन के मूल्यों को उलट-पलट रहे हैं। आपने इस क्षात्रवृत्ति का उच्छेद न किया होता, तो एकाध ऋषि-मुनि तो ऐसा निकलता ही, जो अपनी हुंकार-मात्र

से राक्षसों का दम फुला देता। आज तो राक्षसों से भयभीत मुनि यज्ञ-पात्र हाथ में लेकर भागते फिर रहे हैं! आपने इस क्षात्रवृत्ति का उच्छेद न किया होता, तो अवश्य ही एकाध क्षत्रिय वीर ऐसा पैदा होता, जो इस दंडकारण्य या जन-स्थान को उजड़ने न देता। आज तो क्षत्रिय भी रावण से बचने के लिए जहां-तहां छिप जाते हैं! आपने इस क्षात्रवृत्ति का उच्छेद न किया होता, तो एकाध देवकन्या अथवा गंधर्वकन्या ऐसी अवश्य ही उत्पन्न होती, जो अपने शील के प्रताप-मात्र से रावण-जैसे अत्याचारी को भी भस्म कर डालती! भगवान परशुराम! समझ लीजिए कि इस क्षात्रवृत्ति की पुन:स्थापना करने के लिए रामचंद्र का अवतार हुआ है और आपका अवतार-कृत्य समाप्त हो चुका है।"

परशुराम ने नि:श्वासपूर्वक कहा, "तब तो मेरे हाथों जनता का भारी अकल्याण हुआ।"

वसिष्ठ बोले, "भगवन्! आप ऐसा खेद क्यों करते हैं? आपने तो अपने अवतार का हेतु सिद्ध कर लिया है। किंतु मानव-समाज की देह-रचना ही कुछ ऐसी है कि जब आपके समान पुरुष उसे संतुलित बनाने के लिए अवतार लेते हैं, तो थोड़े समय के लिए वह संतुलित रह लेती है और बाद में तुरंत ही फिर असंतुलित बन जाती है। भगवन्! आप तो यह सब जानते ही हैं, फिर भी मुझसे क्यों कहलवा रहे हैं? परमात्मा की सृष्टि की योजना ही ऐसी है कि जब-जब सृष्टि की या समष्टि की देह असंतुलित होती है तब-तब उसे संतुलित रखनेवाले बल उस देह में ही उत्पन्न होते हैं और इस तरह देह के स्वास्थ्य की रक्षा होती रहती है। परंतु कभी-कभी यह असंतुलन इतना अधिक बढ़ जाता है कि ऐसे बल देह में से पैदा नहीं हो पाते, तब या तो देह का पतन होता है या परमात्मा को स्वयं नीचे उतरना पड़ता है। सृष्टि की देह गिरती है, तो वह मृत्यु कहलाती है और समष्टि की देह गिरती है, तो कहा जाता है कि प्रलय हुआ। आपने सहस्रार्जुन का नाश किया, सो भी समाज के स्वास्थ्य की पुन:स्थापना के लिए किया, और आज राम आए हैं, तो ये भी समाज के स्वास्थ्यों की पुन:स्थापना के लिए ही आए हैं। भगवन्! इस तरह आपका अवतार-कृत्य अब समाप्त हुआ है।"

परशुराम बोले, "वसिष्ठ ! आपका कल्याण हो। मैं तो आपके समान ऋषियों का दास हूं। रामचंद्र ! आपकी विजय हो। अब मैं समझ रहा हूं कि आप तो संसार में धर्म की स्थापना करने आए हैं। मैंने तो अपने इतने वर्ष व्यर्थ ही बिता दिए; एक का अभिमान मिटाने गया तो दूसरे के अभिमान का पोषण किया। क्षत्रियों का संहार किया, तो ये राक्षस प्रकट हो गए; पशु-बल के अभिमान को एक जगह तोड़ा, तो वह दूसरी जगह उग निकला। क्षात्र-वृत्ति को मिटाने के बदले मैंने उसे अधिक पवित्र बनाने के लिए श्रम किया होता, तो शायद यह परिणाम न निकलता। रामचंद्र! मैं इस समय सारे समाज की ओर दृष्टि दौड़ाता हूं, तो मुझे वसिष्ठ की बात अधिकाधिक सच लगती है। चाहे राजा हों, स्त्रियां हों, जनता हो, भाई-भाई हों, सास-बहू हों, ससुर-जमाई हों, स्वामी-सेवक हों अथवा राजा-प्रजा ही हों; सब कोई पहली बात यही सोचते हैं कि उन्हें दूसरों से क्या मिलना चाहिए, किंतु अपनी ओर से दूसरों को क्या दिया जाना चाहिए, इसका विचार बाद में करते हैं या फिर करते ही नहीं। सब अपने हक की बात पहले सोचते हैं, धर्म की बात बाद में सोचते हैं या तो सोचते ही नहीं। मनुष्य की यह मनोवृत्ति क्षात्रवृत्ति का ही विकृत रूप है। मैंने समाज में से क्षात्रवृत्ति का उच्छेद करने का जो यत्न किया, उसी का यह परिणाम है। अब आप संसार में धर्म-मर्यादा की स्थापना करेंगे, तो हर आदमी पहले इस बात का विचार करेगा कि उसे दूसरों को क्या देना चाहिए। इसके फलस्वरूप समाज में भय के स्थान पर प्रेम की स्थापना होगी और अधिकार के स्थान पर न्याय प्रतिष्ठित होगा। रामचंद्र ! मुझे विदा दीजिए। मैंने आपकी समूची बारात रोकी, इसके लिए मुझे क्षमा कीजिए।"

राम बोले, "भगवन् ! सुखपूर्वक सिधारिए। पिताजी ! भगवान परशुराम विदा हो रहे हैं।"

दशरथ ने कहा, "मेरे प्रभु ! आपने मुझपर बड़ी कृपा की। आप लोगों ने आपस में क्या बातें कीं, मैं तो कुछ समझा नहीं; उधर मेरा ध्यान भी नहीं रहा। किंतु महाराज ! आपने मेरे पुत्रों को जीवित रहने दिया, मुझ पर आपका यह बड़ा ही उपकार हुआ। गुरुदेव ! आप न होते, तो आज मेरे कुल का सर्वनाश निश्चित था। महाराज ! मैं आपको नमस्कार

करता हूं।"

परशुराम बोले, "महाराज दशरथ ! अपनी बारात को आगे बढ़ने दीजिए। मैंने आपको बहुत कष्ट पहुंचाया।"

यों कहकर उन्होंने राम की और वसिष्ठ की वंदना की। फिर वे वहां से चल दिए।

बारात अयोध्या के रास्ते चल पड़ी।

: ६ :

युवराज-पद की दीक्षा

अयोध्या के रास्तों पर आज यह सुगंधित पानी क्यों छिड़का जा रहा है ? अयोध्या के बाजारों में दुकान-दुकान पर ये तोरण क्यों बांधे जा रहे हैं ? अयोध्या के घरों पर ये भांति-भांति की ध्वजाएं क्यों लहरा रहीहैं ? अयोध्या के प्रांगणों में ये चौक क्यों पूरे जा रहे हैं ? ये रंगावलियां क्यों रची जा रही हैं ? अयोध्या की गली-गली में, अयोध्या के चौराहे-चौराहे पर, अयोध्या के राजमार्गों पर, अयोध्या के कोने-कोने में ये पताकाएं, ये तोरण, ये कमानियां और ये दरवाजे क्यों लग रहे हैं ? अयोध्या के प्रासादों पर, अयोध्या के वृक्षों पर, अयोध्या के रास्तों पर, अयोध्या की छतों और अटारियों पर, अयोध्या के मंदिरों में, अयोध्या के अखाड़ों में और अयोध्या के इन उपवनों में ये रंग-बिरंगी दीपमालाएं क्यों सजाई गई हैं ?

क्या कल कोई महान उत्सव होनेवाला है ?

अयोध्या के रास्तों पर लोगों की यह भीड़ क्यों है ? अयोध्या की गलियों में लोगों की ये टोलियां क्यों उमड़ रही हैं ? गांवों के ये लोग वापस अपने गांव जाने का समय हो जाने पर भी यहां क्यों रुके हुए हैं ? ये सारी नगर-कन्याएं दल-के-दल बनाकर कहां जा रही हैं? ये पुरस्त्रियां अपने सिर पर सोने-चांदी के कलश रखकर एक साथ पानी भरने क्यों निकल पड़ी

हैं। ये सारे नागरिक अपने व्यापार-धंधे में ध्यान न देकर आनंद-ही-आनंद में एक-दूसरे के साथ क्या बातें कर रहे हैं ?

क्या आज कोई पर्व-दिन है ?

अयोध्या के दरवाजों पर ये तोरण क्यों लगे हैं ? अयोध्या के गढ़ पर ये तोपें क्यों सजी हैं ? आज अयोध्या के हाथियों को नहला-धुलाकर उन्हें किसलिए सजाया जा रहा है? अयोध्या की अश्वशाला में आज यह हलचल किस बात की है ? अयोध्या के अमात्य और मंत्री आज क्यों इतनी दौड़-धूप में लगे हैं ? अयोध्या के राजसेवक आज क्यों इतने उतावले बनकर घूम रहे हैं ?

क्या आज कोई सम्माननीय अतिथि आ रहे हैं ?

ये ब्राह्मण आज क्यों इतनी दौड़-भाग कर रहे हैं? ये समिधाओं के गट्ठर, ये दर्भ के गट्ठर, जल से भरे ये सोने के कुंभ, ये लाजा से भरी टोकनियां, यह उदुंबर की लकड़ी, ये समचौरस लंबी ईंटें—इन सब चीजों को आज ये लोग कहां ले जा रहे हैं ? वसिष्ठ ऋषि के शिष्यों के ये दल आज कहां जा रहे हैं ?

क्या महाराज दशरथ कल कोई बड़ा यज्ञ करनेवाले हैं ?

महारानी कौशल्या के महल में ये चारण, भाट और ब्राह्मण क्यों उमड़ रहे हैं ? सोने के सींगों और चांदी की घंटियोंवाली इन सुंदर-सुंदर गायों को ब्राह्मण कहां लिये जा रहे हैं ? इन सूतों के हाथों में ये रंग-बिरंगे आभूषण क्यों हैं ? ये चारण आज खुले कंठ और खुले दिल से किसका यश गा रहे हैं ? आज महारानी कौशल्या घी के दीए जलाकर किसकी पूजा कर रही हैं ? अयोध्या की ये नारियां आज इतनी संख्या में कौशल्या के पास क्यों जा रही हैं ?

क्या आज कौशल्या का कोई नया भाग्योदय हुआ है ?

रामचंद्र के महल की ओर तो देखो ! उस महल के एक शांत कक्ष में दो शय्याएं बिछी हैं। उस कक्ष में न तो कोई सिंहासन है, न कोई कोच है, न कोई दर्पण है और न कोई मणिमय दीप है। वहां एक कोने में घी का दीया शांत ज्योति से जल रहा है; एक ओर दर्भ के तीन-चार आसन पड़े हैं; बीच में एक छोटी वेदी पर अग्नि धीमे-धीमे जल रही है; वेदी के

पास थोड़ी समिधाएं, पुष्प, घी, लाजा आदि पड़े हैं; एक ओर दीवार की तरफ दो शय्याएं बिछी हैं—पत्तों की, दर्भ की, घास आदि की, मानो किसी तपस्वी की शय्या हो !

क्या रामचंद्र आज किसी तप का आरंभ कर रहे हैं ?

और दूर पुत्री के महल में ? वह महल आज सूना-सूना क्यों लग रहा है ? कैकेय-पुत्री आज महाराज दशरथ का स्वागत करने के लिए सिंहासन पर क्यों नहीं हैं ? क्या बूढ़े महाराज आज अपनी युवा रानी को खोजने में लगे हैं ? महाराज को कोई जवाब तो दो ! कहां है कैकेयी ? महाराज काम-पीड़ित होकर भटक रहे हैं। कह रहे हैं, "कैकेयी, भली-मानुस ! यों रूठकर कोपघर में क्यों छिप गई है ? न देह पर कोई अच्छा वस्त्र है, न कोई अच्छा आभूषण है, न आंख में अंजन है, न सिर में तेल है; ये मैले कपड़े, बिखरे बाल और मुरझाया मुंह लेकर धरती पर क्यों लेटी है ? किसी ने गाली दी हो, तो उसकी जीभ काट लूं; किसी ने अंगुली उठाई हो, तो उसकी अंगुली तराश लूं, किसी ने कुदृष्टि की हो, तो उसकी आंख फुड़वा दूं।"

क्या इतना मनाने पर भी कैकेयी मानती नहीं ? क्या वह अब भी धरती पर ही पड़ी है ? महाराज दशरथ अभी उसे मना ही रहे हैं ? बेचारे दशरथ ! महाराज ! आपने बुढ़ापे में इस युवा कैकेयी से ब्याह किया ? किसी तरह उसके साथ अपने जीवन का मेल बैठाने के लिए आप तरुण बनकर उसके आगे-पीछे नाचे ? क्या आज वैसा ही मेल बैठाने के लिए वह आपके सिर पर प्रहार कर रही है ? उसके हृदय की भूख और किस तरह बुझे ? दशरथ, दशरथ, दशरथ !

दशरथ घबराए क्यों हैं ? उनकी आंखें विह्वल क्यों बनी हैं ? वे पागल-जैसे क्यों लग रहे हैं ? कैकेयी भौंहें तानकर पलंग पर क्यों बैठी है ? क्या इन दोनों ने कोई प्रणय-कलह शुरू किया है ? इतनी रात बीत चुकी है, फिर भी महाराज को नींद क्यों नहीं आ रही है ? राजा-रानी दोनों पास-पास बैठे हैं, फिर भी ऐसा क्यों लग रहा है, मानो सहस्रों योजन दूर बैठे हों ? महाराज, अयोध्या के स्वामी ! आपकी आंखें क्यों सूज गई हैं ? क्या आप रो रहे हैं ? क्या आपके दिल पर कोई बड़ा बोझ है ? क्या आप

मुक्त हृदय से रो भी नहीं सकते ? क्या कैकेयी ने खुलकर रोने की भी मनाही कर रखी है ?

क्या आज अयोध्या पर कोई संकट आनेवाला है ? क्या ये सब उसी के पूर्व चिह्न हैं ? बिना कारण से महाराज क्यों रोयें ?

रामचंद्र बोले, "भगवन् ! मेरा मन आनंद और चिंतन दोनों का अनुभव एक साथ कर रहा है।"

रामचंद्र के महल के सामने सुंदर बाग था। इस बाग के एक आराम-गृह में कुलगुरु वसिष्ठ दर्भ के एक ऊंचे आसन पर बैठे थे; रामचंद्र और सीता उनके पैरों के पास बैठे हुए थे।

राम कहने लगे, "मेरी माता कौशल्या, यह जानकी, माता सुमित्रा, मेरे मित्र, मंत्रि-मंडल, अमात्य-मंडल, अयोध्या की सेना, अयोध्या के निवासी, गांवों की जनता और मेरे आसपास दिखाई पड़नेवाले ये सारे लोग जब इस समाचार से आनंद-मग्न हो गए हैं, तो अपने इन स्वजनों के आनंद से ही मुझे एक प्रकार का आनंद होता है। पर वैसे देखा जाए, तो कल मेरे माथे जो नया भार आयगा, उसे मैं उठा पाऊंगा या नहीं, इस पर विचार करता हूं, तो गुरुदेव ! मैं क्षण-भर के लिए कांप उठता हूं।"

गुरुदेव बोले, "कुमार ! तुम्हारे समान राजकुमार अयोध्या की समूची प्रजा को स्वजन मानता है, यही उस प्रजा के आनंद का बड़ा कारण है।"

राम ने बताया, "महाराज ! पिताजी मुझसे कह रहे थे कि उन्होंने अपनी इस प्रजा की सम्मति से ही मुझे युवराज बनाने का निश्चय किया है।"

वसिष्ठ बोले, "बात सच भी है और झूठ भी है। एक समय ऐसा था, जब कोई भी राजा प्रजा की स्पष्ट इच्छा के बिना अपने पुत्र को युवराज नहीं बना सकता था; पुत्र को युवराज-पद देने से पहले राजा उसकी योग्यता देखता था, लोगों को भी दिखाता था और लोगों के अगुआओं से सलाह करने के बाद ही उसे युवराज बनाने का निर्णय करता था। किंतु धीरे-धीरे यह प्रथा इतनी निष्प्राण बन गई कि आज इस प्रजा का ऊपरी ढांचा तो कायम

है, पर इसकी आत्मा खत्म हो चुकी है। महाराज दशरथ ने अपनी जनता से अवश्य ही पूछा होगा, जनता ने सम्मति भी दी होगी; किंतु महाराज दशरथ के कहने पर भी अपने को न रुचनेवाली बात के लिए स्पष्ट इंकार करने की हिम्मत आज जनता में रही कहां है ? इतनी हिम्मत होती, तो हमारे आर्यावर्त का स्वरूप ही कुछ और हुआ होता। आज तो तुम्हें युवराज बनाने के लिए सम्मति मांगी और जनता ने सम्मति दी; किंतु यदि कल तुम्हें देश-निकाला देने की बात आ जाय, तो क्या यह जनता महाराज को 'ना' कह सकेगी ? बहुत करेगी, तो आंसू गिराकर बैठी रहेगी और घर के कोने में बैठकर महाराज की निंदा करेगी। रामचंद्र ! तुम क्या सोचते हो ?"

राम बोले, "गुरुदेव ! यदि बात ऐसी ही है तब तो मेरी चिंता बहुत ही बढ़ जाती है। अयोध्या की ऐसी प्रजा का युवराज बनने और भविष्य में उसका राजा बनने के भार को मैं कैसे उठा पाऊंगा ?"

क्षण-भर आंखें मूंदने के बाद वसिष्ठ बोले, "कुमार ! तुम्हें इस प्रकार घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। एक तरह से इस समय तो तुम्हें आनंद ही होना चाहिए।"

राम ने कहा, "भगवन् ! चिंता के इस भार के बीच आनंद तो सारा सूख ही जाता है।"

वसिष्ठ ने समझाते हुए कहा, "रामचंद्र ! संसार में शक्तिशाली पुरुष तो कई मौजूद हैं। किंतु अनेक पुरुषों को अपनी शक्ति का उपयोग करने का अवसर ही नहीं मिलता, इसलिए वे बेचारे अंधेरे-के-अंधेरे में ही मुरझा कर रह जाते हैं। तुम युवराज बनोगे, तो तुम्हारी शक्ति का उपयोग होगा, उसमें वृद्धि भी होगी और वह शक्ति लोक-हित के काम में भी लगेगी, इसलिए स्वयं तुम्हें भी एक प्रकार की आत्म-तृप्ति का अनुभव होगा। रामचंद्र ! यह कोई छोटा-मोटा सौभाग्य नहीं है।"

सीता धीमी आवाज में बोली, "महाराज ! हमसे यह बोझ उठेगा ?"

वसिष्ठ ने कहा, "बेटी जानकी ! मैं तेरी बात भी करनेवाला हूं। पहले राम से कुछ कह लूं। रामचंद्र ! अयोध्या की प्रजा कैसी है, इसे तुम कुछ तो जानते ही हो, और अब अधिक जानोगे। यह प्रजा इस मूढ़

दशा को कैसे प्राप्त हुई, इसकी चर्चा में हम इस समय नहीं पड़ेंगे। तुम्हें युवराज बनकर अथवा राजा बनकर इस प्रजा को ऊपर उठाना है। यदि इस कारण तुम्हें चिंता हो रही हो, तो मैं उसे समझ सकता हूं।"

रामचंद्र ने पूछा, "गुरुदेव ! यदि युवराज बनना कठिन काम है, तो युवराज बननेवाले राजकुमारों के लिए यह पद आनंददायक कैसे बनता होगा ?"

वसिष्ठ बोले, "कुमार ! सच तो यह है कि क्या युवराज और क्या राजा, सौ में से निन्यानवे लोग तो अपनी जिम्मेदारी के बारे में कुछ सोचते ही नहीं। उन्हें तो अपनी आंखों के सामने सोने-चांदी का सिंहासन, सिर पर सफेद छत्र, घुंघरुओंवाला रथ, आलीशान महल, 'जी हां, जी हां' की रट लगानेवाले चाटुकार और निरंतर घुटने के बल बैठकर हर हुक्म का पालन करनेवाले अमात्य, बस, ये ही सब दिखाई पड़ते हैं। उन्हें न प्रजा की चिंता है, न गरीबों की चिंता है, न लोगों के दारिद्र्य की चिंता है, न लोगों के आध्यात्मिक विकास की चिंता है, न लोगों के स्वास्थ्य की चिंता है और न चिंता है लोगों के वर्णाश्रम धर्म की ही। तुम्हारे समान कोई भाग्यशाली कुमार ही ऐसी बातों के बारे में सोचते हैं। मैं तो इसे भी तुम्हारा और अयोध्या का सौभाग्य मानता हूं।"

रामचंद्र ने हाथ जोड़कर विनती की, "तब तो महाराज ! आप मुझे इतनी सामग्री दीजिए ही कि जिससे मैं इस भार को यथार्थ रूप में उठा सकूं।"

वसिष्ठ बोले, "खास इसी काम के लिए तो मैं आज तुम दोनों के पास आया हूं। रामचंद्र ! समझ में आने पर तो बात बिलकुल छोटी है—साफ है। समझ लो कि युवराज बनना एक प्रकार की तपश्चर्या है, यही नहीं, बल्कि कठिन तपश्चर्या है।"

राम ने पूछा, "आपके जैसी तपश्चर्या ?"

वसिष्ठ बोले, "हम ऋषियों की तपश्चर्या तो सरल है। हम तो जंगलों और तपोवनों में रहते हैं, फूल-फल जो भी मिल जाते हैं, खा लेते हैं और घास-फूस की झोंपड़ियों में बैठकर तप करते हैं। युवराज को तो आलीशान महल में रहना पड़ता है, रोज सोने-चांदी की थालियों में

भांति-भांति के जो पकवान सामने आते हैं, उन्हें खाना होता है, और इन सब भोग-विलासों के बीच रहकर मन को तपस्वी बनाए रखना पड़ता है। इसलिए युवराज अथवा राजा मुझसे बड़ा तपस्वी है। यह तपश्चर्या कितनी कठिन है, सो तुम विदेहराज की इस पुत्री से पूछो।"

राम बोले, "भगवन ! मुझे लगता है कि ऐसी स्थिति में मेरे लिए क्या यह अधिक उचित न होगा कि मैं युवराज बनने से ही इनकार कर दूं ?"

वसिष्ठ ने कहा, "नहीं कदापि नहीं। जैसे, मुंह तक आया कौर अचानक हाथ में से छूट जाय, वैसे युवराज-पद हाथ पर ताली देकर छटक जाय, तो उसके लिए शोक न करना उचित है, नहीं तो तुम्हें इस पद को सुशोभित ही करना चाहिए। आजकल के कई युवराज और राजा इस पद को भ्रष्ट कर रहे हैं। जानते हो, इसका कारण क्या है ?"

राम बोले, "महाराज ! आप ही आगे कहिए।"

वसिष्ठ कहने लगे, "ये युवराज और राजा मानते हैं कि ये स्वयं अपनी प्रजा के स्वामी हैं, और जिस तरह मामूली परिवारों में पति अपनी पत्नी को सताता है, उसी तरह ये अपनी प्रजा को सताते रहते हैं। तुम यह समझ लो कि कोई भी राजा अपनी प्रजा का स्वामी होता ही नहीं, और तीनों कालों में कभी हो भी नहीं सकता है। युवराज अथवा राजा तो अपनी प्रजा का सेवक है। वह स्वेच्छा से उसका नौकर बनता है। इनमें यदि कोई स्वामी है, तो वह प्रजा ही है। हम तो क्षत्रिय ठहरे। क्षत्रिय के नाते हमारा परमधर्म यह है कि हम क्षति से अपनी प्रजा का रक्षण करें, प्रजा पर पड़नेवाली चोटों को खुद सामने खड़े होकर झेलें। कहीं कोई घाव पैदा हो गया है, तो उसे भरे, उसकी मरहमपट्टी करें। इस प्रकार अपनी प्रजा का आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य निरंतर बना रहे, ऐसी व्यवस्था करना हम क्षत्रियों का परमधर्म है। जो राजा सेवा की भावना से राज्य चलाता है, वही इस धर्म का पालन कर सकता है। यदि तुम सच्चे युवराज बनना चाहते हो, तो तुम्हें अयोध्या की प्रजा का सेवक बनना होगा।"

सीता से रहा न गया। वह बोल उठी, "इस पागल प्रजा का ?"

वसिष्ठ ने कहा, "हां, इस पागल प्रजा का। भले ही वह पागल हो, पर प्रजा तो है न ? इस प्रजा के कारण ही यह राज्य है। दशरथ महाराज हैं। कौशल्या महारानी हैं और, कल तुम युवराज्ञी बनोगी, सो भी इसी पागल प्रजा के प्रताप से। रामचंद्र ! तुमने देखा ? सीता के समान सयानी स्त्री के हृदय की गहराई में भी कैसी धारणा छिपी पड़ी है ? यदि यह प्रजा पागल है, तो इसे समझदार बनाने के लिए तुम युवराज बन रहे हो; यदि यह प्रजा भूखी है, तो इसके पेट का गड्ढा भरने के लिए तुम युवराज बन रहे हो; यदि यह प्रजा गंदी है, तो इसे शुद्ध-स्वच्छ बनाने के लिए तुम युवराज बन रहे हो; यदि यह प्रजा नंगी है, तो इसे ढँकने के लिए तुम युवराज बन रहे हो; यदि यह प्रजा अनपढ़ है, तो इसे पढ़ी-लिखी बनाने के लिए तुम युवराज बन रहे हो। इस प्रजा को अपने जीवन में जहां-जहां घाव लगे हों, खरोंचें लगी हों, लहू बहता हो, वहां-वहां उन्हें भरने-रोकने के लिए ही तुम इसके युवराज बन रहे हो। कुमार, बेटी जानकी ! यदि ऐसे युवराज और युवराज्ञी बनने की तुम्हारी तैयारी न हो, तो महाराज दशरथ से जाकर कह दो।"

सीता लज्जित होकर बोली, "गुरुदेव ! आपने तो हमारे सामने युवराज और राजा का सही आदर्श रख दिया; किंतु आप यह भी तो जानते हैं न कि आखिर हम मिट्टी के मनुष्य हैं ?"

वसिष्ठ ने कहा, "विदेहराज की पुत्री से मैं ऐसी आशा नहीं रखूंगा। जानकी ! तुम तो विश्वम्भरा के उदर में पली हो; निष्काम कर्म की मूर्ति-जैसे जनक राजा तुम्हारे पिता हैं और इस सूर्यवंश की तुम कुलवधू हो। यदि ऐसी सीता मोम की पुतली बनेगी, तो यह दुनिया चलेगी कैसे ? तुम्हें और राम को तो मिट्टी का पुतला बनने की बात सोचनी ही नहीं चाहिए। मैं इस रघुकुल का आचार्य हूं। इस कुल में ही ऐसे न जाने कितने मोम के पुतलों को मैंने बर्दाश्त किया है। उसी का परिणाम है कि आज अयोध्या की प्रजा की यह दशा है। महाराज दशरथ भी मोम के ऐसे ही एक पुतले हैं। अब यह प्रजा वज्र का पुतला चाहती है। मैं तो यही चाहूंगा कि तुम और रामचंद्र दोनों आदर्श युवराज और युवराज्ञी बनो। मुझे अपने अंतरतर में यह प्रतीति हो रही है, मानो समूचा मानव-हृदय आज तुम

दोनों से ऐसी ही आशा रख रहा है।"

रामचंद्र ने पूछा, "भगवन्! जैसा आप कह रहे हैं, वैसा बनने के लिए हमें क्या करना चाहिए ?"

वसिष्ठ बोले, "रामचंद्र! जैसाकि मैं कह चुका हूं, तुम दोनों अयोध्या की प्रजा के प्रथम पंक्ति के सेवक बनने का पक्का निश्चय कर लो। हमारे आर्य लोगों में यह रिवाज चला आ रहा है कि जब किसी युवराज या राजा का अभिषेक होनेवाला होता है, तो उसके एक दिन पहले उसे तपश्चर्या करनी होती है। महाराज दशरथ ने आज मुझे इसी काम के लिए विशेष रूप से तुम्हारे पास भेजा है।"

सीता ने पूछा, "आप इस वेदी पर स्थापित अग्नि में आहुतियां डालने की बात कह रहे हैं ?"

वसिष्ठ ने कहा, "हां, सीता ! इस अग्नि में आहुतियां डालना अथवा आज रात घास-पात की इस शय्या पर सोना अथवा कंदमूल खाकर रहना, ये सब तो सूचक वस्तुएं हैं। तुम एक दिन इस अग्नि में दो आहुतियां डाल दो अथवा घास-पात की इस शय्या पर एकाध रात सो लो, या एक दिन जैसे भी बने, कंदमूल खाकर रह लो, इसका कोई अर्थ नहीं होता। यदि तुम्हारी तपश्चर्या वीर्यवती हुई, तो जिस तरह आज तुम इस अग्नि में होम करती हो, उसी तरह जीवन-भर जब-जब प्रजा के कल्याण के प्रश्न खड़े हों, तब-तब तुम अपने निजी स्वार्थों की आहुतियां डालोगी—जिस तरह आज तुम घास-पात की इस शय्या पर सोओगी, उसी तरह जबतक तुम्हारी प्रजा के प्रत्येक स्त्री, पुरुष और बालक को सोने के लिए शय्या न मिले, तबतक तुम स्वयं शय्या पर नहीं सोओगी; जबतक तुम्हारी प्रजा के एक-एक व्यक्ति के पेट की भूख दूर न हो जाय, तबतक तुम भी भोजन-विलास का रस नहीं लूटोगी, ये और ऐसे अन्य संकल्प ही तुम्हारी तपश्चर्या हैं।"

सीता बोली, "क्या सब राजाओं को ऐसी तपस्या करनी होती है ?"

उत्तर में वसिष्ठ ने कहा, "हां, सच्चे राजा बनना हो तो करनी ही है। कठपुतली राजा बनना हो या नाटक के नकली राजा बनना हो, तो नहीं करनी है। सीता, राम ! कहा जाता है कि पहले जब ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना शुरू की, तो उन्होंने भी तपश्चर्या की थी। आज भी तुम्हें जहां-

जहां नया सृजन दिखाई पड़ेगा, वहां उसके मूल में तपश्चर्या दीखेगी। मुझे तो विश्वास हो चुका है कि बिना तपश्चर्या के नया सृजन संभव ही नहीं।"

सीता ने पूछा, "तो क्या हम दोनों को आपकी ही तरह तपस्वी बनने का विचार करना है ?"

वसिष्ठ ने मुस्कराते हुए कहा : "तुमको तो मुझसे अथवा हमसे भी अधिक बड़े और अधिक पवित्र तपस्वी बनने का विचार करना होगा। आज अयोध्या ही नहीं, सारा संसार नए सृजन के लिए प्यासा हो उठा है। मुझ-जैसे अनेक ऋषि-मुनि संसार में नए सृजन की आशा से आश्रमों की स्थापना करके बैठे हैं। हम सब तुमसे नए सृजन की आशा न रखें, तो फिर किनसे रखें ? आज आर्यों का हमारा समाज निष्प्राण हो चुका है। केवल अयोध्या और मिथिला के दो प्रदेश ऐसे हैं, जिनकी ओर आशा-भरी निगाह से देखा जा सकता है। इस समाज में नए प्राणों का संचार करना है। इसके लिए तुम्हें अपनी आहुति देनी पड़े, तो तुम दोनों को वैसी आहुति देनी है—यही तुम्हारी आज की तपश्चर्या होगी। महाराज ने तो मुझे परिपाटी के अनुसार तुम्हें दीक्षा देने भेजा है; किंतु मैं रघुकुल का कुलगुरु वसिष्ठ आज तुम्हारे पास ऐसी ही दीक्षा की आशा से आया हूं। कुमार, सीता-देवी ! मेरे मन की साध यह है कि मैंने आजतक रघुकुल के जिस गुरु-पद को संभाला है, वह तुम दोनों को दीक्षा देने के बाद सार्थक बनेगा। जिस नवयुग की आशा से हम जी रहे हैं, उस नवयुग को लाने की घोर तपश्चर्या के लिए ही तुम दोनों का अवतार हुआ है, इसमें मुझे संदेह नहीं है। सीता, विदेहराज पुत्री ! अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। तुम तो तपश्चर्या के वातावरण में ही पली हो, इसलिए वह तो तुम्हारे मांस-मज्जा में ही है। राम, सीता ! उठो, तैयारी करो। तुम्हारा हवन पूरा करवाकर मुझे महाराज दशरथ के पास पहुंचना है।"

इतना कहकर वसिष्ठ खड़े हो गए और फिर तीनों अग्न्यागार में जाने के लिए निकल पड़े।

: १० :

मातृ-स्नेह या धर्म-पालन

राम ने शांतिपूर्वक किंतु दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया, "माता कौशल्या ! जिस आंख से आप देखती हैं और लक्ष्मण देखता है, मैं उससे नहीं देखता।"

रामचंद्र, सीता, सुमित्रा, लक्ष्मण, सब कौशल्या के पूजा-गृह में इकट्ठे हुए। महाराज दशरथ कैकेयी के वश होकर एक रात में ही अपना संकल्प बदल दिया और रानी कैकेयी ने राम को सामने बुलाकर महाराज का हुक्म सुना दिया कि राम को चौदह वर्ष का वनवास मिला है और भरत को युव-राज बनाया गया है। ये समाचार बिजली की-सी गति से सारी अयोध्या में फैल गए और राम का अभिषेक देखने के लिए जागी अयोध्या इन नए समाचारों से मानो दिग्मूढ़ बन गई।

महारानी कैकेयी से मिले वनवास के आदेश का सम्मान करके राम, लक्ष्मण और सीता के साथ कौशल्या माता के महल में पहुंचे। जैसे ही ये समाचार सुमित्रा को मिले, वह भी तुरंत कौशल्या के पास पहुंचने को निकल पड़ीं। जिस समय रामचंद्र पहुंचे, कौशल्या पूजा कर रही थीं और परमेश्वर की कृपा से उनका पुत्र राजगद्दी पाने जा रहा है, इसकी खुशी में वे ब्राह्मणों को दान दे रही थीं।

ज्योंही रामचंद्र ने माता को अपने वनवास के समाचार सुनाए, कौशल्या अचानक बेहोश हो गई। अपने पुत्र के अभिषेक को लेकर उन्होंने मनोरथों की जो सृष्टि रची थी, वह सारी-की-सारी चूर-चूर होकर बिखर गई। इसका आघात उनसे कैसे सहा जाता ? कुछ समय तक तो कौशल्या बिना कुछ बोले राम की ओर एकटक देखती रहीं और चुपचाप आँसू बहाती रहीं। थोड़ी देर बाद उन्होंने अपना शोक प्रकट किया। रानी सुमित्रा ने और रामचंद्र ने उन्हें आश्वस्त किया और वे कुछ शांत हुईं।

बाद में राम ने अभिषेक का और वनवास का सारा हाल कौशल्या को कह सुनाया। रामचंद्र स्वयं कैकेयी के हुक्म को सिर-माथे चढ़ाकर आए हैं, यह बात लक्ष्मण को तनिक भी पसंद न आई। सहज ही, कौशल्या के

विचार भी उसी ओर झुक रहे थे। लक्ष्मण और कौशल्या का विचार था कि रामचंद्र वन में न जायं। उलटे, महाराज दशरथ की अवज्ञा करके वे स्वयं युवराज बन जायं, अथवा किसी भी हालत में अयोध्या न छोड़ें।

राम ने शांतिपूर्वक किंतु दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया, "माता कौशल्या! जिस आंख से आप देखती हैं और लक्ष्मण देखता है, मैं उससे नहीं देखता।"

लक्ष्मण क्रोधावेश में बोले, "बड़े भैया! महाराज तो पागल हो गए हैं, पागल! आज वे कैकेयी को छोड़कर और किसी को देख नहीं रहे। वे पागल बनकर जो कुछ भी कह डाले, वही पिता की आज्ञा है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? ऐसे पागल पिता को तो बंदी बनाकर कहीं बंद कर देना चाहिए।"

राम ने बताया, "स्वयं महाराज ने भी मुझसे यही कहा था!"

सुमित्रा ने पूछा, "क्या?"

राम बोले, "महाराज ने कहा, 'मेरी बुद्धि भ्रम में फँसी है, इसीलिए तू मुझे कैद कर ले और फिर अयोध्या का युवराज बन जा।"

लक्ष्मण आवेश में आकर कहने लगे, "यदि महाराज ने यह बात कही भी है, तो किसी दूसरे हेतु से कही होगी। आज उनका दिल ही उन्हें डंक मार रहा होगा। उस डंक की मार को हलका करने के लिए उन्होंने आपको यह धर्म-वचन कह दिया होगा। महाराजा के इन शब्दों से उनका यह विश्वास छलकता है कि आप ऐसा कोई काम नहीं करेंगे, और महाराज को यश मिल जायगा कि उन्होंने ऐसी उदारता दिखाई। मुझे तो इसमें उन दोनों की धूर्त्तता ही दीखती है। हमें इस प्रपंच में फंसने के बदले इसके परदे को चीर डालना चाहिए।"

राम ने गंभीरतापूर्वक जताया, "यह प्रपंच हो, या चाहे जो हो, मैं आज यह तराजू अपने हाथ में नहीं लेना चाहता। महाराज ने कैकेयी माता को वरदान दिये हैं। कैकेयी माता उन वरदानों पर आज ही अमल कराना चाहती हैं। महाराज ने वरदानों पर अमल करना मंजूर किया है। वरदान यह है कि मैं चौदह वर्षों तक वन में रहूं और मेरी जगह भरत का अभिषेक हो। अंतिम बात यह है कि स्वयं मैंने भी माता कैकेयी के कथन को सिर-माथे चढ़ाया है। अतः अब मैं महाराज के और अपने दिये हुए वचन को

भंग नहीं करना चाहता।"

लक्ष्मण बोले, "किंतु दूसरे भंग करना चाहें तो ?"

राम ने कह दिया, "जहां तक मेरा प्रश्न है, मैं उसे भंग नहीं होने दूंगा।"

लक्ष्मण ने पूछा, "क्या स्वयं महाराज के कहने पर भी आप अयोध्या में नहीं रहेंगे ?"

राम बोले, "नहीं, नहीं, नहीं ! एक बार नहीं,दस हजार बार नहीं। अब अगर महाराज स्वयं अपने वचन से डिगना चाहें, तो भी मैं उन्हें डिगने नहीं दूंगा। माता ! यह लक्ष्मण तो बालक है। मेरे प्रति अपने स्नेह के कारण यह ऐसी बातें कह रहा है; किंतु क्या आप भी अपने होश खो बैठी हैं ?"

कौशल्या कहने लगीं, "बेटा राम ! मैं अपना यह हृदय चीरकर तुझे कैसे दिखाऊं ? तू क्या जाने कि जब माताएं अपने बेटे का लालन-पालन करती हैं, तो उस लालन-पालन के साथ कितनी दूर-दूर की इच्छाएं और कल्पनाएं करती हैं ? तुझे अपने पेट में धारण करने की घड़ी से लेकर आजतक तेरे बारे में तेरी कौशल्या मां ने क्या-क्या सपने देखे होंगे, कैसे-कैसे मनोरथ रचे होंगे, क्या-क्या आशाएं बांधी होंगी और भविष्य के गर्भ में प्रवेश करके तेरे जीवन को लेकर कितने-कितने रंग-बिरंगे चित्र चित्रित किये होंगे, तू इसे क्या जाने ? आज कोई अचानक ही आकर उन सारे चित्रों पर पानी फेर दे, तो उन चित्रों के सहारे जीनेवाली तेरी मां टूट न जाय, तो और क्या करे ? बेटा ! इन महाराज को तो तू अब भलीभांति पहचानता है। आज मैं अपने जीवन के किनारे बैठी हूं, इसलिए भूतकाल की चर्चा करना नहीं चाहती, किंतु इस भरे-पूरे राज्य में मेरी और सुमित्रा की क्या स्थिति है, यह तो तुझसे छिपा नहीं है। आज दुनिया की निगाहों में मैं अयोध्या की रानी हूं, इसलिए लोग मेरे सुख की न जाने क्या-क्या कल्पना करते होंगे। किंतु राम ! मैं कहती हूं, भगवान किसी को रानी का जन्म न दे। बाहर से सुखी दीखनेवाला किंतु अंदर से निरा बनावटी और सड़ा हुआ रानी का यह जीवन भी कोई जीवन है ? इससे अच्छा तो यह है कि हमें दुनिया की किसी साधारण स्त्री का जीवन

मिले, जिससे पति-पत्नी एक-दूसरे के कंधे-से-कंधा मिलाकर पसीना बहायें, जो रूखा-सूखा मिले, सो खा-पी लें, जैसे भी मोटे-महीन कपड़े मिल जायं, पहन लें, रात को दो घड़ी भगवान का नाम लें और उसका बुलावा आ जाए, तो हँसते-हँसते बिदा होकर उसके दरबार में पहुंच जाएं। बेटा ! जबसे हमने महल में पैर रखा है, तभी से समूचा रनिवास हमारे लिए सूना ही रहा है। मेरे सौभाग्य से जिस दिन तेरा जन्म हुआ, उसी दिन से मेरे जीवन में एक नई आशा का संचार हुआ और तबसे उसी एक आशा के भरोसे मैं जी रही हूं। आज तेरे वनवास के लिए रवाना होने पर तेरी यह कौशल्या मां यहां किस तरह जी सकेगी ? मेरे लिए यह कोई बड़ी बात नहीं कि मेरा राम अयोध्या की गद्दी पर बैठता है या नहीं बैठता, मेरे लिए यह भी बड़ी बात नहीं कि मेरा राम युवराज बनता है या नहीं बनता; मैं तो यही चाहती हूं कि तू मेरे पास रहे, यह सीता मेरे पास रहे, मैं तुम दोनों को प्रतिदिन सुखी देखूं और इस तरह देखते-देखते एक दिन तुम दोनों के कंधों पर चढ़-कर भगवान के दरबार में पहुंच जाऊं। महाराज भरत को खुशी-खुशी युव-राज बनाएं; युवराज ही क्यों, भले वे उसे आज ही महाराज बना दें; भले ही कैकेयी आज ही से राजमाता बन जाय। बेटा ! तेरे बेटे और उनके बेटे भी कभी राजगद्दी न पायं, इसका भी पक्का निर्णय भले ही आज हो जाय। बस, मेरी तो एक ही चाह है—मेरा राम और मेरी सीता आंखों से दूर न हटे।"

राम गद्गद् कंठ से बोले, "माता ! आप जो कुछ कह रही हैं, उसे मैं भलीभाँति समझता हूं। मां ! मेरे निकट तीनों लोकों के साम्राज्य की अथवा ब्रह्मा के पद की जो कीमत है, उसकी तुलना में आपकी आंख के एक आंसू की कीमत कहीं अधिक है। फिर भी माता ! मुझे सत्य के मार्ग से डिगाओ मत। हमारे रघुकुल में आजतक किसी ने सत्य का त्याग नहीं किया। मैं समझता हूं कि महाराज दशरथ आज नितांत पराधीन बन गए हैं। ऐसी पराधीन दशा में वे स्वयं सत्य का त्याग करने को भी तैयार हो ही जायंगे। आज उन्हें इस बात का भी स्पष्ट भान नहीं रहा है कि वे स्वयं क्या बोलते हैं और क्या कहते हैं। किंतु माता! हमारा धर्म क्या है ? आप कोशल की पुत्री और रघुओं की कुलवधू हैं। महाराज

ने आपको चाहे जिस तरह रखा हो, किंतु इस राजमहल में प्रवेश करने के बाद, महाराज दशरथ का हाथ थाम लेने के बाद, आपका धर्म क्या है? महाराज दशरथ आंख मूँदकर गहरी खाई में गिरने लगें, तो उन्हें उस तरह गिरने से रोकना और वे रोके न रुकें, तो उन्हें जबरदस्ती रोकना, आपका धर्म नहीं है क्या? महाराज अधर्म का आचरण करने लगें, तो क्या उन्हें धर्म के आचरण की ओर ले जाना आपका कर्त्तव्य नहीं है? जब महाराज अकल्याण के मार्ग पर बढ़े जा रहे हों, तो क्या उन्हें कल्याण के मार्ग पर लाना मेरा भी धर्म नहीं है? प्यारी मां! मेरे प्रति आपका धर्म तो बाद में प्रकट हुआ; महाराज की तो आप सहधर्मचारिणी हैं। लग्न-वेदी के धर्म की गृह्याग्नि को निरंतर प्रज्वलित रखने की लग्न-प्रतिज्ञा आपने की है। महाराज ने उस प्रतिज्ञा का यथार्थ पालन नहीं किया तो क्या हुआ? यदि आप स्वयं उस सहचार-प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहेंगी और उसे सुशोभित करेंगी, तो संभव है कि एक दिन महाराज को अपनी भूल का पता चल जाए; न भी चले, तो भी आपको तो अपनी धर्म-प्रतिज्ञा के पालने का आत्मसंतोप प्राप्त होगा ही। आज मेरे प्रति अपने स्नेह के कारण आप महाराज के प्रति अपने धर्म का त्याग मत कीजिए। सत्य के पालन में महाराज की मदद करना आपका कर्त्तव्य है।"

लक्ष्मण बोले, "महाराज का अपना भी किसी के प्रति कोई धर्म है या नहीं? वे सबके साथ मनमाना वर्ताव करते रहें और सब उनके प्रति धर्मभाव से बरतें, यह कैसे संभव है?"

राम ने लक्ष्मण के कंधे पर हाथ रखते हुए कहा, "भैया, लक्ष्मण! साधारणतया जीवन में ऐसे धर्मों का पालन एक-दूसरे की अपेक्षा से ही होता है और यही सहज भी है। किंतु क्या लक्ष्मण एक सामान्य मनुष्य है? क्या कौशल्या एक सामान्य रानी है? क्या सीता एक साधारण कुलवधू है? यदि हमें अपने जीवन में साधारण लोगों की ही दुर्बलताओं को अपनाना हो और साधारण लोग जिस तरह जीते हैं, उसी तरह जीना हो, तो फिर कोई प्रश्न ही नहीं रहता। साधारण लोग तनिक-सी जमीन के लिए लड़ते हैं; साधारण लोग धातु के एक टुकड़े के लिए एक-दूसरे का सिर काट लेते हैं; साधारण लोग अक्सर बिना किसी कारण के जीवन-भर के लिए दुश्मनी

खड़ी कर लेते हैं। हमें भी उनकी पांत में बैठना हो, तो हम जरूर बैठ सकते हैं। किंतु भैया लक्ष्मण ! तुम और मैं तो रार्जाष विश्वामित्र के शिष्य हैं, हमारे मस्तकों पर कुलगुरु वसिष्ठ के और देवी अरुंधती के आशीर्वाद निरंतर बरसते रहते हैं; विदेहराज जनक-जैसों ने अपनी कन्याएं हमें व्याही हैं; हमारे कुल में दिलीप, रघु और भागीरथ के समान त्यागी और निष्ठा-वान राजा हो चुके हैं; पवित्रता की प्रतिमूर्ति रूप इन माताओं की कोख से हमारा जन्म हुआ है ! क्या अब हम अयोध्या की इस जरा-सी भूमि के लिए भरत के साथ लड़ाई लड़ेंगे ? लक्ष्मण, चौदह वर्ष के समय को तो तुम आंख मूंदकर खोलने जितना समय समझो। क्या इतने नगण्य से समय के वनवास के लिए हम लाचार बनकर बैठेंगे ? लक्ष्मण ! आज का समय कमजोरी दिखाने का समय नहीं; आज का समय गुस्से में आकर निर्णय करने का समय नहीं; आज का समय अयोध्या की जनता में बुद्धिभेद उत्पन्न करने का समय नहीं; आज का समय महाराज दशरथ की उत्तरावस्था को फजीहत में डालने का समय नहीं। आज का समय तो सत्य-पालन का समय है; धर्म-पालन का समय है; त्याग का समय है; अपनी टेक पर डटे रहने का समय है; यह तो राज-पाट छोड़कर निकल पड़ने का समय है। भैया लक्ष्मण ! जीवन में ऐसे अवसर बार-बार नहीं आते। जब आते हैं, तो थोड़ी भी असावधानी बरतने पर हाथ से निकल जाते हैं। इसलिए खड़े हो जाओ; कौन जानता है कि ऐसे अवसरों के मूल में कौन-सा ईश्वरी संकेत छिपा है ? माता कौशल्या ! शोक मत करो और मुझे वन में जाने की आज्ञा दो। कल सुबह तो फिर तुम्हारा राम तुम्हारे चरणों में आकर खड़ा ही समझो। माता सुमित्रा ! मुझे आज्ञा दो।"

अपनी आंखों के आंसुओं को रोकते-रोकते कौशल्या बोली, "बेटा ! जब तू बोलता है, तो तेरी बात इतनी सच लगती है कि मैं तुझे मना नहीं कर सकती; फिर भी यह दिल तो तुझसे अलग हो नहीं सकता। अपनी इस जीभ से मैं कैसे कहूं कि राम ! तू खुशी-खुशी जा ? किंतु मेरे प्यारे बेटे ! मैं यह भी नहीं चाहती कि तुझे यहां जबरदस्ती पकड़कर रखूं और तेरा सारा जीवन दुखी बना दूं। मैंने तो तेरी जननी के नाते तुझ पर अपने मन की अभिलाषा प्रकट कर दी है। फिर भी अगर खुद तुझी को यह लग

रहा हो कि वनवासी बनना ही है और सत्य का पालन करना ही है, तो मैं बाधक नहीं बनना चाहती।"

राम ने कहा, "बस माता ! बस ! अयोध्या की महारानी के मुंह में शोभा देनेवाली बात आपने कह दी। माता!आपका राम आपसे आशीर्वाद चाहता है।"

कौशल्या बोलीं, "राम ! आशीर्वाद भी कोई मांगने की चीज है ? मां के आशीर्वाद कहीं मांगे जाते हैं ? तू मांगे और फिर मैं तुझे आशीर्वाद दूं ? बेटा ! क्या तूने माताओं के दिलों की थाह कभी ली है ? जिस तरह ईश्वरी दया संसार पर निरंतर बरसती ही रहती है, संसार अभिमुख हो, चाहे विमुख हो; उसी तरह माता के आशीर्वाद पुत्र पर बरसते ही रहते हैं, चाहे पुत्र उन्हें स्वीकार करे या न करे। बेटा ! परमेश्वर तेरी रक्षा करें।"

लक्ष्मण बोले, "मां ! इनके साथ मुझे भी अपने आशीर्वाद दीजिए।"

कौशल्या बोलीं, "क्या तेरे सामने भी धर्म-पालन का प्रश्न आ खड़ा हुआ है? तुम दोनों चले जाओगे, तो क्या इन सूने महलों में मैं और सुमित्रा दोनों लोट लगाएंगी ? शरम नहीं आती, पगले !"

राम ने कहा, "माताजी ! लक्ष्मण भी मेरे साथ चलने को तैयार हो गया है। मैं इसे बहुत-बहुतेरा समझाता हूं, पर यह मानता नहीं है।"

सीता बोलीं, "और मैं भी नहीं।"

राम ने कहा, "हां, सीता भी साथ चलने का हठ कर रही है।"

सुमित्रा बोलीं, "तब तो हमें भी अपने साथ ले चलो।"

राम बोले, "लक्ष्मण और सीता की बात हम सोच लेंगे; किंतु माता सुमित्रा ! आप और माता कौशल्या दोनों तो आज महाराज को छोड़ ही नहीं सकतीं।"

सुमित्रा ने पूछा, "स्वयं महाराज को हमारी कोई आवश्यकता न होने पर भी ?"

राम ने जोर देकर कहा, "हां, तो भी। आज महाराज की मनोदशा बहुत ही अस्वस्थ है। ऐसी मनोदशा के लंबे समय तक चलने पर उसका अशुभ परिणाम भी हो सकता है। आपके लिए यह समय मेरी चिंता करने का नहीं, बल्कि महाराज की चिंता करने का है। आज आप महाराज का

साथ छोड़ नहीं सकतीं।"

सुमित्रा बोलीं, "अच्छी बात है। तो सुनो, लक्ष्मण की मां के नाते मैं तो लक्ष्मण को राम के साथ जाने की आज्ञा देती हूं। मुझे यह पसंद नहीं कि राम अकेले वन में जायं; मेरा लक्ष्मण साथ में होगा तो हमारी आत्मा को भी शांति रहेगी। बेटा लक्ष्मण! तुमने ठीक ही सोचा है। सुमित्रा तुम्हें आशीर्वाद देती है।"

लक्ष्मण बोले, "मां, मेरी मां! तुम धन्य हो! धन्य हो!"

सीता ने कहा, "अब मेरा भी निर्णय कर दीजिए!"

कौशल्या बोलीं, "तू भला वन में कैसे जायेगी?"

सीता ने शांतिपूर्वक कहा, "माताजी! आप मुझ पर क्रोध न करें। मेरे पिता जनक ने ब्याह से पहले मुझे कुछ आर्य-संस्कार दिये हैं; मेरे पिता ने मेरा हाथ आपके राम के हाथ में सौंपा है और मुझसे कहा है कि जहां राम, वहां मैं।"

कौशल्या तिलमिला उठीं। बोली, "सीता! तुझे जंगल के दुःखों का पता नहीं। जन्म से लेकर आजतक तूने ऐसे दुःख देखे नहीं। तू भी चली जायगी, तो मेरा क्या होगा? मैंने तो एक को जाने देने के लिए अपना मन तैयार किया था, लेकिन अब देखती हूं कि मेरा तो सारा घर ही खाली होने जा रहा है।"

सीता ने कहा, "माताजी! मेरा ब्याह कौशल्या-पुत्र रामचंद्र के साथ हुआ है; मैंने अयोध्या की गद्दी के साथ ब्याह नहीं किया। न मेरा ब्याह अयोध्या के महलों से हुआ है और न राजमहल के सुखों या वैभवों से। राम के वनवास के सुख-दुःख में मेरा आधा हिस्सा है; उस दुःख का आधा हिस्सा कोई मुझसे छीनना चाहे, तो मैं उसे सहन नहीं करूंगी। हां, सुख का आधा हिस्सा छोड़ना पड़े, तो भले ही छोड़ दूं! यदि वनवास में दुःख है, तो उस दुःख में मैं राम के साथ ही रहना चाहती हूं।"

सुमित्रा बोलीं, "सीता! वन के दुःखों का तो कोई हिसाब ही नहीं। उस पर तू साथ में जायगी, तो राम को अधिक दुःख होगा। ये दो अकेले रहेंगे, तो सब-कुछ सह लेंगे; लेकिन तू साथ में होगी, तो तुझे संभालने का अधिक कष्ट इन्हें उठाना होगा। हम स्त्री की जात ठहरीं; हमारे लिए

विशेष सुविधाएं करनी होती हैं; हमारी रक्षा का प्रश्न बना रहता है; हम थकें, हारें, हम बीमार पड़ें तो इन्हें बड़ी परेशानी होती है।"

सीता ने कहा, "माता सुमित्रा! बात तो आपकी सच है; किंतु मैं भी विदेहराज की बेटी हूं। मोम की पुतली-सी लगती हूं, मानो थोड़ी धूप लगते पिघल जाऊंगी; लेकिन जब मैं अपने राम और भैया लक्ष्मण के साथ होती हूं, तो मुझमें इतनी शक्ति आ जाती है कि जैसे मैं वज्र की बनी हूं! मान लीजिए कि मेरे कारण राम को कष्ट होगा, तो भी क्या होगा? मुझे यह अच्छा नहीं लगता कि जीवन के ऐसे कठिन अवसरों पर स्त्री के नाते हम अपने पुरुषों के लिए कष्ट-रूप सिद्ध हों। यदि हमारे कोमल जीवन में पुरुषों की कठोरता बाधक नहीं होती, तो पुरुषों के कठोर जीवन में हमारी कोमलता बाधक क्यों मानी जाय? क्या सीता के नाते मुझे अपने राम के लिए उपाधिरूप बनने का अधिकार ही नहीं? हम स्त्रियां पुरुषों के लिए उपाधिरूप हैं या प्रेरणारूप हैं? भैया लक्ष्मण! कुछ कहते क्यों नहीं हो? तुम्हें भी मेरी उर्मिला का अनुभव तो है।"

लक्ष्मण ने कहा, "सो तो बड़े भैया जाने।"

राम बोले, "देवि! तुम्हारी बात तो सच है। यह सोचकर कि तुम्हें वन में दुःख होगा, सहज ही तुम्हें मना करने का मन होता है। किंतु तुम्हारा अधिकार तो मेरे साथ चलने का है ही और मैं उसे स्वीकार भी करता हूं। तुम्हारे चलने से हमारा बाहरी व्यवहार कुछ बढ़ेगा, लेकिन तुम साथ रहोगी, तो हमें वनवास का आनंद भी आयगा न? मां कौशल्या! और तो कुछ नहीं, लेकिन हम दोनों साथ रहेंगे, तो जहां अपनी पर्णकुटी खड़ी करेंगे, वहां जंगल में मंगल मना सकेंगे। मेरे साथ लक्ष्मण और सीता रहेगी, तो मुझे ऐसा लगेगा, मानो, समूची अयोध्या साथ ही चल रही है। पहले मैं ही सीता को मना कर रहा था, लेकिन अब सोचता हूं कि सीता भी साथ चले। एक से दो भले और दो से तीन। आप इसे भी आज्ञा दीजिए।"

कौशल्या ने कहा, "बेटा! जैसी तुम्हारी मरजी!"

राम बोले, "लक्ष्मण! अब तुम दोनों तैयार हो जाओ। मैं तुम्हारी बाट देखूंगा। माता! अब हम महाराज के पास चलें। इस बीच लक्ष्मण और सीता दोनों वहां आ पहुंचेंगे।"

यों कहकर राम, सुमित्रा औरकौशल्या तीनों कैकेयी के महल की ओर चल पड़े। उधर लक्ष्मण और सीता तैयारी के लिए गए।

: ११ :

निषादराज की मैत्री

इंगुदी के पेड़ के नीचे दर्भ के सिंहासन पर बैठे हुए रामचंद्र ने कहा, "सुमंत्र ! क्या आप भी यही मानते हैं कि मेरे मन महाराज के लिए अथवा कोशल के लिए कोई भावना है ही नहीं? मैं आपको कैसे समझाऊं कि जिस समय अपने कोशल की भूमि छोड़कर मैंने पराई भूमि पर पैर रखा, उस समय मेरा हृदय किस तरह फटा जा रहा था ? उस घड़ी से लेकर इस पेड़ के नीचे हमने अपने रथ के घोड़े छोड़े तबतक मैं अयोध्या का ही विचार करता रहा।"

सुमंत्र अपनी आंख के आंसू रोकते हुए बोले, "कुमार ! आप अयोध्या का ही विचार करते रहे होते, तब तो मुझ-जैसे गरीब की बात मानकर आपने अयोध्या को यों अनाथ न किया होता।"

रामचंद्र ने बोलते-बोलते अपना घुटना मोड़ा और कहा, "सुमंत्र ! क्या इस समय आप भी यही कहेंगे ? आप अयोध्यापति के रथ के घोड़ों को हांकनेवाले सारथी-भर नहीं हैं। आप तो अयोध्यापति के जीवन-रक्षक हैं और कोशल राज्य के कल्याण-रक्षक भी हैं। अयोध्या की गद्दी की लाज आपके हाथ में है। सुमंत्र ! मेरा मन ही जानता है कि मैं समूचे कोशल के साथ कितने कोमल किंतु अटूट तार से बंधा हूं। इस समय जबकि मैं निषादों की इस भूमि पर खड़ा हूं, मुझे लग रहा है, मानो मेरी धन-धान्य-भरी धरा मुझे पुकार रही हो। बादलों के साथ बात करनेवाले अयोध्या के महल, स्फटिक से जड़े अयोध्या के रास्ते, समूचे संसार का कार-भार चलाने की शक्तिवाले अयोध्या के वे मंत्री, अयोध्या का महाजन-मण्डल, कोशल का

वह निरभ्र आकाश, कोशल की वे शांत और प्रसन्न रातें, कोशल के वे वृक्ष और पक्षी, मेरे गांवों में रहनेवाले भोले और मेहनती स्त्री-पुरुष, मेरे तपोवनों में अदृश्य रहकर कोशल की संस्कृति को तेजस्वी बनाए रखनेवाले ऋषियों की मण्डलियां, इन सबको मैं तो ठीक, पर कोई भी कोशलवासी कभी भूल नहीं सकता। ये सब मेरी आंखों के सामने घूम रहे हैं। मैं इन्हें छोड़ना चाहूं, तो भी ये मुझे छोड़ नहीं सकते।"

सुमंत्र ने कहा, "रामचंद्र ! ये सब अपनी जगह मौजूद थे, फिर भी इन सबको रोता-विलखता छोड़कर आप निकल पड़े, इससे तो मुझे लगता है कि आपके मन में इन सबकी कोई कीमत नहीं है।"

रामचंद्र बोले, "कोशल के शुभचिंतक सुमंत्र ! मेरे मन में इन सबका बड़ा मूल्य था, इसीलिए तो मैं निकल पड़ा। महाराज दशरथ, उनका कोशल, उनकी अयोध्या, ये सब मेरी दृष्टि में इतने अधिक पूज्य और पवित्र हैं कि मैं असत्य का आश्रय लेकर इन सबसे चिपटा रहूं, तो ये सब कलंकित हो जायं। सुमंत्र ! कोशल के ऐसे जबरदस्त आकर्षण के मूल में तो कोशल की पवित्रता, कोशल की तेजस्विता और कोशल का तप समाया है। एक बार मुझ-जैसा व्यक्ति उस पवित्रता को दाग लगा दे, एक बार मुझ-जैसा व्यक्ति उस तेजस्विता को धुंधला बना दे, तो समझ लो कि फिर युगों-युगों के लिए कोशल उजड़ ही जाय, फिर भले कोशल का बाहरी वैभव आज से कहीं अधिक क्यों न हो जाय। सुमंत्र ! यह कहना ही सही नहीं है कि मैं महाराज को या अयोध्या को छोड़कर वन में जा रहा हूं। मैं तो अयोध्या के वर्चस्व को अखंड रखने के लिए वन में जा रहा हूं; मैं तो कोशल की तेजस्विता की रक्षा के लिए वन में जा रहा हूं; मैं तो रघुकुल की सत्यनिष्ठा को टिकाए रखने के लिए वन में जा रहा हूं। सुमंत्र ! राम वन में जा रहा है, क्या इसी कारण वह अयोध्या का पुत्र नहीं रहनेवाला है ? मुझे तो आशा है कि आज वन में जाकर मैं अपनी मातृभूमि को और अधिक सुशोभित करूंगा। सुमंत्र ! आप मेरी इस बात को भलीभांति समझ लीजिए और फिर अयोध्या के महाराज को, मेरी माताओं को और अयोध्या की जनता को भी इसे समझाइए।"

सुमंत्र ने रोते-रोते कहा, "रामचंद्र ! आप जब बोलने लगते हैं, तो

ऐसा मालूम होता है, मानो आपके मुंह से वेदवाक्य झड़ रहे हों। इसलिए मैं तो निरुत्तर हो जाता हूं। लेकिन आपका जाना मेरे मन को तनिक ठीक नहीं लग रहा है।"

रामचंद्र बोले, "कई सच्ची बातें प्रारंभ में हमें विष की भांति कड़वी लगती हैं, लेकिन अंत में वे ही मीठी सिद्ध होती हैं। इसलिए हमारे ऋषि-मुनि सत्य के मार्ग को तलवार की धार का-सा मार्ग कहते रहे हैं। सुमंत्र ! जब मैंने अयोध्या छोड़ी, मेरा दिल बहुत ही भारी हो गया था, लेकिन अब आज वह फूल की तरह हलका बन चुका है। मैं इस विचार-मात्र से अपने हृदय में तृप्ति का अनुभव करता हूं कि रघुकुल की सत्यनिष्ठा पर दृढ़ रहकर मैंने अपने धर्म का पालन किया है। इसके कारण यह वनवास एक अनोखा ही रूप धारण करके मेरी आंखों के सामने उपस्थित होता है। सुमंत्र ! आप व्यर्थ शोक करना छोड़ दीजिए और सुखपूर्वक अयोध्या वापस जाइए।"

सहज स्वस्थ होकर सुमंत्र ने कहा, "कुमार ! मेरे लिए कोई विशेष आज्ञा है ?"

रामचंद्र बोले, "आप रथ के साथ यहां से वापस जाइए। अब इसके आगे हम पैदल जायंगे। महाराज के आग्रह के कारण हम यहां तक रथ में बैठकर आए। अब आप लौट जाइए।"

सुमंत्र ने पूछा, "लेकिन क्या देवी सीता पैदल चल सकेंगी ?"

राम ने कहा, "वे जितनी दूर चल सकेंगी, हम उतना ही चलेंगे और नहीं चल सकेंगी, तो रुक जायंगे।"

सुमंत्र ने पूछा, "क्या यह खाली रथ मुझे अयोध्या वापस ले जाना होगा ?"

रामचंद्र ने कहा, "सुमंत्र ! आज तो यही करना होगा। इस रथ को और इन घोड़ों को लेकर आप भरत को लिवाने जायंगे, तो यह रथ खाली नहीं, भरा लगेगा। सुमंत्र ! अब हमारे नदी पार करने का समय हो चुका है। महाराज को, मेरी माताओं को, गुरु वसिष्ठ को हमारे प्रणाम पहुंचाइए। अब आप यह समझ लीजिए कि महाराज का सारा भार आप पर है।"

रामचंद्र ने सुमंत्र को बिदा किया। उन्होंने रोते-रोते रथ को अयोध्या

के रास्ते मोड़ा।

... ...

गुह ने पूछा, "महाराज ! रात नींद तो अच्छी आई न ?"

रामचंद्र बोले, "हां बड़ी मीठी नींद आई।"

गुह ने मुस्कराते हुए कहा, "मिठास का तो क्या कहना था ? हमारी यह कड़ी जमीन, दर्भ की शय्या, सिर पर आकाश का चंदोवा और सियारों का संगीत—इन सबके बीच मीठी नींद न आये, तो और कहां आये ?"

रामचंद्र कहने लगे, "निषादराज ! बात ऐसी नहीं है। आपको पता नहीं कि राजवंशियों का नींद से कितनी दूर का नाता रहता है। राजमहल की हवा में ही कुछ ऐसा है कि जो उस हवा में रह लेता है, उसकी नींद उड़ जाती है। हम राजवंशियों को तो नींद की न जाने कितनी मनहार करनी पड़ती है, उसे फुसलाना पड़ता है और जब इतने पर भी वह आती नहीं है, तो बनावटी उपायों से झूठी नींद लेकर मन को समझाना पड़ता है। लेकिन आज तो नींद मुझे खोजती हुई आई। क्यों, सीता ! मैं ठीक कह रहा हूं न ?"

सीता बोलीं, "मैं तो रात होते ही सो गई थी। बस, अभी-अभी जागी हूं।"

गुह ने कहा, "क्या कहती हैं ? आपकी तो मैं नहीं जानता; किंतु मुझे पता है कि सबसे बढ़िया नींद तो लक्ष्मण ने ली है।"

रामचंद्र ने पूछा, "क्यों भैया, ये गुह क्या कह रहे हैं ?"

लक्ष्मण बोले, "जो इन्हें मालूम है, वही ये कहते हैं।"

गुह ने कहा, "वह रहा पेड़ का वह ठूंठ और यह रही इनकी लाठी और यह रही वज्र से बनी इनकी काया ! मैंने बार-बार इनसे प्रार्थना की कि आप सो जाइए, हम सब सारी रात जागकर पहरा देंगे; पर ये क्यों मानने लगे ? ये आपके भाई जो ठहरे !"

रामचंद्र बोले, "भैया गुह ! मैंने आप लोगों का लाया पानी नहीं पिया, आपके लाये फल नहीं खाये, आपकी दी हुई शय्या पर नहीं सोया, तो फिर मेरा ही भाई आपके पहरे को कैसे स्वीकार कर सकता है ?"

गुह ने कहा, "हम निषादों के भाग्य भी तो ऐसे ही हैं न ! कुमार !

हमारा दुर्भाग्य ही यह है कि हम आर्य नहीं हैं।"

रामचंद्र ने गुह के कंधे पर हाथ रखते हुए कहा, "निषादराज ! क्या आप यह समझते हैं कि आप निषाद हैं और मैं आर्य हूं, इसलिए मैंने आपकी दी हुई वस्तुएं स्वीकार नहीं कीं ? गुह ! ऐसी कोई बात नहीं है। मैंने तपस्वी का धर्म स्वीकार किया है, इसलिए हमें स्वयं श्रम करके ही जीना चाहिए। क्या आप निषाद आर्यों की तुलना में तनिक भी कम हैं ? क्या आर्य रंग में अधिक गोरे हैं, इसीलिए वे आपसे ऊंचे बन गए ? क्या आर्य अधिक लच्छेदार भाषा में बोलते हैं, इसीलिए वे आपसे श्रेष्ठ बन गए ? क्या आर्य वेद के मंत्रों द्वारा अग्नि में आहुतियां देते हैं, इसलिए वे आपसे बढ़कर हैं ? क्या आर्य आपकी तुलना में अधिक भोग-विलास करना जानते हैं, इसीलिए वे आपसे श्रेष्ठ हैं ?"

गुह बोले, "कोशल कुमार ! आप यह सब कहते हैं, सो आपका बड़प्पन है। हम तो जंगल के जीव ठहरे ! हमारे शरीर काले, हमारी जीभ मोटी, हमारा रहन-सहन जंगली, हमारी रीति-नीति गंवारू, हमारे रस्म-रिवाज सादे और अनघड़ और हमारा आहार कच्चा-पक्का है। इसी कारण हम आर्यों के मंडल से बाहर रहते हैं और दूर से उनकी यत्किंचित् सेवा करके संतोष मानते हैं।"

रामचंद्र गंभीर होकर बोले, "निषादराज ! आपकी ये बातें सुनकर मैं सोच में पड़ गया हूं।"

गुह ने कहा, "कुमार ! मैं सच ही कह रहा हूं। आप यह समझिए कि मैं आपका दास हूं। आप मेरे अधिपति हैं। आपकी सेवा करके मैं कृतार्थ हो लेना चाहता हूं।"

रामचंद्र बोले, "गुह ! सवाल केवल सेवा लेने-देने का नहीं है। इतने वर्षों तक, इतने नजदीक रहने के बाद भी, यदि आर्य और निषाद एक-दूसरे से अलग ही बने रहे हैं, तो मैं कहता हूं कि आर्य-संस्कृति ने अपना दिवाला ही निकाला है। इन तपोवनों में इतने सारे ऋषि-मुनि आश्रम बनाकर रहते हैं, क्या आप कभी उनके पास जाते हैं ? ये तपस्वी भी तो आपके बीच कई बार आते-जाते होंगे ?"

गुह कहने लगे, "रामचंद्र ! जब इन ऋषि-मुनियों के बड़े-बड़े यज्ञ

होते हैं, तो हम दर्शनों के लिए जरूर जाते हैं। हम तो जंगल के रहनेवाले हैं। भला हम यज्ञ-याग को क्या समझें ? वहां जाकर ऋषिबाबा के पैर छूते हैं, अग्निदेव के दर्शन करते हैं, दो-एक अच्छी चीजें साथ में ले जाते हैं, तो उनके चरणों में चढ़ा देते हैं, वे कोई काम बताते हैं तो उन्हें कर देते हैं और आशीर्वाद लेकर वापस चले आते हैं। आश्रम में जाने पर ऋषि-बाबा के विद्यार्थी हमारे बाल-बच्चों को दुत्कार-फटकार भी देते हैं। भैया, समझो कि अपने दिल की बात कह रहा हूं।"

रामचंद्र बोले, "गुह ! आपकी ये सारी बातें सुनकर मुझे बड़ा दुःख हो रहा है।"

गुह ने पूछा, "क्यों ? ये सब तो यहां तप करने आते हैं, और, हम तो दुनियादार लोग ठहरे। कभी-कभी कुछ गहराई से सोचते हैं, तो हमें बुरा भी लगता है, किंतु अब हम इसके आदी हो गए हैं और इन्हें भी यही सध गया है ! हां, हमारे नौजवान कभी-कभी जरूर उबल पड़ते हैं। इन्होंने तो अब उधर जाना ही बंद कर दिया है।"

रामचंद्र गंभीर होकर बोले, "गुह, निषादराज ! अपना दाहिना हाथ बढ़ाइए। 'मैं अपना यह दाहिना हाथ निषादराज के दाहिने हाथ में रखता हूं और घोषित करता हूं कि रघुकुल का राम निषादराज गुह का मित्र है।" यों कहकर रामचंद्र ने अपना दाहिना हाथ गुह के दाहिने हाथ में रखा और बोले, "लक्ष्मण ! हमारी इस मैत्री का तू साक्षी है; वैदेहि ! तुम भी हमारी इस मैत्री की साक्षी हो। लक्ष्मण ! अपनी ही भूमि पर बसे अपने इन भाइयों से हम आर्य दूर रहे, इसी का परिणाम है कि आज हम इतने निर्वीर्य बन गए हैं। तुमने इन ऋषि-मुनियों की बात सुनी ? ये ऋषि-मुनि अपने ही पड़ोस में रहनेवाले इन भाइयों को दुत्कारें-फटकारें, तो क्या आश्चर्य कि राक्षस इन्हें खा जायं ? ये ऋषि-मुनि इस प्रदेश में आकर इन लोगों के बीच ज्ञान का प्रकाश फैलावें, इन लोगों को संस्कारी बनाने का प्रयत्न करें, इनका रहन-सहन सुधारें, तभी तो इन आश्रमों का कोई अर्थ है, अन्यथा ऐसे जड़ धर्मवाले अखाड़ों का उपयोग ही क्या ?"

गुह बोले, "कुमार ! यह न समझिए कि मैं आपसे ऋषि-मुनियों की चुगली कर रहा हूं।"

राम ने कहा, "इसमें चुगली की तो कोई बात ही नहीं है। आपने तो हमारी आंखें खोल दीं। फिर आप अकेले तो हैं नहीं। आप निषाद हैं, ये गृद्ध हैं, ये वानर हैं, ये ऋक्ष हैं, ये नाग हैं, ये सर्प हैं, और ऐसे दूसरे कई लोग इस भूमि में बसे हैं। आज ये सब अलग-अलग, जहां-तहां, बिखरे पड़े हैं, इसीलिए तो राक्षस इन सबको सताने की हिम्मत करते हैं। अगर हम आर्य हैं, तो हमें आप सबको अपने वर्ग में शामिल कर लेना चाहिए।"

गुह ने दोनों हाथ जोड़कर कहा, "कुमार राम ! मुझे क्षमा कीजिए। ये ऋषि तो हमसे कहते हैं कि हम अनार्य हैं, इसलिए अगर ये हमारे साथ घुलेंगे-मिलेंगे, तो हलके बन जायंगे। ये तो अपने आश्रमों में हमारे बालकों को पढ़ाते भी नहीं।"

रामचंद्र निःश्वासपूर्वक बोले, "निषादराज ! इस प्रकार की मनःस्थिति ही रोगी मनःस्थिति होती है। आर्य अपने आर्यत्व पर दृढ़ रहें, और इस आर्य भावना के बल से आपके समान दूसरी जातियों की भी जितनी बन सके उतनी सेवा करें, तो उनका आर्यत्व अधिक तेजस्वी बनेगा और आप लोग भी दो-चार पीढ़ियों में आर्य बन सकेंगे। यदि यह न हो पावे, तो हम सबके एक-दूसरे के अधिक निकट आने पर हमारी कोई नई जाति उत्पन्न हो सकती है। यदि यह भी न हुआ और हम ब्राह्मण तथा क्षत्रिय आपको अपने से दो हाथ दूर ही रखते रहे, तो हम सबके शत्रु ये राक्षस आज आपको सतावेंगे तो कल हमें सतावेंगे, और परसों हम सबको अपनी इस भूमि पर ही अपना दास बना लेंगे। निषादपति ! यह न समझिए कि मैंने अपना हाथ आपके हाथ में केवल भावनावश होकर रखा है। मैं चौदह वर्षों के वनवास के लिए निकलते समय मन में यही सोच रहा था कि मुझे वन में ये चौदह वर्ष किस प्रकार बिताने हैं। इन ऋषि-मुनियों को राक्षसों के त्रास से मुक्त कराने का एक काम तो मेरे सामने है ही। इसी हेतु से अपने इस वनवास के दिनों में मैं तपस्वियों के आश्रमों में स्वयं घूमूंगा और इन आश्रमों की स्थिति से परिचित होना चाहूंगा। आज वनवास के इस मंगलाचरण में ही आपके साथ संपर्क हुआ। आपके साथ की बातचीत को ध्यान में रखकर मैं वनवास-काल का अपना दूसरा कार्य भी निश्चित करता हूं। इन चौदह वर्षों के बीच, मैं आपके

समान जो अनेकानेक अनार्य इस देश में फैले पड़े हैं, उनसे अपना परिचय बढ़ाऊंगा और अपनी मर्यादा में रहकर उनके साथ मित्रता के संबंध स्थापित करूंगा। मैं तो समझ रहा था कि विंध्याचल के उत्तर और दक्षिण में जो बड़े-बड़े आश्रम चल रहे हैं, वे सब आपके समान लोगों को अधिक संस्कारी बनाने का काम भी करते होंगे।"

गुह बोले, "महाराज ! आप यह न मानिए कि ऐसे मुनि भी नहीं हैं। दूर-सुदूर विंध्याचल के वनों में अगस्त्य का आश्रम है। आप वहां जाकर देखेंगे, तो आपको पता चलेगा कि समूचे दक्षिण प्रदेश में अगस्त्य ने अपना तेज फैला दिया है। जब दूसरे सब ऋषि राक्षसों से डर कर आपके समान लोगों की शरण खोजते हैं, तब अगस्त्य की स्थिति यह है कि वे स्वयं वातापि राक्षस को ही हजम कर गए और इल्वल को उन्होंने मार डाला। कहा जाता है कि विंध्याचल पर्वत को लांघने में इन ऋषि को भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, किंतु इन्होंने उन कठिनाइयों की परवाह नहीं की और आखिर विंध्याचल को लांघकर समूचे दक्षिण देश का मार्ग आप आर्यों के लिए खोल दिया।"

रामचंद्र ने कहा, "मैंने महात्मा अगस्त्य का नाम सुना है और मैं उनके दर्शन भी करना चाहता हूं। गुह, भैया ! अब हमारे लिए नदी पार करने का समय हो चुका है। नौकाएं तैयार हों, तो अपने लोगों को आदेश दो, जिससे वे हमें उस किनारे पहुंचा दें।"

गुह ने सिर झुकाकर कहा, "जैसी आज्ञा ! आप पधारिए, नौका तैयार है।"

राम ने कहा, "लक्ष्मण, वैदेही ! चलो, उठो। लक्ष्मण ! तुम पहले सीता को नाव में चढ़ा दो, फिर स्वयं चढ़ जाओ। मैं सबके बाद चढूंगा। निषादराज ! मैं आपकी आज्ञा चाहता हूं।"

गुह बोले, "कुमार राम, कुमार लक्ष्मण ! मेरी सेवा में कोई कमी रह गई हो, तो मुझे क्षमा कीजिए। देवी, माताजी ! जब वनवास पूरा करके लौटें, तो मेरे इस घर को पवित्र करना न भूलें। रामचंद्र ! मैंने आपके इन आर्य लोगों के बारे में आपसे जो कुछ कहा है, उसे आप भूल जाइए। हम तो आर्यों के दास हैं और रहेंगे।"

रामचंद्र ने हँसते-हँसते कहा, "निषादराज ! आपने जो कुछ कहा है, उसे मैं अपने ऊपर आपका उपकार मानता हूं। भले ही आज आपकी बात एक छोटी-सी बदली-जैसी दीखती हो, लेकिन यदि समय पाकर वही बदली समूचे आसमान को घेर ले तो ? मैं देखता हूं कि इसमें आर्यों के विनाश के बीज छिपे पड़े हैं। गुह ! हम सब एक ही भारत के बालक हैं। यदि हम इसे आज न समझ सके, तो मुझे संदेह नहीं कि राक्षसों के हाथों हमारा विनाश होकर रहेगा। इसलिए आप अपने मन में परेशान न हों। आपने मुझसे जो कुछ कहा है, सो उचित ही है। अच्छा, तो अब हम नाव में बैठ जायं ?

"देवि ! सुखपूर्वक पधारिए। लीजिए, यह मेरा हाथ थाम लीजिए।" यों कहकर गुह ने सीता को हाथ का सहारा देकर उन्हें नाव पर चढ़ा दिया, बाद में लक्ष्मण और रामचंद्र दोनों गुह से गले मिले और हर्ष के आंसू बहाते हुए अलग होकर नाव पर चढ़ गए।

"जय राम, जय लक्ष्मण, जय सीता देवी !"

"जय राम, जय लक्ष्मण, जय सीता देवी !"

तीनों व्यक्तियों ने नाव में खड़े-खड़े गुह को नमस्कार किया और गंगा के नीर को चीरती हुई नाव तेजी से चल पड़ी। देखते-देखते नाव दूर के आकाश में एक बिंदु-सी बन गई, तबतक गुह किनारे पर ही खड़े रहे और नाव की ओर ताकते रहे।

राम, लक्ष्मण, सीता, गए,...गए...गए ! कोई बतायेगा कहां गए ? हां, अनजान बियाबान में गए, किसी अदृष्ट स्थान की ओर गए, किसी अस्पष्ट ध्येय की ओर बढ़े, तीनों महामानवों ने किसी अज्ञात भविष्य की दिशा में प्रयाण किया।

: १२ :

अगस्त्य का आदेश

वृद्ध तपस्वी बोला, "कुमार ! इस आश्रम की नींव में ऋषि का तपोबल उंडेला गया है।"

अगस्त्य ऋषि के आश्रम की एक पर्णकुटी में रामचंद्र, लक्ष्मण और आश्रम का एक वृद्ध तपस्वी तीनों बैठे थे। सीता पास के बगीचे में फूल बीन रही थी। अगस्त्य ध्यान लगाये बैठे थे, इसलिए राम-लक्ष्मण उनके दर्शन करने की बाट जोह रहे थे।

रामचंद्र ने कहा, "कितना सुंदर आश्रम है ! हमने आज तक अनेकानेक आश्रम देखे हैं, किंतु ऐसा तेजस्वी आश्रम तो आज पहली ही बार देख रहे हैं। देखो न, ये हरे-भरे वृक्ष किस तरह डोल रहे है ! सूर्य के प्रकाश में इनके रस भरे पत्ते कैसे चमक रहे हैं ?"

लक्ष्मण बोले, "समूचे आश्रम पर एक प्रकार का ओजस नाच रहा है।"

तपस्वी कहने लगा, "कुमार ! आप कुछ साल पहले आए होते, तो आपको यह स्थान बिलकुल वीरान मिलता।"

लक्ष्मण ने कुतूहलपूर्वक कहा, "अच्छा ऐसी बात है ?"

तपस्वी बोला, "अरे भाई ! कुछ पूछिए नहीं ! इस सारे स्थान में झड़बेरी लगी थी और चारों ओर बड़े-बड़े गड्ढे-टीले थे।"

रामचंद्र ने पूछा, "आप यहां कब आए थे ?"

तपस्वी ने कहा, "मैं तो बहुत छोटी उमर में आ गया था। ऋषि के साथ हम चार व्यक्ति अपने मूल स्थान से ही चले थे। मेरे तीन मित्र अपनी तपश्चर्या पूरी करके समाधि ले चुके हैं और अब मैं भी उसी की तैयारी कर रहा हूं।"

रामचंद्र बोले, "तो यों कहिए न कि यह सारा आश्रम आप ही ने खड़ा किया है ?"

जवाब में तपस्वी ने कहा, "हमने नहीं, ऋषिबाबा ने किया है।"

लक्ष्मण ने पूछा, "लेकिन आप भी तो उनके साथ हैं न ?"

तपस्वी बोला, "हम तो बाबा के मजदूर ठहरे !"

रामचंद्र ने कहा, "और बाबा आपके इंजीनियर ?"

तपस्वी बोला, "कोरे मजदूर भी नहीं और कोरे इंजीनियर भी नहीं। कहिए कि मजदूर-इंजीनियर !"

रामचंद्र ने पूछा, "और, आप सबने यहां यह आश्रम खड़ा किया ?"

तपस्वी ने व्याकुल होकर कहा, "आप बार-बार यह क्यों पूछ रहे हैं? हम आश्रम खड़ा न करते, तो यहां आते ही क्यों ?"

लक्ष्मण ने पूछा, "क्या अगस्त्य ऋषि यहां मजदूरी करते थे ?"

तपस्वी बोला, "क्यों, आपको आश्चर्य हो रहा है ?"

लक्ष्मण ने फिर पूछा, "आश्चर्य इसलिए हो रहा है कि अगस्त्य तो ऋषि महाराज हैं। अगर वे मजदूरी करते हैं, तो फिर तपश्चर्या कब करते होंगे ? ध्यान के लिए कब बैठते होंगे ? होम-हवन कब करते होंगे ? और शिष्यों को वेद कब पढ़ाते होंगे ?"

तपस्वी हँस पड़ा और बोला, "ओ...हो...हो ! अब मैं आपकी बात समझा। क्या आप यह समझते हैं कि आसन लगाकर बैठना, आंखें मूंदना या आंखों को नाक की डंडी पर टिकाकर भद्रमुद्रा के साथ घुटनों पर हाथ रखना, इसी का नाम तपश्चर्या है, और दिन में आठ घंटे कुदाली-फावड़ा चलाकर मजदूरी करना तपश्चर्या नहीं है ?"

लक्ष्मण ने जवाब दिया, "अकेला मैं ही ऐसा समझा हूं, सो बात नहीं। पिछले दस सालों में हमने जो बहुत से आश्रम देखे, उनमें रहनेवाले लगभग सभी ऋषि-मुनि यही समझते हैं।"

तपस्वी बोला, "इसीलिए राक्षस उन आश्रमों में हैरानी पैदाकर पाते हैं ! जबसे हम यहां आए हैं, अगस्त्य भगवान हमारे कानों में एक ही मंत्र फूंकते रहे हैं कि शरीर से पसीना बहानेवाली मेहनत के बिना कोरी तपश्चर्या बांझ है। यहां आने के दिन से ही हम सब हर रोज सात-आठ घंटे तक ऐसी मेहनत करते हैं।"

लक्ष्मण ने पूछा, "और तपश्चर्या कब करते हैं ?"

तपस्वी बोला, "यह मजदूरी ही तपश्चर्या है ! कुमार ! साधारण लोग शरीर-श्रम को और तपश्चर्या को अलग-अलग मानते हैं, इसलिए मेहनत छोड़कर अकेली तपश्चर्या के पीछे दौड़ते हैं। ऋषि बाबा ने तो हमें वेद में पढ़ाया है कि मेहनत करो और उस मेहनत को प्रभु के चरणों में चढ़ा दो, तो वही तपश्चर्या बन जाती है। मेहनत करते समय भी हमें एक ऐसी शांति का अनुभव होता है, मानो हम किसी अगम्य तत्त्व की उपासना कर रहे हों।"

लक्ष्मण बोले, "इस मेहनत से आपमें जड़ता नहीं आती ?"

तपस्वी ने कहा, "जड़ तो हम हैं ही। लेकिन हम यह अनुभव करते हैं कि इस प्रकार की मेहनत से हम अधिक तेजस्वी बनते हैं।"

रामचंद्र ने पूछा, "तो क्या आपको ध्यान आदि कुछ करना ही नहीं होता ?"

तपस्वी बोला, "ध्यान न करें, तो समझिए कि मर ही जायं। हमारी मजदूरी के पीछे प्रभु का बल न हो, तो हम समाप्त ही हो जायं ! इस बल का विचार निरंतर चलता रहे और हमारे दिलों पर जड़ता न आ जाय, इसके लिए प्रतिदिन थोड़ा ध्यान तो हम करते ही हैं। रोज ऐसा ध्यान करके हम अपने मन पर चढ़े विष को उतार देते हैं। ध्यान केवल इसी के लिए होता है।"

राम ने पूछा, "तो क्या यह आश्रम आपने अपनी मेहनत से बनाया है ?"

तपस्वी ने जवाब दिया, "कुमार ! उधर वह पीपल का जो पेड़ है, जिसकी बगल से होकर आप इस आश्रम की तरफ मुड़े थे, बाबा ने उसे पहले पहल लगाया। फिर हम चारों मित्रों ने खोद-खोदकर इस जमीन को समतल बनाया। इस पर्णशाला के स्थान पर एक बहुत बड़ा गड्ढा था। उसे भरने में हमें पूरे बीस दिन लगे। उसके बाद हमने इस स्थान पर बाबा के लिए एक झोंपड़ी खड़ी की। यह हमारी सबसे पहली पर्णकुटी है। बाद में शिष्यों के लिए ये निवास बने, यह गोशाला बनी, यह ध्यान-गृह बना, यह कथा-स्थान बना और यह वेदशाला बनी। इन सब भवनों का अपना एक छोटा-छोटा इतिहास है।"

लक्ष्मण ने पूछा, "इन सबमें से आपने ख़ास कौन-सा मकान बनाया ?"

तपस्वी ने जवाब दिया, "कुदालियां, फावड़े, सांग, सब्बल आदि औजार रखने की यह झोंपड़ी मैंने और बाबा ने मिलकर बनाई थी। राक्षस भी ऐसे चतुर कि दूसरे किसी मकान पर न जाकर वे इस झोंपड़ी पर ही झपटते और हमारे औजार उठाकर ले जाते।"

रामचंद्र ने पूछा, "क्या राक्षस अब भी आते हैं ?"

तपस्वी ने कहा, "अब तो क्या आयंगे ? एक बार बाबा एक बड़े राक्षस को हजम कर गए, तबसे उन सबने इधर आना ही छोड़ दिया है। शायद आपको इस बात का पता न होगा।"

रामचन्द्र बोले; "इल्वल और वातापि की बात ? निषादराज गुह ने हमें यह बात सुनाई थी।"

तपस्वी ने कहा, "ठीक है, लेकिन उस दिन से यह सारा प्रदेश निर्भय बन चुका है।"

रामचंद्र ने पूछा, "ऋषि बाबा ध्यान से कब उठेंगे ?"

तपस्वी हड़बड़ाकर बोला, "अरे, मैं तो बातों में उलझ गया और सब कुछ भूल गया। बाबा तो हमारी बाट जोह रहे होंगे। बीच में एक शिष्य आकर मुझसे कान में कह गया था कि ऋषि का ध्यान पूरा हो चुका है, सीता वहां पहुंच गई हैं, तुम राम-लक्ष्मण को लेकर आओ। लेकिन मैं बातचीत में भूल ही गया। चलिए, हम सब बाबा के पास चलें।" तीनों व्यक्ति उठकर अगस्त्य के ध्यान-गृह की ओर चल पड़े।

... ...

ध्यान-गृह के एक छोटे कमरे में अगस्त्य ऋषि बैठे थे। योग की विधि के अनुसार उनका आसन जमीन से कुछ ऊंचा था और उस पर दर्भासन, मृगचर्म और उनका आसन बिछा था। समाधि से उठने के बाद उन्होंने दोनों घुटनों को आड़ा रखकर कर्मयोगी का नया ही आसन लगा लिया था। उनके सिर पर सफेद जटा शोभा दे रही थी; उनकी सफेद दाढ़ी उनकी छाती पर एक अद्भुत गंभीरता व्याप्त कर रही थी; उनकी आंखों में अदम्य तेज और असाधारण निश्चय बल के दर्शन होते थे। उनका ललाट काफी चौड़ा था; उनके सारे चेहरे पर इस आयु में भी कर्मठ कर्म-

वीर की रेखाएं स्पष्ट दीखती थीं। ऐसा लगता था मानो उनकी भुजाओं पर, उनके पैरों की पिंडलियों पर, उनकी छाती पर, उनके पेट पर, आनंद-परिपूरित श्रम-जीवन की ताजगी सदा लहराती रहती हो। उनकी बगल में ही सीता देवी इस तरह बैठी थीं; मानो मां की गोद में छिपकर बैठी हों।

"आइए, आइए, राघवकुमार ! आइए। सीता देवी तो कभी की आ गई हैं।"

दोनों कुमारों ने ऋषि के चरणों में सिर झुकाए और रामचंद्र बोले, "हम थोड़े बातों में बह गए थे, इस कारण हमें आपके ध्यान से निवृत्त होने का पता नहीं चला। क्षमा कीजिए।"

अगस्त्य बोले, "इस बातूनी ने अपनी बातों की झड़ी लगा दी होगी। इसे तो रोको, तब भी यह रुकता नहीं।"

वृद्ध तपस्वी ने कहा, "अब जो थोड़े दिन शेष रहे हैं, उनमें तो मुझे जितना भौंकना हो, भौंक ही लेने दीजिए !"

अगस्त्य हँसे और बोले, "देखा, कैसा है मेरा साथी !"

राम ने कहा, "आपका साथी, आपका आश्रमवासी, आपका शिष्य आपके साथ इतने आनंद से बातें कर सकता है और इतनी शक्ति के साथ काम कर लेता है, यह देखकर मैं तो चकित हो गया हूं।"

अगस्त्य बोले, "रामचंद्र ! हम ऐसा आनंद-विनोद न करते, तो हमारा कर्मयोग बहुत पहले ही जड़ बन चुका होता। हम एक-दूसरे के साथ ऐसा निर्दोष विनोद कर सकते हैं, इसीलिए हमारी कठिन-से-कठिन तपश्चर्या भी सरल बन जाती है। हमारे आश्रम-जीवन में कई बार लू-लपट से धधकती गरम हवाएं भी चली हैं; किंतु उन अवसरों पर भी ऐसे निर्दोष हास्य-विनोद ने शीतल जल की फुहारें बरसाई हैं।"

तपस्वी बोला, "महाराज ! अब मुझे आज्ञा दें, तो मैं जाऊं।"

अगस्त्य ने कहा, "जाओ, अब इन मेहमानों को मैं संभाल लूंगा।"

फिर राम की ओर मुड़कर बोले, "रामचंद्र ! आप तीनों सकुशल तो हैं ? आपकी बहुत-सी बातों से तो मैं परिचित था ही; जो शेष था, सो देवी ने आकर पूरा किया। मैं तो बहुत दिनों से आपकी बाट जोह रहा था।"

रामचंद्र कहने लगे, "महाराज! आज-कल करते-करते हमें अयोध्या छोड़े दस वर्ष बीत गए।"

अगस्त्य बोले, "इन दस वर्षों में आपको वनवास का काफी अनुभव हुआ होगा।"

राम ने कहा, "गुरुदेव ! अनुभव नहीं; पुण्य लाभ समझिए। शुरू में एकाध वर्ष तो हम चित्रकूट पर रहे।"

अगस्त्य ने आश्चर्यपूर्वक पूछा, "एक ही वर्ष ? वह प्रदेश तो बहुत रमणीय है; इस पर भरद्वाज जैसे ऋषि भी वहां थे, इसलिए सहज ही अधिक रहने की इच्छा हो सकती है।"

रामचंद्र बोले, "प्रदेश तो इतना रमणीय है कि चौदहों वर्ष वहीं बिताने की इच्छा थी, किन्तु कुछेक बातों के कारण मन वहां से उचट गया।"

अगस्त्य ने पूछा, "ऐसी क्या बात हो गई ?"

राम ने कहा, "एक तो यह कि जब हम चित्रकूट में रहते थे, तो भरत मुझे वापस अयोध्या ले जाने के लिए वहां आया।"

अगस्त्य बोले, "हां, यह सारी बात तो मैंने सुनी है।"

राम ने कहा, "इससे हमें यह डर लगा कि ओयध्या के लोग समय-समय पर यहां आते-जाते रहेंगे और उस दशा में हमारा वनवास अर्थहीन हो जायगा !"

अगस्त्य बोले, "यह कोई ऐसा कारण नहीं था कि जिससे चित्रकूट-जैसी जगह छोड़नी पड़े।"

सीता ने कहा, "उन कुलपति की बात कहिए न ?"

राम ने खुलासा करते हुए कहा, "किंतु असली और बड़ा कारण तो यह था कि हमारे वहां जाने और रहने से हम आसपास के ऋषि-मुनियों के लिए त्रासरूप वन गए।"

अगस्त्य ने पूछा, "आप त्रासरूप कैसे बन सकते हैं ?"

सीता कहने लगीं, "भगवन् ! बात यों हुई कि वहां जो अलग-अलग ऋषि-मंडल वसे हुए थे, एक वार उनके कुलपति हमारे पास आए और बोले, "रामचंद्र ! हम अपने इन आश्रमों को यहां से हटाकर दूसरी जगह

जा रहे हैं। जबसे आप लोग यहां रहने आए हैं, तबसे ये राक्षस आपके साथ तो कोई गड़बड़ नहीं करते, पर हमारे आश्रमों में आकर हमें कई तरह से हैरान करते हैं और हमारे सब ऋषि भी आपके सामने कुछ न कहकर मन-ही-मन आपसे डरने लगे हैं और आपस में आपकी बातें करते रहते हैं। कुलपति के नाते मुझे यह स्थिति उचित नहीं लगती, इसलिए हमने निश्चय किया है कि हम ही अपने आश्रम दूसरी जगह ले जायं, यह कहकर कुलपति चले गए।"

रामचंद्र ने आगे कहा, "प्रभो ! मैंने ऋषि-मुनियों को वचन दिया कि मैं उनकी रक्षा करूंगा, पर वे सब तो इतने भयभीत हो गए थे कि किसी की कोई बात सुनने को ही तैयार नहीं था ! ऐसे पवित्र ऋषियों के लिए त्रास के निमित्त बनने की अपेक्षा हम सबने वहां से हट जाना ही उचित समझा और हम दण्डकारण्य की ओर आ गए।"

अगस्त्य ने पूछा, "शेष नौ साल आपने दंडकारण्य में बिताए ?"

रामचंद्र ने कहा, "जी।"

अगस्त्य ने पूछा, "अब स्थान बदलना चाहते हैं ?"

रामचंद्र बोले, "स्थान तो बदलना ही है ! इन नौ वर्षों में हम दंडकारण्य के अनेकानेक आश्रम-मंडलों में घूमे।"

अगस्त्य ने पूछा, "ये सारे आश्रम आपको कैसे लगे ?"

रामचंद्र ने अत्यंत नम्रतापूर्वक कहा, "भगवन् ! मुझ जैसा बालक आश्रमों के विषय में क्या कह सकता है ? आश्रमों के माध्यम से अपने जीवन में जितनी पवित्रता लाना संभव है, हमने उतनी पवित्रता लाने का प्रयत्न किया है। किंतु आखिर तो हम संसारी प्राणी ही ठहरे ! महाराज ! भरद्वाज, सुतीक्ष्ण, अत्रि, अनसूया देवी, शरभंग, आदि-आदि महानुभावों के दर्शनों के लिए तो बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं को भी भटकना पड़ता है, जबकि हमने न केवल उनके दर्शन किए, बल्कि हम उनके आश्रमों में भी रहे, उनका पुण्यजीवन देखा, उनके स्वागत-सत्कार का लाभ उठाया, उनके शिष्यों के जीवन से भी बहुत-कुछ सीखा, और इस प्रकार हमने जितना सोचा नहीं था, उससे भी अधिक अपने वनवास को सार्थक किया।"

सीता की ओर मुड़कर अगस्त्य ने पूछा, "देवि ! वनवास तुम्हें असह्य तो प्रतीत नहीं हुआ ?"

सीता ने जवाब दिया, "असह्य क्यों लगता ? यहां आने के बाद तो अब मैं सोचती हूं कि आगे अयोध्या में रहना असह्य हो जायगा।"

अगस्त्य बोले, "अनसूयादेवी के दर्शन हुए !"

सीता ने कहा, "जी, मैं तो उनकी गोद में बैठकर आई और मुझे उनका प्रसाद भी मिला ! अब तो वे बहुत बूढ़ी हो गई हैं; आंखों से भी ठीक दीखता नहीं; चलती हैं, तो हाथ कांपते हैं।"

अगस्त्य ने कहा, "वह बड़ी जीवट की हैं !"

सीता बोलीं, "आप कौन कम जीवट वाले हैं ? आप तो राक्षस को समूचा ही हजम कर गए न ?"

अगस्त्य बोले, "मैं कौन उसे मारने गया था ? स्वयं राक्षस ने मुझे बुलाया। मैं भोजन करने गया। राक्षस ने अपने भाई को मारकर उसका मांस मुझे परोसा। मैं मांस खा गया। फिर राक्षस कहने लगा, "भैया ! बाहर आओ।" लेकिन भैया बाहर आता कैसे ? उस बेचारे ने यह सोचा था कि मेरी तरह दूसरे कई ऋषियों को मांस खिलाया है और भाई अपनी मृत संजीवनी विद्या के बल से जिस तरह उनका पेट चीरकर बाहर आता रहा है, उसी तरह मेरे पेट में से भी निकल आयेगा। लेकिन मैंने तो उसके भाई को हजम कर डाला, इससे बेचारा निराश हो गया और स्वयं भी मर गया।"

राम ने कहा, "गुरुदेव ! मैं आपसे यही बात पूछना चाहता था।"

अगस्त्य ने कहा, "कौन-सी बात ?"

राम कहने लगे, "आप उस राक्षस को हजम कर गए, जब कि हमारे कई ऋषि बेचारे ऐसे हैं कि राक्षस उन्हें हैरान कर डालते हैं। शरभंग ऋषि के निधन के अवसर पर वहां सब मंडलों के ऋषि इकट्ठे हुए थे। वे सब इन राक्षसों से त्रस्त हो चुके थे, त्राहि-त्राहि कर रहे थे। मैंने उन्हें राक्षसों के भय से मुक्त करने का वचन दिया है। हमारे ये ऋषि इन राक्षसों को क्यों नहीं हजम कर पाते ?"

अगस्त्य ने धीर-गंभीर स्वर में कहना शुरू किया, "कुमार ! आपकी

बात विचारणीय तो है। ऐसा लगता है, मानो आज हम ऋषियों की तपस्या निर्वाध बन चुकी है। हमारी सात्विकता की ओट में हमारा भय छिपा है, इसीलिए हम राक्षसों से डरकर इधर-उधर भागे फिरते हैं और आपके समान क्षत्रियों से अभयदान पाने की खोज में रहते हैं। भले ही यह आपका धर्म हो कि आप हमारी रक्षा करें। पर शत्रु को भी शाप न देना हमारा धर्म है। यदि हमारी तपोनिष्ठा खरी हो, तो किसी भी राक्षस की मजाल नहीं कि वह हमें डरा सके। निर्भयता सच्चे धर्म की—सच्ची ईश्वरनिष्ठा की—सही निशानी है। किंतु कुमार ! यह तो हमारे जीवन के आदर्श की बात हुई। हम सभी ऋषि इस दशा तक पहुंच सके हैं अथवा हम सबको उस स्थिति तक पहुंचने के बाद ही आश्रमों में आना चाहिए, ऐसा किसी को कहना नहीं चाहिए। जिस तरह आर्यावर्त में जीवन की अनेक प्रयोग-भूमियां है, उसी तरह ये आश्रम हमारे लिए भी बड़ा प्रयोग भूमि हैं। आज आप एक वसिष्ठ या एक अगस्त्य को देखकर यह सोचें और ऐसी आशा रखें कि सब ऋषि उस स्थिति तक पहुंचे हुए होने चाहिए और जो उस स्थिति से नीचे की कक्षा में हों, उन्हें ऋषि बनने का अधिकार नहीं रहना चाहिए, तो आपका वह सोचना यथार्थ न होगा। आपको समझ लेना चाहिए कि एक अगस्त्य अथवा एक अत्रि के पीछे पूर्व भूमिका के रूप में छोटे-बड़े ऋषि विद्यमान हैं, इसी कारण इनमें से एकाध अगस्त्य या एकाध अत्रि पैदा हो जाता है। एक अगस्त्य या अत्रि की जो उपयोगिता है, उससे कहीं अधिक उपयोगिता उत्पादन-भूमि के नाते इन अनेक ऋषि-मंडलों की है। अतः आप क्षत्रियों को इस दृष्टि से उनकी रक्षा करनी चाहिए। यह समझकर कि ये ऋषि निर्वीर्य हैं और इनकी तपोनिष्ठाहीन है, इनकी उपेक्षा करना उचित नहीं। बेचारे दुनियादारी का त्याग करके अध्यात्म-विद्या के प्रयोग करने के लिए आश्रमों में आते हैं; आप उनकी रक्षा का प्रबन्ध न करें और उन बेचारों को राक्षस निगल जायं, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? इन उगते ऋषियों से सिद्ध ऋषियों की-सी आशा रखना और इन्हें सिद्ध ऋषियों के माप से ही मापना, क्या इनके साथ भारी अन्याय करना नहीं होगा ? आज जो कच्चे-पक्के से ऋषि दिखाई पड़ते हैं, उन्हीं में से कल कोई महासमर्थ ऋषि पैदा होगा। मैं तो

एक ही राक्षस को पचा पाया, पर वह तो समूचे राक्षस-कुल को ही हजम कर जायगा। रामचंद्र ! समझ रहे हो न ?"

रामचंद्र ने विनयपूर्वक उत्तर दिया, "महाराज ! समझ रहा हूं; यही नहीं, बल्कि मुझे अपने विचारों में निहित दोष भी स्पष्ट रूप से दीख रहा है। आज आपने मुझे अधिक यथार्थ दृष्टि दी।"

अगस्त्य कहने लगे, "कुमार ! मैं उन मुनियों की कमियों को समझता हूं; मैं मानता हूं कि उनकी तपश्चर्या वीर्यवान बननी चाहिए। मैं इसे मात्र निष्ठुरता कहता हूं कि राक्षस उनका उच्छेद कर डालें और आप हम खुली आंखों यह सब देखते रहे। क्षत्रियकुमार के नाते तुम्हारा तो यह धर्म ही है कि तुम दंडकारण्य के इन राक्षसों के भय से उनकी रक्षा करो।"

रामचंद्र बोले, "मैं इसी विचार से इस ओर आया हूं। अब आप ही बताइए कि मैं अपना डेरा कहां डालूं ?"

अगस्त्य ने कहा, कौशल्या के पुत्र ! मैं इस विदेह-पुत्री को देखता हूं, तो मन यही चाहता है कि तुम सब यहीं रहो और सीता के समान निर्दोष बाला मेरे इस आश्रम में निर्भय होकर विचरण करे। किंतु राम ! धर्म का मार्ग बहुत ही कठिन है। तुम सब यहां रहो, तो स्वयं मुझे बहुत ही आनंद हो; तुमको तो आनंद होगा ही। किंतु इस स्थान के राक्षसों को मारने का तुम्हारा जो संकल्प है, वह यहां पूरा नहीं हो पायगा। राक्षस मेरे इस आश्रम के आसपास फटक ही नहीं सकते। यदि तुम सचमुच ऋषि-मुनियों को भय मुक्त करना चाहते हो, तो तुम यहां से थोड़ी ही दूर पर पंचवटी नाम की जो जगह है, वहां जाओ और वहीं आश्रम बनाकर रहो। पंचवटी बहुत मनोहर स्थान है। पास ही में भगवती गोदावरी बहती हैं। पंचवटी के आसपास हरिणों की टोलियां निरन्तर विचरण करती रहती हैं। वृक्ष सब फूल-फल से लदे रहते हैं। पक्षियों के कलरव का तो पूछना ही क्या ? सीता तो गोदावरी में स्नान करके वहां के रेत में खेलती ही रहेगी। वहां नदी की धारा में विहार करनेवाले कलहंस सीता के हाथ में से मोती जैसे दाने चुगा करेंगे। वहां हरिण सीतादेवी के हाथ से घास चरेंगे। वहां नाचते हुए मोर सीता के कंकणों के स्वरों को ग्रहण कर लेंगे। वहां की वन-

लताएं सीता की उंगुलियों के स्पर्श के लिए उत्सुक बनी रहेंगी। पंचवटी की वनदेवियां सीता का आतिथ्य करके कृतार्थ होंगी। वहां कपटरूप धारण करके घूमनेवाले राक्षस कभी-कभी तुम्हें परेशान अवश्य करेंगे, लेकिन अगर तुम निरन्तर जाग्रत रहोगे, तो कोई कठिनाई सामने नहीं आवेगी।"

लक्ष्मण ने कहा, "हम देवी को कभी अकेला छोड़ेंगे ही नहीं !"

अगस्त्य बोले, "बस, इस एक ही चीज पर बराबर ध्यान रखना। राक्षसों का प्रदेश है, इसलिए चौकन्ने बने रहना। किसी भी गलत आकर्षण के फेर में मत पड़ना। कोई कैसा भी कारण क्यों न हो, देवी को कभी अकेला मत छोड़ना।"

लक्ष्मण ने विश्वासपूर्वक कहा, "हम देवी की रक्षा भलीभांति करेंगे।

अगस्त्य बोले, "सीता की पवित्रता ही उसकी रक्षा के लिए पर्याप्त है, किंतु उसकी रक्षा में तुम दोनों की रक्षा भी निहित है, इसलिए उसे अकेली मत रहने देना।"

रामचंद्र ने कहा, "महाराज ! आज्ञा दीजिए ! आपके आशीर्वाद लेकर हम इसी समय रवाना होते हैं।"

अगस्त्य बोले, "क्यों, अभी जाना है ? अच्छी बात है, जाओ। बेटी सीता, जनकनंदिनी ! जा, तुझे मेरे आशीर्वाद हैं। रामचंद्र, लक्ष्मण, जाओ। तुम सबका कल्याण हो ! तुम वापस लौटोगे, तबतक तो मैं अपना यह चोला उतार चुका होऊंगा। वापस जाते हुए समय रहे, तो इस आश्रम में आना और इसे पवित्र करना।"

सीता बोलीं, "हम यहां पवित्र बनने के लिए आयंगे।"

अगस्त्य ने कहा, "यही सही, पवित्र बनने के लिए आना। प्रभु तुम्हारा कल्याण करे !" यों कहते-कहते उन्होंने तीनों के सिर पर और पीठ पर अपना हाथ फेरा।

रामचंद्र, लक्ष्मण और सीता तीनों पंचवटी के रास्ते पर चल पड़े।

: १३ :

पंचवटी में

पंचवटी के पांच घटादार वटवृक्ष; इन वटवक्षों की दाढ़ी-जैसी जटाओं के धरती में उतर जाने से बने कई छोटे-बड़े खम्भे; ऊपर सूरज की धूप में वटवृक्ष के रस की रचना में लगे कारखानों-जैसे हरे-हरे रेशोंवाले पत्ते; इन सबके बीच अयोध्या के तीन निर्दोष पक्षियों ने अपना छोटा-सा घोंसला बना लिया था। पास ही भगवती गोदावरी अपना एक कोमल हाथ फैला-कर पंचवटी को रसपान करा रही थीं। जब सीतादेवी पानी भरने जाती थीं तो गोदावरी के किनारे की महीन रेती उनके पदचाप से डर-डर कर पीछे हटती थी, मानो उसे यह लगता हो कि कहीं उनके पैरों को छूने से उनकी कोमलता को आघात न पहुंच जाय ! जब इस स्थान पर प्रतिदिन प्रातःकाल ये रघुकुमार सूर्य भगवान को अर्घ्य प्रदान करने के लिए खड़े रहते, तो ऐसा लगता, जैसे गोदावरी के समूचे तट पर कोई अवधूत पृथ्वी पर नया तेज लाने के लिए सूर्यनारायण का आवाहन कर रहे हों। नदी के हँसते-खेलते पानी में जलहंस अपनी टेढ़ी और सुन्दर गरदनें डुबो-डुबो कर इधर-उधर तैर रहे थे; पर्णकुटी से कुछ ही दूर सीता और लक्ष्मण ने एक छोटा-सा माधवी-मंडप खड़ा किया था; एक ओर हरिणों के चरने के लिए विशाल मैदान पड़ा था; आश्रम से लगे पास के मैदान में प्रायः मोर आकर नाचने लगते और सीता अपने कंकण के स्वर से उन्हें ताल दिया करतीं; इन मोरों के बैठने और सोने के लिए लक्ष्मण ने वहां कुछ लकड़ियां भी गाड़ रखी थीं; रंग-बिरंगी और महीन-मोटी रेती बिछाकर लक्ष्मण ने आंगन को अधिक मनोहर बना दिया था। सीता देवी प्रतिदिन वहां चौक पूर कर लक्ष्मण के काम को सरस बना देती थीं।

एक ओर सीता, राम और लक्ष्मण प्रकृति के ऐसे मनोहारी सहवास में अपने दिन बिता रहे थे, दूसरी ओर पंचवटी के प्रदेश के बाहर जो विशाल जन-स्थान और दण्डकारण्य फैला था, उसकी भयानकता रोंगटे खड़े करने-

वाली थी। उस प्रदेश में मनुष्य का तो नामो-निशान भी नहीं रह गया था। राक्षसों ने इस सारे प्रदेश को उजाड़ डाला था; भरी दोपहरी में भी वहां घोर अंधकार ही रहता था; पास ही में खर नाम का महाराक्षस अपनी सेना की छावनी डाले पड़ा था; खर की बहन शूर्पणखा—गंदी, कुरूप, मोटे-मोटे ओठोंवाली—भी इसी प्रदेश में डेरा डाले पड़ी थी; खर के बड़े-बड़े सेनापति दूषण, त्रिशिरा आदि अपनी-अपनी सेना के साथ इसी प्रदेश में रहते थे। यहां से कुछ ही दूरी पर भगवती गोदावरी भीषण रूप धारण करके गर्जन करती, किनारों को काटती, पशुओं को बहाती, वृक्षों को जड़ से उखाड़ती, समुद्र से मिलने के लिए उतावली बनकर कन्यका की दशा में बह रही थी। सिंहों, व्याघ्रों, जंगली भैंसों, हाथियों आदि की भयावनी आवाजें निरन्तर कानों से टकराया करती थीं। बड़े-बड़े अजगर वृक्षों से लिपटकर जहां-तहां पड़े थे, और शिकार अनायास ही उनके मुंह में आ पहुंचे, इसके लिए मुंह फाड़कर अपनी आंखों का जादू उसपर चलाते रहते थे; जंगली छिपकली, जंगली बिलाव, उल्लू, सियार आदि तो जहां-तहां दिखाई पड़ते थे। जन-स्थान के ही एक भाग में एक ऊंची टोकरी पर गृध-राज जटायु का निवास था। जब इस टोकरी पर से जटायु आसपास की भयंकरता का आकलन करनेवाली अपनी बेधक दृष्टि फैलाता और साथ ही अपनी स्वाभाविक चीख से आकाश को चीरता, तो जन-स्थान और दण्ड-कारण्य की समग्र भयंकरता उसे प्रतिध्वनित करती और फिर तो यह चीख और यह प्रतिध्वनि दोनों मिलकर एक ऐसी रुद्रता धारण कर लेते कि मनुष्यों के कान उसे सहन न कर पाते।

... ...

रामचंद्र को पंचवटी में आए कोई तीन वर्ष पूरे हो रहे थे। यहां आने के बाद तो लक्ष्मण ने शूर्पणखा के नाक-कान काटकर उसे रावण के दरबार में अपनी गुहार पहुंचाने के लिए विवश किया; यहां आने के बाद ही राम-चंद्र ने खर के चौदह हजार पराक्रमी राक्षसों का संहार किया और अंत में दूषण को, त्रिशिरा को और खर को भी मार गिराया। रामचंद्र के धनुष की टंकार इतनी असह्य हो गई कि सारे राक्षस दण्डकारण्य छोड़कर भाग खड़े हुए और ऋषि-मुनि सब निर्भय हो गए। रामचंद्र के इस पराक्रम से

सुदूर लंका में रहनेवाले राक्षसों के राजा रावण का सिंहासन डोल उठा।

एक बार रामचंद्र, लक्ष्मण और सीता तीनों संध्या के समय आंगन में बैठे थे। तभी सीता ने कहा, "आर्यपुत्र ! एकाध सप्ताह में तो हमारे वन-वास का तेरहवां वर्ष पूरा हो जायगा।"

राम बोले, "फिर तो एक ही वर्ष रह जायगा न ? इन वर्षों के विषय में हमने क्या सोचा था और ये कैसे सिद्ध हुए ?"

सीता बोलीं, "आपने तो मुझे डराया था न ? मैं तो विदेह की पुत्री ठहरी, इसलिए मैंने आपकी बात नहीं मानी और मैं आपके साथ चली आई।"

राम ने कहा, "भैया लक्ष्मण ! हमारे भाग्य में इन सारे आश्रमों का दर्शन बदा था, इसीलिए हम वनवास में आ गए। कितने सुंदर हैं ये आश्रम! लक्ष्मण ! हम अयोध्या में ही रहे होते, तो हमें इसकी कल्पना भी कैसे हो पाती कि ये आश्रम हम आर्यों की संस्कृति का निर्माण करने में कितना बड़ा योगदान कर रहे हैं ? जिस समाज में इतनी बड़ी संख्या में लोग जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अध्यात्म की दृष्टि से प्रयोग करने निकल पड़ते हैं, उस समाज को कितना सौभाग्यशाली समझना चाहिए? हम अधिकतर आश्रमों को देख चुके हैं।"

लक्ष्मण ने कहा, "बड़े भैया ! मुझे क्षमा कीजिए। मुझको तो इनमें से अधिकतर ऋषि एक दृष्टि से विचित्र ही लगे हैं—इन्हें देखकर हरेक को यही लगेगा कि ये सब एक ही दिशा से परिचित हैं।"

राम ने जवाब दिया, "लक्ष्मण ! यही इनकी विशिष्टता है। व्यवहार की दृष्टि से इनकी जो कमी है, इस दिशा में वही इनकी योग्यता है। तुमने देखा न ? इनमें से कुछ लोग आहार के प्रयोग में जुटे हैं। कुछ इस बात की खोज में लगे हैं कि देह की कम-से-कम आवश्यकताएं क्या-क्या हो सकती हैं ? कुछ सूर्य-स्नान का प्रयोग करते हैं। कुछ वायु-स्नान के प्रयोग में लगे हैं। कुछ चित्तशास्त्र की खोज में डूबे हैं। कुछ इस बात का प्रयोग कर रहे हैं कि वीर्य क्या वस्तु है और उस पर विजय कैसे प्राप्त की जा सकती है ? कुछ हैं, जो अलग-अलग प्रकार की लकड़ियों की—काष्ठों की—दाहक शक्ति पर परिश्रम कर रहे हैं। कुछ सुषुम्ना नाड़ी के विभिन्न चक्रों के

स्वरूप की शोध में लगे हैं। कुछ सूर्य के स्वरूप की खोज कर रहे हैं। कुछ यह सिद्ध करने के प्रयत्न में लगे हैं कि यह समूचा विश्व हमारे मन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कुछ ऐसे भी हैं, जो इस उधेड़-बुन में पड़े हैं कि काल क्या वस्तु है ? दूसरे कुछ इने-गिने ऐसे भी हैं, जो जीव, जगत् और ईश्वर के स्वरूप के बीच तालमेल बैठाने में लगे हैं। यदि ये सब ऋषि एकमार्गी न हों, तो ऐसे विविध प्रयोग किस प्रकार हो सकें ? इस प्रकार के प्रयोग साधारण लोगों को तो पागलपन-से लगेंगे। इनके पीछे अपने को मिटाने की बात भी उन्हें पागलपन की ही लगेगी। इस पागलपन के वश होना, अपने अंतर की किसी प्रेरणा के अधीन होकर ऐसे पागलपन को अपने जीवन का ध्येय बनाना, और पतिंगा जिस तरह दीये पर अपने को उत्सर्ग करने के लिए तैयार हो जाता है, उस तरह इस पागलपन के पीछे जान देनी पड़े, तो दे देना—यह सब ऐसे एकमार्गी लोगों के लिए ही संभव है और इस अर्थ में ये एकमार्गी लोग ही संसार के बड़े सर्जक हैं। इनका उपहास करना या इनकी अवगणना करना अपनी ही मूर्खता को व्यक्त करना है। ऐसे लोगों के मन की रचना ही कुछ इस प्रकार की बन जाती है कि अपने क्षेत्र के बाहर उनका मन अबोध बालक के समान होता है। किंतु लक्ष्मण! क्या दुनियादारी में फंसे लोग भी इसी प्रकार एकमार्गी नहीं ? ऐसे लोग दुनियादारी के कीड़े होते हैं। उसके बाहर उनकी कोई गति नहीं, बस, पूरे जड़ समझ लो! यों तो इन ऋषियों की पवित्रता, इनके जीवन की सादगी, इनकी उपासना-बुद्धि, इनका साहस, इनका अथक परिश्रम, इनकी संस्कारिता—यह सब तो हमें इन आश्रमों में ही मिलती है। लक्ष्मण ! हमारी यह आर्य-संस्कृति ऐसे आश्रमों में ही जन्मी है और वहीं इसका पालन-पोषण हुआ है। देवि ! तुम्हें आश्रम कैसे लगे ?"

सीता बोलीं, "जिस दिन हम चित्रकूट पहुंचे, उसी दिन से मुझे यह लगता रहा है कि मैं अयोध्या में रहने के लिए नहीं जन्मी हूं। उलटे, मैं तो यह मानती हूं कि मेरा जन्म ऐसे आश्रमों में रहने के लिए ही हुआ है। यह पंचवटी आश्रम, यह गोदावरी नदी, इसका यह रेतीला तट, ये हरिण, मोर, कोयल, यह हरी-हरी धरती—इन सबको देखकर मेरे मन में ऐसा आत्मीय भाव प्रकट होता है, मानो ये किसी पूर्व जन्म के मेरे सहोदर हों। दूसरी

तरफ, इन सब ऋषि-मुनियों को देखती हूं, तो यही सोचा करती हूं कि मैं निरंतर इनके चरणों में पड़ी रहकर जीऊं। आर्यपुत्र ! मैं आपसे कहना चाहती थी कि जैसे-जैसे हमारे वनवास का अंत समीप आता जाता है, वैसे-वैसे मेरा दिल मानो बैठा जाता है। मैं प्रायः सोचा करती हूं कि चौदह वर्षों के अंत में भी हम अपनी माताओं के चरण छूकर, अयोध्या के राज्य का भार भैया लक्ष्मण और भरत को सौंपकर वापस ऐसे अरण्यों में ही आ कर क्यों न बस जायं ! आर्य पुत्र ! मैं नहीं जानती कि आपको मेरा यह विचार कितना रुचेगा ?"

राम ने कहा, "देवि! रुचने को तो बहुत रुचेगा; किंतु कोशल की प्रजा को यों निराधार छोड़कर मैं अरण्यवास के लिए निकल नहीं सकूंगा।"

लक्ष्मण बड़बड़ाये, "कोशल की प्रजा तो बहुत देखी है।"

राम बोले, "वत्स ! ऐसी बात न बोलो। यह पागलों जैसी है। यह प्रजा हम राघवों की निधि है। आज यह प्रजा तुतलानेवाली है, या बहरी-गूंगी है, तो इसकी सारी जिम्मेदारी कोशल के राजाओं की है; यदि यह मूढ़ है, तो इसकी मूढ़ता का प्रायश्चित्त किसी दिन मुझीको करना होगा। किंतु मुझे इसमें शंका नहीं कि रघुकुल के राजाओं की उपास्य-देवता यही है। इस प्रजा की उपासना छोड़कर कोशल के राम को अपनी पसंद के स्थानों में विहार करने का अधिकार नहीं है।"

सीता ने कहा, "क्या मैं इसका अर्थ यह मानूं कि चौदह वर्ष बीतने पर आप अयोध्या के बाहर कहीं जायंगे ही नहीं? मेरे सौभाग्य से हमें यह वन-वास मिला और इसके फलस्वरूप यही मैं ये चौदह साल आपसे तनिक भी अलग न रहकर बिता सकी। आगे तो आप भले और आपका राज्य भला, यही बात है न ? मैं तो शायद आपको देख भी न पाऊं !"

राम बोले, "देवि ! यह भी हो सकता है। राजधर्म ऐसा ही विकट है। उसपर इन चौदह सालों में हम लगातार बाहर रहे हैं, अतः हमारे अयोध्या लौटने पर राज-कार्य मुझपर इतने वेग से आ पड़ेंगे कि मैं उनका सामना कर पाऊंगा या नहीं, इसमें मुझे शंका है।"

सीता कहने लगीं, "भैया लक्ष्मण ! कुछ सुना ? देख लिया अपने बड़े भैया को ? बस, हमारे अयोध्या पहुंचने की ही देर समझो।"

रामचंद्र बोले, "देवि ! हमारा भरत कितनी उत्कंठा से मेरी बाट जोह रहा होगा ?"

सीता ने कहा, "भैया भरत की उत्कंठा को तो मैं समझ सकती हूं, किंतु राजा बनने को आपकी अधीरता मेरी समझ में नहीं आ रही। यहां भी रात में प्रायः आपको अयोध्या के सपने आते हैं, यह देखकर मुझे आश्चर्य होता है।"

लक्ष्मण बोले; "देवि ! बड़े भैया मात्र जन्म से ही नहीं, बल्कि स्वभाव से—प्रकृति से ही—राजा हैं। वे राजा बनने के लिए ही जन्मे हैं।"

सीता ने कहा, "सच बात है। हम जंगल में आए, तो यहां भी हमने राज्य खड़ा कर लिया। ऋषि-मुनि हमारी प्रजा बन गए। ये राक्षस हमारे शत्रु बने और इनका नाश करके हमने निष्कंटक राज्य की स्थापना की! इस वनवास में भी आपका छोटा-सा राज्य तो जमा ही है। स्वामी ! लक्ष्मण सच ही कहते हैं। आप वन में रहने आए तो भी आपके हृदय की गहराई में पड़ा आपका राजत्व आपके व्यवहार में, आपकी वाणी में और आपकी क्रिया में स्पष्ट ही प्रकट हो जाता है। आप चलते हैं, तो धरती हिलती है। जब आप कोई अंतिम निर्णय करते हैं, तो उसे ऐसे रौब के साथ जताते हैं, मानो कोई राज-निर्णय कर रहे हों; जब हम ऋषियों के आश्रमों में जाते हैं, तो आप अत्यंत नम्रता से उनमें प्रवेश करते हैं, परंतु आपके उस प्रवेश में भी मुझे तो आपके दिल की गहराई में यह भाव छिपा दीखता है, मानो आप आश्रम के आश्रयदाता हैं। जब आपने इन ऋषि-मुनियों को इनकी रक्षा का वचन दिया, तो वह वचन भी ऐसे ढंग से दिया, मानो आप इस प्रदेश के अधिष्ठाता हों। स्पष्ट है कि राजत्व का यह भाव आपके हृदय की गहराई में बराबर मौजूद है।"

राम बोले, "देवि ! हृदय की गहराई की बात तो तुम जानो, किंतु कोशल के और कोशल की प्रजा के प्रति मेरा एक निश्चित धर्म है और मुझे उस धर्म का पालन किसी भी कीमत पर करना है, यह बात मुझे साफ दिखाई पड़ती है। मैंने यह स्पष्ट देखा है कि पिछले कुछ वर्षों से रघुकुल के राजाओं ने कोशल की प्रजा की परवा नहीं की, इसके कारण प्रजा का पतन हुआ है। इस पतित प्रजा को फिर से ऊपर उठाना मेरा धर्म है।"

सीता ने कहा, "मैं आपकी विचारधारा को समझ सकती हूं। आप विश्वास रखिए कि आपके इस राज-धर्म में आपकी छाया के रूप में मुझसे जो बन पड़ेगा, वह मैं भी करके रहूंगी। यह भी मानकर चलिए कि भैया लक्ष्मण तो आपकी बगल में खड़े ही हैं। किंतु मैं देखती हूं कि राजधर्म का विचार करते समय आपके मन पर एक असाधारण भार बना रहता है, जिसे मैं समझ नहीं पाती। आर्यपुत्र ! जब आप मिथिला आए थे, तब भी मैंने आपको देखा था। बड़े-बड़े पराक्रमी राजा जिस धनुष को उठा तक नहीं सके थे, उस धनुष को आपने उतनी ही आसानी से उठा लिया था, जितनी आसानी से हाथी अपनी सूंड़ में कमल उठा लेता है। जिस सरलता से, जिस चपलता से और जिस आनंद के साथ आपने वह धनुष उठा लिया था, मैं चाहती हूं कि उसी सरलता, चपलता और आनंद से आप राज्य का भार भी उठायें। भले ही एक वर्ष के बाद हम अयोध्या जायं और राज्य चलायें; किंतु मन पर आज ही से उसका इतना बोझ क्यों रहे ? आपके दुश्मन कहते हैं कि रामचंद्र कब बाण को हाथों में लेते हैं, कब उसे धनुष पर रखते हैं, कब डोर खींचते हैं और कब बाण छूटता है, इसका उन्हें पता नहीं चल पाता। जिन रामचंद्र के लिए बाण चलाना बाएं हाथ का खेल है, उनके लिए राज्य चलाना भी बाएं हाथ का खेल क्यों न हो ?"

लक्ष्मण ने समर्थन के स्वर में कहा, "देवि ने ठीक ही कहा है।"

राम बोले, "लक्ष्मण, देवि ! तुम दोनों भूल रहे हो। महाराज दशरथ ने और हमारे कुछ पूर्वजों ने राज्यधर्म को एक खिलौना-सा मान लिया, इस कारण उनके मन से इस धर्म की गंभीरता समाप्त हो गई। परिणाम यह निकला कि अयोध्या के राज-काज में शिथिलता आ गई, समूचा राजतंत्र ढीला पड़ गया, मंत्री उदासीन बन गए, राजा विलास में डूब गए, प्रजा आलसी और संस्कारहीन बनने लगी, क्षात्र तेज धुंधला पड़ गया और समूचा कोशल देश नीचे गिर गया! यदि आज मैं भी इसी तरह का व्यवहार करूं, तो रघुकुल का दीपक भले जलता रहे, अयोध्या की गद्दी पर राजा भी बना रहे, किंतु वह दीपक जितना प्रकाश देगा, उससे कहीं अधिक धुआं फैलायगा और समय पाकर एक दिन बुझ जायगा। मेरा आग्रह यह है कि राजधर्म के पालन में जो भी शिथिलता प्रवेश कर गई है, उसे हटाकर दूर

किया जाय और राजतंत्र को फिर से जाग्रत वनाया जाय। देवि! तुम कुछ समझीं ? लक्ष्मण ! कुछ समझ रहे हो ?"

लक्ष्मण बोले, "जी, समझ रहा हूं।"

सीता ने कहा, "बात समझ में तो आती है, पर हृदय उसे स्वीकार नहीं कर रहा।"

राम बोले, "रानी का हृदय राजधर्म की इस कठोरता को स्वीकार नहीं कर सकता।"

सीता बोलीं, "मुझमें रानी का हृदय ही कहां है? मैं अयोध्या के राजा की रानी हूं या रानी बननेवाली हूं, इसकी कोई अस्मिता मेरे मन में जागती ही नहीं।"

राम ने पूछा, "तो तुम्हारे मन में किस प्रकार की अस्मिता जागती है ?"

सीता बोलीं, "मैं अपने राम की अर्धांगिनी हूं और वसुंधरा की पुत्री हूं, इन दो भावनाओं के अतिरिक्त तीसरी कोई भावना मेरे मन में प्रकट ही नहीं होती।"

राम ने पूछा, "इन दो भावनाओं में अधिक प्रबल कौन-सी हैं ?"

सीता ने कहा, "पहली भावना तो आपकी अर्धांगिनी की है। किंतु यह भावना तो आपके अधीन ठहरी। जबतक आप मुझे स्वीकार करें, तभीतक मैं आपकी अर्धांगिनी हूं। आप स्वीकार न करें, उस दिन वसुंधरा की पुत्री तो हूं ही।"

राम ने हँसते-हँसते कहा, "देवि ! मान लो कि वसुंधरा भी स्वीकार न करे तो ?"

सीता बोलीं, "आपका स्वीकार न करना ही असंभव है, फिर भी मान लीजिए कि वह संभव हो जाय, किंतु वसुंधरा भी स्वीकार न करे, यह बात तो त्रिकाल में भी कभी होगी नहीं! जबसे इस सृष्टि की रचना हुई है, तबसे लेकर आजतक किसी भी माता ने अपने जामाता द्वारा परित्यक्त बेटी को अपनी गोद का आसरा न दिया हो, ऐसा कभी हुआ नहीं। जिस दिन ऐसा होगा, उस दिन ईश्वर का ईश्वरत्व भी गया समझिए।"

लक्ष्मण ने कहा, "देवि ! हम अनावश्यक चर्चा के चक्कर में पड़ गए।

आज कौन हम अयोध्या पहुंच गए हैं और कौन बड़े भैया राजा बन गए हैं! अब आप उठिए और उधर चलिए। हमें चबूतरे की लिपाई करनी है, माधवी मंडप को सजाना है और गोदावरी के तट की भी सफाई करनी है। आप मुझे यह सब समझा दीजिए, जिससे मैं अपना काम शुरू करूं और आप पर्णकुटी के अंदर की सफाई के काम में लगें। दूसरे सब विचारों के लिए तो अभी बारह महीने बाकी हैं।''

राम बोले, ''देवि ! तुम जाओ ! लक्ष्मण अकेला क्या-क्या करेगा ?''

सीता ने कहा, ''जैसे आपके मन में राजत्व की उग्र अस्मिता है, वैसे ही भैया लक्ष्मण को हमारे सेवकत्व की उग्र अस्मिता है। वे भी भाई तो आप ही के हैं न ? कमजोर एक मैं हूं।''

''बहुत कमजोर !'' राम उठते-उठते बोले और गोदावरी के तट की ओर चल पड़े। लक्ष्मण और सीता माधवी मंडप की ओर मुड़ गए।

... ...

सीता हरिण के एक बच्चे को अपनी गोद में बैठाकर उसके एक पैर को सहला रही थीं। उन्होंने कहा, ''लक्ष्मण! इस बच्चे को कहीं कोई चोट लगी है।''

लक्ष्मण बोले, ''यह तो उस झाड़ी में घुस गया था। बड़ी मुश्किल से बाहर निकल पाया है।''

सीता ने कहा, ''देखो, कितना जोर लगा रहा है।''

राम बोले, ''उसे अपनी मां के पास जाना है। इसीलिए वह छटपटा रहा है। उसे छोड़ दो। वह चला जायगा।''

सीता ने उसे छोड़ते हुए कहा, ''जा, जहां जाना हो, चला जा।'' और वह छलांगें भरता हुआ अपने झुंड में जा मिला।

लक्ष्मण ने हरिणों का वह झुंड देखा, तो बोले, ''सीता देवी ! कितना बढ़िया लगता है इनका यह झुंड ! आपने उस काले हरिण को देखा ? उसके सींग कितने सुंदर हैं ? और पैर कितने पतले—छड़ी-जैसे।''

सीता ने कहा, ''और उसकी आंखें? ईश्वर ने उसकी आंखों में कितनी मोहिनी भर दी है ?''

रामचंद्र बोले, ''देवि ! वह दूर पर जो मृग चर रहा है, उसे तुमने

देखा ?"

सीता चकित होकर कहने लगीं, "ओहो! यह तो एक नया ही कौतुक है ! भैया लक्ष्मण ! जरा देखो तो ! उसका शरीर सुनहला है। सूर्य की इस रोशनी में उसकी देह कैसी दमक रही है ! मृग तो आजतक बहुत देखे हैं, पर सुनहली देहवाला ऐसा मृग तो आज ही देखा ! आर्यपुत्र ! यह कितना सुंदर है ?"

रामचंद्र बोले, "बहुत ही सुंदर है ! ईश्वर की सृष्टि में शायद ही कहीं ऐसा मृग मिले।"

सीता ने लक्ष्मण की ओर मुड़कर कहा, "भैया ! तुम कुछ बोल क्यों नही रहे हो ?"

लक्ष्मण कहने लगे, "ऐसे असाधारण मृगों को देखकर मेरे मन में सदा शंका ही उत्पन्न होती है। इस प्रदेश में राक्षस ऐसे मायावी रूप धारण करके घूमते रहते हैं, इसलिए मुझे तो यही लग रहा है कि यह कोई असली मृग नहीं, बल्कि कोई मायावी राक्षस ही होगा।"

सीता बोलीं, "हम अपने अनुभव से जानते हैं कि राक्षस ऐसे मायावी रूप धारण कर लेते हैं, लेकिन इस शंका ही शंका में ईश्वर की ऐसी सुंदर कृति को भी न देखना, क्या कहा जायगा ? राक्षस ऐसे हरिण का स्वरूप क्यों धारण करेंगे ? उन्हें अपनी माया ही दिखानी हो, तो दूसरे अनेक प्रकारों से दिखा सकते हैं, पर हरिण बनकर तो नहीं दिखायंगे।"

लक्ष्मण ने कहा, "मायावी लोग हमसे अधिक अच्छी तरह जानते हैं कि उन्हें अपनी माया किस रूप में दिखानी है। अतएव जो प्रकार सबसे अधिक निर्दोष दीखता है, माया के लिए वही अधिक काम देता है।"

सीता बोलीं, "तुम तो हर बात में, हर जगह, शंका ही करते रहोगे। आर्यपुत्र ! देखिए, उसकी गर्दन कितनी पतली और लंबी है। जब वह अपनी गर्दन मोड़कर इस ओर देखता है, तो कितना मनोहर लगता है !"

राम ने कहा, "उसकी सुनहली चमड़ी पर रुपहली बूंदें जो हैं, सो तुमने देखीं ? लक्ष्मण ! जनस्थान के राक्षसों को तो हम समाप्त कर चुके हैं, इसलिए अब यह संभव नहीं कि वे कोई मायावी रूप रखकर आये।"

लक्ष्मण बोले, "बड़े भैया ! जनस्थान के राक्षस तो मारे जा चुके हैं,

किंतु हम अभी उनके मूल स्थान को कहां पकड़ पाए हैं ?

"हमने खर को समाप्त किया, उसकी सेना को भी समाप्त कर डाला, पर हम यह क्यों मानें कि अब हम पूरी तरह भयमुक्त ही हैं ?"

सीता ने कहा, "जबसे तुमने उन सबको मार डाला है, हमारी परेशानियां बिलकुल समाप्त हो चुकी हैं। अब तो समूचा दण्डकारण्य निर्भय बना है। सारे वन में निपट शान्ति फैली हुई है और कहीं राक्षसों का कोई चिह्न भी नहीं दीख रहा है। वह कटे कान-नाकवाली शूर्पणखा तो कहीं दीखती ही नहीं है !"

लक्ष्मण बोले, "मेरा मन इसी कारण शंकाशील बना है कि वह दुष्टा दीख नहीं रही। आज हमारे आसपास जो शान्ति दिखाई पड़ती है, उसकी आड़ में कोई भारी तूफान छिपा न हो, सो कौन कह सकता है ?"

सीता ने कहा, "जब एक बार मन में कोई शंका पैदा हो जाती है, तो उसके पीछे एक समूची शंका-सृष्टि ही खड़ी हो जाती है। स्वामी ! लक्ष्मण को इस मृग में कोई रस है नहीं। पर मुझे तो यह मृग बहुत प्रिय लगता है। प्रियतम ! एक चीज मांगू ?"

रामचंद्र बोले, "इसमें मांगना क्या था? अभी कुछ मांगना बाकी बचा है ? बचा हो, तो मांग लो।"

सीता ने कहा, 'आप इस मृग के पीछे जाइए और पकड़कर ले आइए।"

राम ने पूछा, "तुम इसका क्या करोगी ?"

सीता बोलीं, "मैं इसे पालूंगी। इसे कोमल दूब खिलाऊंगी, इसे अपने हाथों पानी पिलाऊंगी। इसके सींगों को इंगुदी का तेल लगाऊंगी। इसके लिए बिछौना बिछाऊंगी। इसके गले में रुपहली घंटी बांधूंगी, और एक साल के बाद जब हम अयोध्या पहुंचेंगे, तो अपने वनवास की स्मृति के रूप में इसे अपने महल में रखूंगी। अयोध्या पहुंचने के बाद आप तो राज-काज में घिर जायंगे। तब इस मृग के साथ खेलने में मेरा समय बीत सकेगा।"

राम ने कहा "देवि ! यह तो तुमने लंबा-चौड़ा हिसाब बना लिया ! जैसे यह मृग मेरे हाथ में जीवित आ पड़ा हो ! किंतु मृगों को जीवित पकड़ना बहुत कठिन होता है। मैं धनुष चढ़ाऊंगा कि वह चौकड़ी भर

कर भाग खड़ा होगा।"

सीता बोलीं, "तब आप इसे मारकर ही ले आइये। उससे तो मुझे और भी आनंद होगा। मैं इसके चमड़े की चोली सिलवाऊंगी और जब आपका राज्याभिषेक होगा, तब वह चोली पहनकर मैं अवभृथ स्नान करने जाऊंगी। मेरे शरीर पर वह चोली कितनी अच्छी लगेगी।"

राम ने कहा, "सीता! ऐसा लग रहा है, जैसे आज तुम्हारी कल्पना के पंख फूट उठे हैं। भैया लक्ष्मण! तुम जाओ और इस मृग को ले आओ। देवी बहुत चाहती हैं, तो जाओ, तुरंत जाओ।"

सीता बोलीं, "नहीं, भैया! तुम मत जाना! आर्यपुत्र स्वयं जाकर उसे लायंगे, तभी मैं उसे रखूंगी।"

राम ने पूछा, "और लक्ष्मण लाये तो?"

सीता ने कहा, "लक्ष्मण भैया तो उसकी ओर देखना भी नहीं चाहते, इसलिए यह काम उन्हें सौंपना मुझे उचित नहीं लगता। मेरे मन में यह भावना भी तो रहेगी कि मेरे प्रिय आर्यपुत्र मेरे लिए यह मृग लाये थे! भैया लक्ष्मण की सेवा का लाभ तो आज तेरह वर्षों से ले ही रही हूं। आपकी अर्धांगिनी के नाते क्या मैं आपसे इतना भी न मांगू?"

राम बोले, "इतना ही क्यों, इससे भी अधिक मांगने और पाने का तुम्हारा अधिकार है।"

सीता ने कहा, "तो फिर उठिए। यह धनुष और बाण लीजिए। जहां तक बन पड़े, उसे जीवित ही पकड़ कर लाइए।"

राम बोले, "लक्ष्मण! मैं जाता हूं। देवी को भलीभांति संभालना।"

लक्ष्मण ने नम्रता-पूर्वक कहा, "जैसी आपकी आज्ञा!"

सीता बोलीं, "अब डर है कहां?"

राम ने कहा, "लक्ष्मण! डर चाहे न हो, फिर भी तुम असावधान न रहना।"

लक्ष्मण बोले, "लेकिन मैं कहां मान रहा हूं कि डर नहीं है? मुझे तो आपके जाने में भी डर दीख रहा है।"

राम ने कहा, "तुम्हारा यह डर आवश्यकता से अधिक है। किंतु तुम देवी को अकेली मत छोड़ना। मेरे वापस आने तक इस पर्णकुटी को छोड़-

कर कहीं मत जाना। राक्षस किस समय, कहां से, प्रकट हो जायंगे, कहना कठिन है, और मुझे तो तुम अभी लौटा ही समझो। देवि ! सावधान रहना। अच्छा !"

सीता बोलीं, "आर्यपुत्र ! आप जाइये। देखिए, वह मृग इधर ही आ रहा है। वह...वह...फिर लौट पड़ा। कैसी सुंदर छलांगें भरता है ! स्वामी ! जहां तक बन पड़े, उसे जीता ही पकड़ लीजिए। भगवान की ऐसी उत्तम कृति को मारने की इच्छा भी कैसे हो सकती है ?"

राम हाथ में धनुष-बाण लेकर हरिणों के झुंड की ओर चल पड़े। सीता की निगाह जहां तक पहुंच पाई, वह मृग को और रामचंद्र के बढ़ते डगों को देखती रहीं; किंतु आखिर दोनों आंखों से ओझल हो गए। तभी सीता और लक्ष्मण पर्णकुटी के अंदर पहुंचे।

सीता का मन तो उस मृग में उलझा था। वे दोनों राम के लौटने की बाट जोहने लगे।

: १४ :

सीता की खोज

मारीच को मारकर रामचंद्र लौट रहे थे कि इतने में उन्होंने सामने से लक्ष्मण को आते देखा। उन्हें जोर का धक्का लगा।

उतावले स्वर में राम बोले, "लक्ष्मण ! तुम यहां क्यों आए ? देवी की रक्षा के लिए वहां क्या व्यवस्था करके आए हो ?"

लक्ष्मण दीन बनकर कहने लगे, "आपके जाने के बाद हमने 'हे लक्ष्मण ! हे सीता !' की आवाज सुनी। इस पर देवी ने सोचा कि आप पर कोई संकट आया है, इसलिए उन्होंने मुझसे आग्रहपूर्वक कहा कि मैं आपके पास पहुंचूं !"

राम बोले, "अरे अभागे ! वह तो उस कपटी मारीच की पुकार थी।

जैसाकि तुमने कहा था, मृग सचमुच का मृग नहीं था, मायावी मृग था। किंतु उसकी आवाज से तुम्हें घबराने की क्या जरूरत थी ?"

लक्ष्मण ने कहा, "मैंने तो सीताजी को बहुत-बहुत समझाया, लेकिन उन्होंने मेरी बात नहीं मानी और मुझसे कहा कि जाओ और तुरंत जाओ !"

राम ने पूछा, "लेकिन मैंने तुमसे कहा था कि पर्णकुटी मत छोड़ना !"

लक्ष्मण ने कहा, "मैं भी पर्णकुटी न छोड़ने के ही पक्ष में था, किंतु देवी के मर्मवेधी वचन सुनने के बाद मैं निकल पड़ा।"

राम ने लंबी सांस लेते हुए कहा, "जैसी दैवेच्छा ! लक्ष्मण ! जिस तरह सेवक को आज्ञा का पालन करना आना चाहिए, उसी तरह उसे इस बात का ध्यान होना चाहिए कि कब आज्ञा भंग करना उचित है। अब मुझे विश्वास नहीं रहा कि हम सीता को पर्णकुटी में देख पायंगे। मारीच मृग बनकर आया था। वह तो मारा गया, लेकिन उसकी इस माया के पीछे कोई भारी कपट होना चाहिए और मुझे संदेह नहीं कि वैदेही उस कपट-जाल में फंसी होगी। चलो, जल्दी चलो, पंचवटी पहुंचकर हम देखें कि देवी को क्या हुआ है !"

राम और लक्ष्मण तेजी से कदम बढ़ाते हुए पंचवटी पहुंचे पर सीता वहां नहीं थीं। वे उन्हें खोजने लगे।

राम बोले, "लक्ष्मण ! तुम गोदावरी के किनारे जाकर देखो। कहीं देवी पानी भरने तो नहीं गई हैं ! मैं उन्हें इस माधवी मंडप में देखता हूं !"

राम ने सारा मंडप छान मारा; कदली-वन में भी चक्कर लगा आए; फिर दूर गोदावरी के किनारे पर दृष्टि डालते हुए वापस पर्णकुटी में आ गए।

राम ने कहा, "लक्ष्मण ! क्या देवी कहीं भी नहीं मिलीं ? सीता, सीता ! तुम कहां हो ? जहां भी होओ, वहीं से मुझे जवाब दो। लक्ष्मण ! कभी-कभी जब सीता स्नेहवश मुझसे रूठ जाती थीं, तो उस अमराई में जाकर छिपती थीं और मुझे घबरा देती थीं। तुम जाकर देखो, वे वहां किसी आम की आड़ में छिपी तो नहीं हैं ? वहां घोंसले में कोई कोयल

बैठी हो, तो उससे भी पूछते आना कि उसने सीता को कहीं देखा है !"

... ...

राम ने फूट-फूटकर रोते हुए कहा, "भैया लक्ष्मण ! देवी को तो अब गया ही समझो ! या तो कोई राक्षस उन्हें उठाकर ले गया, या फिर किसी ने उन्हें मार डाला। लक्ष्मण ! अब मैं कौशल्या को अपना मुंह कैसे दिखाऊंगा ? महाराज जनक मुझे क्या कहेंगे ? हम दोनों अयोध्या से अपने हाथों में धनुष-बाण लेकर निकले थे; वे धनुष-बाण हमारे कंधों पर ही लटकते रहे और राक्षस सीता को उठा ले गए ! धिक्कार है, हमारे क्षत्रियत्व को ! लक्ष्मण ! हमें वनवास दिलाते समय कैकेयी माता के मन में जो भी भाव रहे होंगे, वे सब आज सफल हुए। सीता, सीता !"

राम को ढाढ़स बंधाते हुए लक्ष्मण बोले, "बड़े भैया ! धीरज रखिए। आप धीरज छोड़कर रोने लगेंगे, तो मैं कहां जाऊंगा ? मैंने पर्णकुटी छोड़कर भारी भूल की। किंतु बड़े भैया ! देवी की तीखी बातें सहने की शक्ति मुझमें नहीं थी।"

राम ने कहा, "देवि ! मुझे आश्चर्य होता है कि तुम ऐसी बातें कैसे कह सकीं !"

लक्ष्मण बोले, "बड़े भैया ! पहला आश्चर्य तो यह है कि आपके समान धीर पुरुष उस मायावी मृग को पहचान नहीं सके और उसे मारने के मोह में फंस गए ! जबसे आपने और देवी ने यह इच्छा की, तभी से हमारी दुर्दशा का आरंभ हुआ।"

राम ने कहा, "लक्ष्मण ! तुम्हारी बात सच लगती है। तुमने तो बहुत कहा, पर हमने तुम्हारी बात मानी नहीं और हम मृग के मोह में फंस गए। इसी का परिणाम है कि हम देवी को खो बैठे।"

लक्ष्मण बोले, "देवी तो गईं ही, पर मैं तो अपने राम को भी खो बैठा हूं।"

राम ने कहा, "सो कैसे ? तुम्हारा राम तो यह बैठा है ! वह तो इतना कठोर हृदय है कि सीता के खो जाने पर भी अभी तक जी रहा है।"

लक्ष्मण बोले, "आप जी रहे हैं और आगे भी जीयेंगे; किंतु आजतक आप जैसे थे, वैसे इसके बाद नहीं रह पायेंगे। मैं देख रहा हूं कि इस

घटना से आपके समूचे जीवन में भारी परिवर्तन हुआ है। बड़े भैया, देवी खो गई हैं। वे मिल भी जायंगी। निश्चित समझिए कि उन्हें खोजे बिना हम चैन नहीं लेंगे। किंतु इस घटना से आपके मन को जो आघात पहुंचा है, मैं देख रहा हूं कि देवी के मिल जाने पर भी उसका घाव भरेगा नहीं, उलटे, वह गुप्त रूप से ही क्यों न हो, आपके जीवन में विकृतियां पैदा करता रहेगा।"

राम ने कहा, "लक्ष्मण ! सच कहूं ? मैं तो आज यही अनुभव कर रहा हूं कि देवी क्या गईं, उनके साथ मानो मेरा सारा सत्व ही चला गया। आजतक हम सब साथ-साथ ही रहे, इस कारण शायद मैं यह समझ ही नहीं सका कि मेरे जीवन में देवी का क्या स्थान है; किंतु आज, जब देवी नहीं हैं, मैं स्पष्ट ही यह समझ रहा हूं कि देवी के अभाव में राम केवल मिट्टी का पुतला है। मैं आज यह साफ देख रहा हूं कि वैदेही मेरे साथ न हों, तो स्वयं मुझमें कुछ भी नहीं। भैया ! यदि तुम मुझे जीवित रखना चाहते हो, तो देवी को जल्दी से खोज निकालो। समझ लो कि मैं तो अपना सब भान भूल चुका हूं। तुम जहां कहोगे, मैं वहीं तुम्हारे साथ चलने को तैयार हूं, पर देवी को वापस ले आओ। पता नहीं, उस बेचारी की क्या हालत हुई होगी !"

लक्ष्मण ने राम के कंधे पर हाथ रखते हुए कहा, "भैया ! आप धीरज रखिए, हम देवी का पता लगाकर उन्हें अवश्य वापस लायंगे। इस विषय में आप कोई शंका न रखें। लेकिन पहले इस बात का पता तो लगाना होगा न, कि देवी हैं कहाँ ? बड़े भैया ! आइए, हम इस ओर पूछताछ करें। सम्भव है, कहीं कुछ पता चल जाय।"

दोनों भाई दक्षिण दिशा की ओर चल पड़े।

... ...

जटायु ने कहा, "रामचंद्र ! मैं राक्षस नहीं हूं। मैं तो दशरथ का मित्र जटायु हूं।"

राम ने आश्चर्यपूर्वक कहा, "ओ हो, पक्षिराज जटायु ! आपकी यह दशा कैसे हुई ?"

जटायु ने लंबी सांस लेकर कहा, "रावण सीता देवी को उठाकर ले

जा रहा था। मैंने उसे ललकारा तो वह मेरा ऐसा हाल करके चला गया।"

राम ने दांत पीसते हुए पूछा, "क्या रावण देवी को उठा ले गया है?"

जटायु बोला, "देखिए, यह है, रावण का रथ, ये उसके घोड़े हैं और यह है उसका झंडा। वह सीता को उठाकर ले जा रहा था, तभी मैंने देवी का विलाप सुना और मैं बाहर निकल आया। लेकिन आखिर मैं तो बूढ़ा ठहरा और रावण जवान! मैंने रावण को बहुत सताया, किंतु अंत में उसने मेरे पंख काट डाले और मुझे अधमरा करके डाल दिया। फिर वह देवी को उठाकर भाग खड़ा हुआ।"

राम बोले, "यह तो पक्का है न कि रावण सीता को उठा ले गया है?"

लक्ष्मण ने कहा, "लगता है, रावण को उसका काल पुकार रहा है।"

राम ने पूछा, "रावण रहता कहां है?"

जटायु बोला, "वैसे तो वह लंका में रहता है, किंतु सीता को लेकर वह कहां गया होगा, इसकी जानकारी तो खोज करने पर ही मिल सकेगी। आज तो स्वर्ग में, मृत्यु लोक में और पाताल में भी उसका साम्राज्य है, इसलिए यह कहना कठिन है कि वह सीता को लेकर कहां गया होगा!"

राम ने अधीरता से पूछा, "उसका पता लगाने के लिए हमें क्या करना होगा?"

जटायु ने जवाब दिया, "पता तो लग सकता है। मैं स्वस्थ होता, तो मैं स्वयं ही पता लगा लेता, किंतु मैं तो अब सदा के लिए विदा ले रहा हूं। मेरी वेदना बढ़ने लगी है और आंखों के सामने अंधेरा छाने लगा है।"

रामचंद्र ने कहा, "आप तो हमारे लिए पिता तुल्य हैं, किंतु इस विषय में आप हमें उचित सुझाव देंगे, तो हम आपके आभारी रहेंगे।"

जटायु बोला, "रामचंद्र! आप यहां से पंपा सरोवर के किनारे-किनारे जाइए। रास्ते में मतंग ऋषि का आश्रम पड़ेगा! वहां से कुछ दूर जाने पर वह जगह मिलेगी, जहां सुग्रीव नामक वानर-राज रहता है। इस सुग्रीव की मदद से आपका काम सफल होगा। अब मेरी जीभ काम नहीं करती। आपका कल्याण हो!"

इतना कहकर जटायु ने अपनी आंखें मूंद लीं।

राम-लक्ष्मण ने जटायु के शव पर अपने आंसू गिराए।

: १५ :

शबरी का तप

मतंग ऋषि के आश्रम के द्वार पर एक बुढ़िया खड़ी थी। उसके सिर के बाल सफेद थे; उसके शरीर की त्वचा पर झुर्रियां पड़ी थीं; उसका मुंह शरीरश्रम से कृश होते हुए भी तेजस्वी था; उसकी आंखें सजग थीं; उसकी निगाह पंपा सरोवर की ओर से आनेवाले आमरास्ते की तरफ दूर-दूर तक पहुंचती थी।

लक्ष्मण ने पूछा, "माजी ! मतंग ऋषि का आश्रम कहां है ?"

बुढ़िया बोली, "बेटा ! जहां मैं खड़ी हूं, वही ऋषि का आश्रम है।"

रामचंद्र ने कहा, "लक्ष्मण ! चलो, हम अंदर चलकर ऋषि के दर्शन कर लें।"

बुढ़िया ने बताया, "मतंग ऋषि तो स्वर्ग सिधार चुके हैं।"

लक्ष्मण बोले, "इस पर्णशाला से होम का धुआँ निकल रहा है। शायद ऋषि यज्ञशाला में ही होंगे।"

बुढ़िया ने कहा, "अरे भैया ! ऋषि तो कुछ दिन पहले ही चल बसे हैं, पर उनके सत का ही यह प्रताप है कि हवन-कुंड में अग्नि ज्यों-की-त्यों जलती रहती है, पानी के अभाव में भी ये वृक्ष वैसे ही हरे-भरे बने हुए हैं और सारे आश्रम का ओज भी जैसा-का-तैसा ही वना हुआ है।"

लक्ष्मण ने पूछा, "माजी ! आप आश्रम में क्या काम करती हैं ?"

बुढ़िया कहने लगी, "भैया ! काम तो क्या बताऊं ? बचपन से मैं गुरु की सेवा में लगी थी, सो गुरु के अवसान की अंतिम घड़ी तक उसमें लगी रही। जाने से पहले गुरु मुझे कहते गए हैं, इसलिए मैं बाट जोहती बैठी हूं।"

रामचंद्र ने पूछा, "मां ! तुम किसकी बाट जोह रही हो ?"

बुढ़िया बोली, "अरे भैया ! बात थोड़ी लंबी है। आप थके होंगे। जरा बैठ जाइए, तो मैं अपनी बात कहूं।"

राम-लक्ष्मण दरवाजे के पास बैठ गए और बुढ़िया कहने लगी, "पहले तो हमारे इस आश्रम में सुंदर केले, पपीते आदि फलों का बाग था। बढ़िया आम होते थे, बढ़िया केले लगते थे, बढ़िया पपीते पकते थे और अंगूर, चीकू आदि की तो बात ही मत पूछिए।"

लक्ष्मण ने पूछा, "तो उन पेड़ों का क्या हुआ ?"

बुढ़िया ने जवाब दिया, "एक बार मतंग बाबा अपना ध्यान पूरा करके बगीचे में आए और मुझसे कहने लगे, "शबरी ! हमें ये सारे पेड़ हटा देने हैं और इनकी जगह बढ़िया बेर के पेड़ लगाने हैं।"

लक्ष्मण ने सवाल किया, "इतने अच्छे-अच्छे पेड़ों को उखाड़ फेंकने की बात ऋषि ने कैसे की ?"

बुढ़िया ने कहा, "जब वे एक बार निश्चय कर लेते थे, तो किसी भी चीज को फेंक देने में उन्हें देर ही क्या लगती थी ?"

रामचंद्र बोले, "आपने उनसे पूछा था कि वे ऐसा क्यों कर रहे हैं ?"

बुढ़िया ने कहा, "हां, पूछा था। गुरु ने एक ही कारण बताया। हम सबको लगा करता था कि हमारे बाग के जो फूल थे वे आम लोगों को नसीब नहीं थे। जो फल लगते थे, कम ही लगते थे, और जितने भी लगते थे, उनका इस्तेमाल हम ही कर लेते थे। इसके बदले बेर के पेड़ लगाए जायं, तो फल बहुत लगेंगे और इस रास्ते से आने-जानेवालों को खुले हाथों बांटे जा सकेंगे। लोकहित की इस दृष्टि के कारण हमने पहले वाले फलदार पेड़ों को खत्म कर दिया और उनकी जगह भांति-भांति के बेर लगा दिये।"

रामचंद्र ने पूछा, "शबरी ! इन पेड़ों में लगे बेरों का तुम क्या करती हो ?"

बुढ़िया आनंद-भरे स्वर में बोली, "बस, उन्हें हम लोगों को मुफ्त में बांटते रहते हैं। यह पंपा का आम रास्ता है। इस रास्ते हर रोज सैकड़ों स्त्री-पुरुष और बालक आते-जाते हैं। जाड़ों के दो-तीन महीनों में तो मैं

रोज इस टोकरी में अपने बीने बेर भरकर यहां बैठ जाती हूं और इधर से निकलनेवाले बालकों को बुला-बुलाकर बांटा करती हूं।"

लक्ष्मण ने विनोदपूर्वक पूछा, "इस आश्रम में आप तपस्या भी तो करती होंगी न ?"

बुढ़िया ने कहा, "भैया ! मनुष्य का जनम मिला है, इसलिए आश्रम में रहकर तप करने की इच्छा तो होती ही है। एक बार मैंने ऋषि बाबा से कहा भी था कि वे मुझे कोई व्रत बता दें, जिससे मेरा जनम सफल हो जाय। इस पर उन्होंने मुझसे कहा, 'शबरी ! तू बेर के मौसम में रोज बेर बीनकर इस रास्ते से जाने-आनेवाले बटोहियों को बांटा कर। यही तेरी तपस्या है।' तभी से रोज बेर बीनकर यह टोकरी भर लेती हूं और यहां बैठकर इधर से जाने-आनेवाले सब लोगों को बांटा करती हूं।"

लक्ष्मण बोले, "आपका यह व्रत कब पूरा होगा ?"

शबरी ने कहा, "मैंने इसके बारे में भी मतंग मुनि से पूछा था।"

"मतंग बाबा ने आपको क्या कहा ?" लक्ष्मण ने पूछा।

शबरी बोली, "मुनि ने मुझसे कहा कि शबरी ! आज मैं अपनी यह देह छोड़कर स्वर्ग जा रहा हूं। तूने गरीब लोगों को बेर बांट-बांटकर उनके जो आशीर्वाद प्राप्त किये हैं, उनकी पूर्णाहुति का समय समीप आ रहा है। अयोध्याकुमार रामचंद्र और लक्ष्मण इस ओर आने के लिए चल पड़े हैं। हमारा समय तो पूरा हो चुका है, इसलिए हमें उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त नहीं होगा। लेकिन तू उनके दर्शनों की राह देखना। जब वे दोनों भाई इस रास्ते निकले तो उनके चरणों में अपने बढ़िया-से-बढ़िया बेर चढ़ाना। वे दोनों महापुरुष हैं, ईश्वर के अवतार-रूप हैं। जिस दिन वे तेरे दिये बेर चखेंगे, समझ लेना कि उसी दिन तेरे तप की पूर्णाहुति हुई।"

लक्ष्मण ने पूछा, "माजी ! आपने राम-लक्ष्मण को कभी देखा है ?"

बुढ़िया ने कहा, "नहीं भैया ! मैं उन्हें कहां देखती ? मैं तो न जाने कितने दिनों से रोज बड़े सबेरे टोकरी में बेर भरकर यहां बैठ जाती हूं और मन के घोड़े दौड़ाती रहती हूं कि वे दोनों अभी आयंगे और मेरे बेर चखेंगे लेकिन वे तो आ ही नहीं रहे ! मेरे नसीब का खेल है ! ऋषि बाबा जाते-जाते कह गए हैं, इसलिए मैं मानती हूं कि वे जरूर आयंगे। वे आ जायं

और मेरे दो बेर चख लें, तो मुझे लगे कि मेरा तप पूरा हुआ।"

लक्ष्मण ने बताया, "माजी ! ये जो तुम्हारे पास बैठे हैं, यही राम हैं।"

बुढ़िया चकित होकर देखने लगी और बोली, "हो नहीं सकते ! पर भैया ! मुझे आंखों से ठीक दीखता नहीं है। जरा पास आ जाओ। तुम रामचंद्र हो !" और तुम लक्ष्मण हो ! भैया ! आज तो तुम दोनों ने मुझे खूब बनाया !"

राम-लक्ष्मण बोले, "माजी ! हम दोनों आपके चरणों में अपने मस्तक झुका रहे हैं। आप हमें आशीर्वाद दीजिए।"

बुढ़िया ने कहा, "बेटा ! मुझ भीलनी के आशीर्वाद का क्या होगा ? ईश्वर तुम्हारे मन के सब मनोरथ पूरे करें। लो, अब ये बेर चखो और मेरा व्रत सफल करो।"

राम बोले, "शबरी ! आपका व्रत तो सफल ही है। आपके समान भोले और सादे लोग गरीबों के दुःख को ध्यान में रखकर जो व्रत करते हैं, उस व्रत से तो हमारे-जैसे लोग पवित्र बनते हैं। आपके दीने बेर खाने का सौभाग्य हमें कहां मिलता है ?"

बुढ़िया बोली, "भैया ! एक बात कहूं ? ये बेर मैंने चख-चखकर इकट्ठे किये हैं। आपके समान लोगों को अच्छे बेर न दे तो कितना बुरा होगा। इसलिए मैंने ये बेर जूठे कर दिये।"

रामचन्द्र ने कहा, "शबरी ! दुनिया के लोग भगवान की जूठन खाने में अपना अहोभाग्य मानते हैं; लेकिन आपके समान पवित्र मां की जूठन खाने का सौभाग्य तो किसी बिरले को ही मिलता है। मांजी ! आप जानती नहीं हैं। भले ही आपने दूसरे व्रत और तप न किये हों, भले ही आपने ऋषि के यज्ञ-यागादि में भाग न लिया हो, भले ही आपने त्रिकाल स्नान न किया हो, या वेद के मंत्र न पढ़े हों, किन्तु अपने इस सादे तप से आपने ऐसी पवित्रता प्राप्त की है कि बड़े-बड़े मुनिवर आपके समान लोगों के पैरों का धूल को अपने माथे पर लगाने की कोशिश में रहते हैं। माजी ! हम अयोध्या के राजकुमार तो आज आपके चरण-स्पर्श से पवित्र हुए हैं। लाइए, हमें अपने बेर दीजिए, जिससे खाकर हम और अधिक पवित्र हो लें।"

टोकरी पर ढका कपड़ा हटाते हुए बुढ़िया ने कहा, "भैया ! आप यह

सब क्या कह रहे हैं ? लो, इन्हें चखो।"

रामचंद्र बोले, "देखो, लक्ष्मण ! बेर कितने मीठे हैं !"

लक्ष्मण ने कहा, "माजी का दिल जितना मीठा है, उतने ही मीठे उनके ये बेर भी हैं।"

राम बोले, "इन बेरों की तुलना में सारे संसार के मेवे तुच्छ हैं !"

लक्ष्मण ने कहा, "इन माजी के तप की तुलना में उतने ही तुच्छ तप हैं बड़े-बड़े तपस्वियों के।"

रामचंद्र बोले, "लक्ष्मण ! हमने तेरह वर्षों तक आश्रम देखे, और बड़े बड़े ऋषि-मुनियों के दर्शन किये; उन आश्रमों में मुझे अपनी संस्कृति की आत्मा का निर्माण होता दिखाई दिया है; किन्तु हमने तो उन आश्रमों के ऋषि-मुनियों को ही देखा, उन आश्रमों के शिष्यों को ही देखा, उन आश्रमों के कुलपतियों के ही दर्शन किये, उन आश्रमों की गुरुपत्नियों से ही हमारा परिचय हुआ, हमने उन आश्रमों की वेदध्वनियां ही सुनी; किन्तु उन आश्रमों के किसी अज्ञात कोने में इन माजी के समान कोई एकाध हृदय— सादा, सीधा, भोला हृदय—केवल आंखों से न दीखने वाली किसी अगम रीति से प्रभु के गरीब लोगों की मूक सेवा किया करता होगा, इसकी खोज तो हमने की नहीं। भले ही हमारी संस्कृति का निर्माण आश्रमों से होता हो, किन्तु उस संस्कृति के सच्चे प्रवाह को तो ऐसे हृदय ही जीवित रखते हैं। शबरी, माजी ! आपकी देह भले ही भील की हो, पर आपकी आत्मा तो ब्राह्मण की है।"

बुढ़िया बोली, "रामचंद्र, लक्ष्मण ! अब मुझे आज्ञा दीजिए। मेरे जाने का समय हो चुका है। मेरे गुरु जिस अग्नि में समर्पित हुए हैं, उसी ऋग्नि में मैं भी अपनी देह होम दूंगी और उनसे जा मिलूंगी। मुझे आज्ञा दीजिए।"

रामचंद्र ने कहा, "माजी ! सिधारिए। लक्ष्मण ! कैसा सरल जीवन और कैसी उज्ज्वल मृत्यु ! यह आश्रम मतंग ऋषि का है या शबरी का ?"

राम-लक्ष्मण उठकर खड़े हो गए। बुढ़िया अपनी टोकरी लेकर होम-शाला की ओर चल दी और राम-लक्ष्मण दरवाजे से बाहर निकलकर आगे चल पड़े।

: १६ :

सुग्रीव-मिलन

ऋष्यमूक पर्वत के एक शिखर पर लक्ष्मण और हनुमान बैठे थे। कुछ दूर किष्किंधा पर अस्त होते हुए सूर्य की मंद-मंद किरणें अपना प्रकाश फैला रही थीं। पर्वत की तलहटी में बनी एक पर्णकुटी में रामचंद्र और वानरराज सुग्रीव दोनों किसी गहरे विचार में डूबे बैठे थे। नल, नील और ऋक्षवान इस पर्णकुटी के बाहर पहरा दे रहे थे।

हनुमान बोले, "कुमार ! महाराज रामचंद्र ने सुग्रीव के साथ जो मित्रता की है, वह वानरों के इतिहास की अद्वितीय घटना मानी जायगी।"

लक्ष्मण ने कहा, "अयोध्या के राजा का वानर-राज के साथ मित्रता के बंधन में बंधना हम आर्यों के इतिहास की अद्वितीय घटना है। किंतु हनुमान ! बड़े भैया के जीवन की यही विशिष्टता है। आप तो वानर हैं और हम आज संकट में फँसे हैं। लेकिन जब हम अयोध्या छोड़कर गंगा-किनारे पहुंचें, तो निषादराज गुह के प्रति भी बड़े भैया ने इसी तरह मित्रता का अपना हाथ बढ़ाया था।"

हनुमान बोले, "यही उनका बड़प्पन है। लक्ष्मण ! सच कहूं ? जब से मैंने तुम दोनों को देखा है, तभी से मेरा हृदय एक विचित्र रीति से रामचंद्र की ओर खिंच रहा है। मैं प्रायः यही सोचा करता हूं कि कब राम के चरणों में लौटूं और कब उनकी सेवा करके कृतार्थता का अनुभव करूं! मुझे प्रतीक्षा इसी बात की है कि सुग्रीव का काम किनारे लग जाय।"

लक्ष्मण ने कहा, "किंतु हनुमान ! आपके सुग्रीव को मनुष्य की परख नहीं है। वे मुझे पारखी नहीं लगे।"

हनुमान ने पूछा, 'वानर-राज सुग्रीव को परख नहीं है ?"

लक्ष्मण कहने लगे, "हां, वे पारखी नहीं हैं। जब रामचंद्र ने मित्रता का हाथ बढ़ाया, तो सुग्रीव ने कहा, 'हम अग्नि की साक्षी में मित्रता करेंगे।' क्या रामचंद्र के वचन से भी अग्नि की साक्षी अधिक विश्वसनीय है ?"

हनुमान बोले, "यह सुग्रीव अपने जीवन में कई चोटें खा चुका है, इसलिए अब इसको जो भी कदम उठाना होता है, यह सोच-समझकर ही उठाता है। जबतक इसे पूरा विश्वास न हो जाय, तबतक यह किसी पर भरोसा नहीं करता। यह तो दुनियादारी के मामले में उसकी चतुराई की निशानी है।"

लक्ष्मण ने जवाब दिया, "बहुत देखी ऐसी चतुराई ! औरों के साथ तो ठीक, पर बड़े भैया के साथ भी ऐसा सौदा ?"

हनुमान बोले, "कुमार लक्ष्मण ! बेचारा वानर-राज इतना हैरान और परेशान हुआ है कि वह मनुष्य-समाज पर अपनी श्रद्धा ही खो बैठा है।"

लक्ष्मण ने संतप्त होकर कहा, "और हनुमान ! तुम्हारे इस सुग्रीव ने रामचंद्र के बल की परीक्षा लेनी चाही ? जिन बड़े भैया ने देखते-देखते शंकर का धनुष तोड़ डाला और जिनके कंधे पर आज भी वरुण का धनुष लटकता है, उन राम के पराक्रम को संदेह की दृष्टि से देखना और यह मानना और कहना कि अगर वे ताल के पेड़ों को वेध सकेंगे, तो बाली के साथ भी युद्ध कर सकेंगे, क्या यह सुग्रीव की धृष्टता की पराकाष्ठा नहीं थी? हनुमान ! मैं आपके स्वामी की आलोचना कर रहा हूं,इसके लिए मुझे माफ कीजिए। यदि आज मेरे जिम्मे सीता देवी की खोज का काम न होता, तो मैं वानर-राज सुग्रीव को अपने बल का मजा चखा देता। बड़े भैया तो उदार हैं और आज उनके मन पर सीता की खोज का भार है, इस कारण इस समय सुग्रीव जो भी कहेगा, वही वे करेंगे। किंतु रामचंद्र को सुग्रीव की मित्रता प्राप्त करने के लिए इस हद तक जाना पड़ता है, यह मुझसे सहा नहीं जाता ?"

हनुमान बोले, "भैया लक्ष्मण ! यों ताव में मत आओ। जिस तरह तुम अपनी एक दृष्टि से सोचते हो, उसी तरह तुम सुग्रीव की दृष्टि से भी थोड़ा विचार करोगे, तो सुग्रीव पर गुस्सा होने के बदले तुम्हें उस पर दया ही आवेगी। सुग्रीव ने राज्य खोया है, स्त्री खोई है, जन्मभूमि खोई है, मित्र खोए हैं और जीवन में जो-जो भी कुछ मूल्यवान है, सो सब खोया है। इसके अलावा, उसने बाली के पराक्रम का स्वाद भी चखा है। बाली

कितना बलशाली है, सुग्रीव को इसका निजी अनुभव है। जो बाली रावण-जैसे बलशाली को छह-छह महीनों तक अपनी बगल में दबाए रहा, उसके पराक्रम का क्या पूछना था? उस बाली को हराने के लिए तो उससे भी अधिक पराक्रम की आवश्यकता है। क्या उसके लिए यह शंका करना सहज नहीं है कि रामचंद्र में इस कोटि का पराक्रम है या नहीं? सुग्रीव ने बाली को हराने के लिए आजतक बहुत हाथ-पैर पटके हैं। इसी का यह परिणाम है कि आज वह ऋष्यमूक पर्वत पर भटक रहा है। अब फिर से प्रयत्न करना हो, तो उसे अपने प्रयत्न के विषय में तसल्ली तो कर लेनी चाहिए? रामचंद्र को ताल बेधने की जो बात कही गई है, वह पक्की तसल्ली के लिए ही है। सुग्रीव को हम सबने यही सलाह दी है कि बिना कारण बाली के साथ लड़ने को निकलने और फिर मार खाकर लौटने से तो यही अच्छा है कि व्यर्थ का प्रयत्न ही न किया जाय। इसी कारण सुग्रीव ने अग्नि की साक्षी चाही और रामचंद्र को अपनी शक्ति की परीक्षा देने के लिए कहा। इसे तुम अपने बड़े भैया का अपमान मत समझो, बल्कि यह मानो कि सुग्रीव ने अपना आत्मविश्वास सुदृढ़ करने के लिए यह उपाय किया है। लक्ष्मण! जिसने जीवन में अनेक निराशाएं देखी हैं, क्या वह अंत में आत्मविश्वास नहीं गँवा बैठता? आज सुग्रीव की भी यही दशा हुई है।"

लक्ष्मण ने कहा, "हनुमान! बात तो तुम्हारी ठीक है। देखो न, स्वयं बड़े भैया भी आज आत्मश्रद्धा गंवाकर बैठे हैं। जब से देवी गायब हुई हैं, खुद पागल की तरह घूम रहे हैं, और देवी की खोज के लिए और उन्हें वापस पाने के लिए सबकुछ करने को तैयार हो जाते हैं। आज भी देवी का प्रश्न न होता, तो क्या बड़े भैया सुग्रीव की इस अपमानजनक परीक्षा को स्वीकार करते? आज बड़े भैया के मन में एक सीता देवी ही बसी हैं, इसलिए उनके लिए वे चाहे जो करने को तैयार हैं। किंतु हनुमान! इतनी कठिन परीक्षा लेने के बाद सुग्रीव अपना वचन तो पालेगा न?"

हनुमान बोले, "मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है। बस, एक बार बाली को हराकर सुग्रीव के किष्किंधा की गद्दी पर बैठने-भर की देर समझो। किष्किंधा की गद्दी की अपेक्षा सुग्रीव को जो बात अधिक खटकती रहती है वह तो यह है कि बाली सुग्रीव की पत्नी रूमा को अपने पास रखे हुए

हैं। लक्ष्मण ! अपनी स्त्री को दुश्मन के हाथ में पड़ा देखकर पुरुष अपना संतुलन किस हद तक खो बैठता है, रामचंद्र के समान धीर पुरुष को देखने से हम इस बात को समझ सकते हैं। एक बार सुग्रीव बाली को हराकर रूमा को फिर प्राप्त कर ले, तो समझ लो कि सीता देवी मिल ही चुकी हैं।"

लक्ष्मण ने कहा, "तब तो ठीक है। मुझे इसमें कोई संदेह नहीं कि बाली बड़े भैया के हाथों मरेगा।"

हनुमान बोले, "तो हमारे हाथों सीता का पता चलेगा, इसमें मुझे भी कोई संदेह नहीं है।"

लक्ष्मण ने कहा, "हनुमान ! चलो, हम पर्णकुटी में चलें। सुग्रीव एक बार तो हारा है और वापस आकर बड़े भैया के साथ मंत्रणा कर रहा है।"

हनुमान बोले, "वह मार खाकर लौटा है, यही तो उसके भय का कारण है। उसने माना था कि जब वह युद्ध शुरू करेगा, तभी पीछे से राम बाली को मार डालेंगे।"

लक्ष्मण ने कहा, "बड़े भैया भी यही सोच रहे थे। इसलिए जब सुग्रीव ने बाली को ललकारा, उस समय बड़े भैया अपना बाण छोड़ने की तैयारी से वहीं खड़े थे; किंतु बाली और सुग्रीव के चेहरे एक-दूसरे से इतने मिलते हैं कि उनमें कौन बाली है और कौन सुग्रीव, इसे बड़े भैया पहचान नहीं पाये। इसीलिए उन्होंने बाण नहीं छोड़ा।"

हनुमान बोले, "तभी तो सुग्रीव को भागना पड़ा।"

लक्ष्मण ने कहा, "हनुमान ! देखो, वह नील हमें नीचे उतरने का इशारा कर रहा है। सुग्रीव और बड़े भैया पर्णकुटी के बाहर आ गए हैं। अब शायद कल फिर सुग्रीव दूसरी बार बाली को ललकारेगा।"

हनुमान बोले, "लक्ष्मण ! भगवान करे, तुम्हारा वचन फले और वानर-राज सुग्रीव की विजय हो। अब तो मेरा मन यह देखने के लिए छटपटा रहा है कि कब सुग्रीव गद्दी पर बैठे और कब हम सब सीता देवी की खोज करके उन्हें बड़े भैया के हाथ सौंपे। लक्ष्मण! सुग्रीव और रामचंद्र का मिलन हुआ, वे परस्पर मित्र बने, और दोनों ने एक-दूसरे की सहायता

करने की शपथ ली, इन सब प्रसंगों का मैं साक्षी रहा हूं, इसलिए जबतक ये सारे काम पार न पड़ जायं, तबतक हनुमान चैन से नहीं रह पायगा। मुझे ऐसा लगता है, मानो इन सबको पार डालने की जिम्मेदारी मेरी हो।"

लक्ष्मण ने कहा, "यह जिम्मेदारी तुम्हारी तो है ही। बड़े भैया तो कहते हैं कि हनुमान न होता, तो वे सुग्रीव पर विश्वास ही न करते। हनुमान ! तुम्हारा सौजन्य, तुम्हारी निष्ठा, तुम्हारी कुलीनता और तुम्हारी धर्मबुद्धि, इन सबसे प्रेरित होकर ही हम इस ओर आए और तुम्हें देखकर हमने सुग्रीव का पता लगाया। अब अगर सुग्रीव कृतघ्न सिद्ध हुआ तो हम तो यही सोचेंगे कि हनुमान पर विश्वास रखकर हमने भूल की।"

हनुमान बोले, "मुझे यही चीज खटकती है। सीता के लिए तुमको जितनी उतावली है, उससे अधिक उतावली मुझे है। इसके पहले कदम के रूप में बाली को हराकर सुग्रीव को किष्किधा में स्थापित करना चाहिए। चलो, अब हम उतरें। ये जाम्बवंत हमें बुलाने के लिए ऊपर आ रहे हैं।"

हनुमान और लक्ष्मण ऋष्यमूक के शिखर से नीचे उतरे और सुग्रीव तथा रामचंद्र से मिले।

: १७ :

बाली का आरोप

किष्किधा के गढ़ के बाहर खुले मैदान में बाली पड़ा था; उसके शरीर में से रक्त बहा जा रहा था; उसके सिर के लाल-लाल बाल सूर्य के प्रकाश में चमक रहे थे; उसके शरीर पर चढ़ा बख्तर ढीला हो गया था; उसकी आंखें बीच-बीच में मुंद जाती थीं; उसके चेहरे पर एक अद्भुत तेज जगमगा रहा था।

बाली की मृत्यु-शय्या के आसपास तारा, रूमा, अंगद, सुग्रीव आदि उपस्थित थे; बाली की सीधी दृष्टि उन पर पड़ सके, इस तरह रामचंद्र और लक्ष्मण भी वहां खड़े थे।

बाली ने मृत्यु की दारुण वेदना के बीच भी मुस्कराते हुए कहा, "रामचंद्र ! आपने गजब किया !"

रामचंद बोले, "वानरराज ! आप ऐसा क्यों कह रहे हैं ?"

बाली ने कहा, "मैं और क्या कहूं ? भले अयोध्याकुमार ! मैंने आपके विषय में ऐसी-ऐसी बातें सुनी हैं कि मुझे अपना मस्तक आपके चरणों में रखने की इच्छा हो आती है। फिर आज मृत्यु के समय आपके दर्शन हुए, इसे मैं अपना अहोभाग्य ही समझता हूं। किंतु..." बाली को हल्का-सा झोंका आ गया और पल-भर के लिए उसकी आंखें मुंद गईं। आंख खुलने पर उसने कहना शुरू किया, "किंतु..."

रामचंद्र ने पूछा, "किंतु क्या ?"

बाली बोला, "कहूं ? हम वानर मिथ्या शिष्टाचार नहीं जानते, इसलिए आपको खरी-खरी कहना चाहता हूं।"

राम ने कहा, "खुशी से कहिए।"

बाली बोला, "आपने पेड़ की आड़ में छिपकर मुझ पर जो प्रहार किया, वह आपको शोभा नहीं देता। मैं वानर, सुग्रीव भी वानर; किंतु आप तो रघुकुल के दीपक ठहरे ! मुझसे लड़ने के लिए तो सुग्रीव आया था। युद्ध हम दोनों के बीच था। सुग्रीव हारने ही वाला था, तभी आपने मुझ पर पीछे से प्रहार किया। परिणाम यह हुआ कि सुग्रीव जीत गया और मैं हार गया। किंतु सुग्रीव की यह जीत अधर्म-पूर्वक हुई है, इसलिए इसका अंतिम परिणाम अच्छा नहीं निकलेगा।"

रामचंद्र ने कहा, "बाली ! आपका व्यवहार अधर्ममूलक रहा। आपने सुग्रीव की पत्नी रूमा को अपने पास रखा और अपने सगे भाई को निकाल बाहर किया, यह आपका अधर्म था। इस अधर्म के कारण मुझे आपको दंड देना पड़ा है।"

बाली बोला, "रामचंद्र ! सीता-हरण के कारण आप उन्मत्त से बन गए हैं, इसलिए धर्म-अधर्म को यों तौल रहे हैं। यह तो हम भाइयों के बीच

का झगड़ा था। आप तो सीता की खोज का स्वार्थ लेकर यहां आए और उसी स्वार्थ से प्रेरित होकर आप दोनों ने परस्पर मित्रता की। आप दोनों ने अपनी स्त्रियां खोई थीं, इस कारण दोनों का दुःख एक-सा था। इस सीधी-सादी स्वार्थ की बात को धर्म का रूप देकर आप मुझे क्यों डरा रहे हैं ? हम बानर भी धर्म-अधर्म को कुछ तो समझते ही हैं।"

रामचंद्र ने उत्तर में कहा, "वाली ! मैं सुग्रीव के साथ वचन से बंधा था, इसलिए मुझे उसकी मदद तो करनी थी।"

बाली बोला, "मैं भी यही कह रहा हूं। इस प्रकार का वचन ही अधर्म-मूलक और अज्ञान-मूलक था।"

रामचंद्र ने पूछा, "अज्ञान-मूलक कैसे ?"

बाली ने कहा, "सीता की खोज के लिए आपने सुग्रीव पर जो विश्वास किया, उसके बदले आपने मुझसे कहा होता, तो मैं चुटकी बजाते-बजाते सीता को कहीं से भी ले आता और आपके सामने उपस्थित कर देता। बेचारा रावण सीता को छिपाकर भी आखिर कहां छिपाता ? उसने भी बाली की मेहमानदारी का स्वाद लिया था ! और रामचंद्र" बाली आगे बोला, "आपके समान अयोध्याकुमार अपने पराक्रम की प्रतीति करवाने के लिए ताल के पेड़ को बींधें, अपने आपमें यह कितनी हास्यास्पद बात है ! खैर, जो हुआ, सो हुआ। मेरी तारा ने तो मुझसे कहा था कि सुग्रीव दूसरी बार ललकार रहा है, इसका मतलब ही है कि उसे कोई बड़ा सहारा मिल गया है। वह तो ललकार का जवाब ललकार से देने के लिए मुझे मना ही कर रही थी, किंतु मुझे आप पर विश्वास था। मैं मानता था कि रामचंद्र छिपकर प्रहार नहीं करेंगे; ऐसा प्रहार करना रघुकुल की नीति के विरुद्ध है। मुझे इस बात का दुःख नहीं है कि मेरा विश्वास मिथ्या सिद्ध हुआ, बल्कि दुःख इस बात का है कि रामचंद्र के उज्ज्वल जीवन पर यह एक दाग लग गया।"

हनुमान बोले, "बानरराज ! अब आपकी व्यथा बढ़ती जा रही है; आप अधिक श्रम न करें। अपना अंत समय सुधार लें।"

बाली कहने लगे, "जिसकी देह पर रामचंद्र के समान महापुरुष की दृष्टि पड़ती है, उसका अंत समय तो सुधरा ही समझो। हनुमान ! मैं तो

अब चला। तू सुग्रीव के मित्रों में है, इसलिए मैं निश्चिंत हूं। मेरी तारा को संभालना; अंगद का मार्गदर्शन करना। किष्किन्धा की गद्दी पर वाली हो, चाहे सुग्रीव हो, किंतु करना वही, जिससे हमारे राज्य का निरंतर कल्याण होता रहे। सुग्रीव ! तू यही समझ कि हम भाई ही हैं। भूल जाना कि कभी हमारे मनों में कोई खोट पैदा हुई थी। तेरी रूमा को मैंने किस तरह संभाला है, सो रूमा ही तुझसे कहेगी। रामचंद्र ! मुझे आशीर्वाद दीजिए ! सुग्रीव ! रामचंद्र को जो वचन दिया है, उसका पालन निष्ठापूर्वक करना। उनकी महिमा का पता तुझे दिन-पर-दिन अधिक चलेगा।"

इतना कहने के बाद वाली ने सदा के लिए अपनी आंखें मूंद लीं और वहां बैठे सब लोगों ने विलाप शुरू किया।

किष्किंधा के रणक्षेत्र पर वाली इस तरह फैलकर पड़ा था, मानो किसी बड़े पर्वत के शिखर पर से घबड़ाकर नीचे गिरा हो। उसके चारों ओर अंधेरा फैल गया।

: १८ :

सीता के समाचार

वाली की मृत्यु के बाद उसकी उत्तरक्रिया पूरी करके सुग्रीव मंत्रियों की सम्मति से किष्किंधा की गद्दी पर बैठा। उसने वाली के पुत्र अंगद को अपना युवराज बनाया और देश के समस्त वानरों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

इसके बाद उसने सीता की खोज के लिए अपने वानरों को चारों दिशाओं में भेज दिया—एक टुकड़ी को पूर्व में भेजा, दूसरी को पश्चिम में, तीसरी को उत्तर में और चौथी को दक्षिण में। इन चारों टुकड़ियों के नेता के रूप में उसने अपने चुने हुए वानरों को नियुक्त किया था। टुकड़ियों

को बिदा करते समय सुग्रीव ने सबको जता दिया, "सीतादेवी जहां भी हों, वहां उन्हें खोजो। पृथ्वी का और अंतरिक्ष का कोना-कोना छान डालो और देवी के समाचार लाओ। सब टुकड़ियों को एक महीने के अंदर वापस आना है। जो एक महीने के अंदर वापस नहीं आयेंगे, उन्हें अपने सिर गंवाने की तैयारी रखनी होगी।"

रामचंद्र को यह देखकर संतोष हुआ कि सुग्रीव इस प्रकार अपने वचन का पालन करने को तैयार हो गया। अब सीता के समाचार पाने की आशा में उनके दिन बीतने लगे। टुकड़ियों को विदा हुए आठ दिन बीते, पंद्रह दिन बीते, बीस दिन बीते, महीना बीतने आया। टुकड़ियां एक के बाद एक वापस आने लगीं, लेकिन सीता के समाचार नहीं मिले, इससे राम के उद्वेग की सीमा न रही ! पूर्व की ओर गई टुकड़ी सबसे पहले वापस आई। उसे सीता का पता न चला। इसी प्रकार पश्चिम और उत्तर की टुकड़ियां भी निराश होकर वापस आ गईं। केवल दक्षिण की ओर गई टुकड़ी का अभी पता नहीं था। सुग्रीव द्वारा दी गई एक महीने की अवधि के बीत जाने पर भी यह टुकड़ी लौटी नहीं थी ! इस टुकड़ी का सरदार बाली का पुत्र अंगद था। सुग्रीव के संकट के समय के साथी और मित्र हनुमान, नल, नील आदि भी इसी टुकड़ी में थे। टुकड़ी वापस क्यों नहीं आई ? क्या अंगद ने विद्रोह करके सुग्रीव की आज्ञा की अवज्ञा करने का निर्णय किया था ? क्या यह टुकड़ी देवी की खोज में कहीं खप गई ? क्या अंगद को इच्छा हुई कि वह सुदूर दक्षिण में अपना नया राज्य स्थापित करे ?

रामचंद्र ने सुग्रीव से कहा, "अब मेरी आशा भंग होती जा रही है। तीन टुकड़ियां लौट चुकी हैं और चौथी भी आजकल में आ ही जायगी। इसका मतलब यही न हुआ कि अब मैं वैदेही की आशा छोड़ दूं ?"

सुग्रीव बोला, "भगवन् ! यों निराश होने का तो कोई कारण है नहीं। अंगद की टुकड़ी अकेली होती, तो मुझे भी सोचना पड़ जाता; किंतु उस टुकड़ी में हनुमान भी है, इस कारण मेरी आशा का तंतु टूट नहीं रहा है।"

राम कहने लगे, "मुझे ढाढ़स बंधाने के लिए आप ऐसी बातें चाहे

कहें, पर क्या भरोसा कि रावण ने सीता को मार न डाला हो ? सुग्रीव, वानर-राज ! मेरा चित्त विह्वल हो रहा है, मुझे कुछ सूझता नहीं। यदि सीता का पता न चल सका, तो मैं इस पर्वत पर ही अपनी देह छोड़ दूंगा। देवी के बिना में जी नहीं सकता।"

सुग्रीव बोला, "रामचंद्र, रघुकुल-दीपक ! यों हिम्मत न हारिए। जब मैं निराश हो रहा था, उस समय आप ही ने मुझे हिम्मत बंधाई थी। फिर आज आप इतने निराश क्यों हो रहे हैं ? यदि अंतिम टुकड़ी भी खाली हाथ वापस आई, तो सुग्रीव स्वयं देवी की खोज में निकलेगा और रावण ने उन्हें ब्रह्मांड के किसी अगोचर कोने में छिपाया होगा, तो वहां से भी उन्हें खोज निकालेगा। आपने अपना वचन सत्य करके दिखाया है, तो सुग्रीव भी अपने वचन की कीमत समझता है। अयोध्यापति ! मुझे आप कृतघ्न मत समझिए। यदि मैं सीता की खोज न कर पाऊंगा तो मैं अपनी रूमा को मुंह नहीं दिखा सकूंगा।"

ऋष्यमूक की तलहटी में घूमते हुए राम और सुग्रीव इस प्रकार बात-चीत कर रहे थे, तभी सुग्रीव का मामा दुर्मुख वहां आ पहुंचा। दुर्मुख का मुंह देखने में अच्छा नहीं लगता था। उसके हाथ-पैर रस्सी की तरह पतले थे। उसकी आंखों की पुतलियां बाहर को निकली हुई थीं। इतनी उमर हो जाने पर भी उसके चेहरे पर रेख तक नहीं फूटी थी। किष्किंधा से कुछ दूर पर्वत की तलहटी में सुग्रीव का एक बगीचा था। दुर्मुख उसी की रख-वाली करता था।

"सुग्रीव!" दुर्मुख लाल-पीला होता हुआ आया और बड़बड़ाने लगा, "मुझे तेरे बगीचे की रखवाली नहीं करनी है ! ले संभाल ले अपनी चाबी !"

दुर्मुख की ओर देखकर सुग्रीव ने पूछा, "क्यों मामा ! क्या बात है ? इतने लाल-पीले क्यों हो रहे हो ?"

दुर्मुख कहने लगा, "लाल-पीला न होऊं, तो क्या करूं ? रोज-रोज तेरे सगे-संबंधी आ-आकर बगीचे को तहस-नहस करते रहें और मैं सहन करता चला जाऊं ?"

सुग्रीव बोला, "लेकिन मामा ! कहो तो सही कि बात क्या हुई ?"

दुर्मुख ने मुंह फुलाकर कहा, "मैं नाहक क्यों किसी की चुगली खाऊं ? तू जाने और तेरा बगीचा जाने ! मुझे आज से छुट्टी दे दे !"

सुग्रीव ने हँसते-हँसते कहा, "लेकिन मामा ! बुढ़ापे में कहीं कोई इस तरह से रूठा करता है ? आप अपनी हैरानी की बात बताएं, तो उसका कोई उपाय किया जाय। आप न बोलें, न चालें और चाबी का गुच्छा फेंक-कर खड़े हो जायं, तो उससे मुझे क्या पता लगे।"

दुर्मुख बोला, "देख भैया ! कहते-कहते मेरी तो जीभ ही घिस चुकी है। आज फिर कहे देता हूं। यह तेरा अंगद अपनी ऊधमी टोली के साथ मधुवन में घुस आया है और सब बंदर मिलकर सारे बगीचे को उजाड़ रहे हैं। एक-दो बंदरों ने तो मधुमक्खी के छत्तों को छेड़ दिया, जिससे मेरा सारा मुंह सूज गया। सारे बंदर कच्चे आम तोड़कर खा रहे हैं, पेड़ों पर झूलते हैं, फूल-फल तोड़ते हैं, शहद के छत्तों को चूसते हैं और अपने दांत निपोड़-निपोड़कर मुझे चिढ़ाते हैं।"

सुग्रीव ने पूछा, "मामा ! आपने उन्हें रोका क्यों नहीं ?"

दुर्मुख ने जवाब दिया, "रोकता तो हूं, लेकिन मेरी सुनता कौन है ? एक को मना करता हूं, तो दूसरे पच्चीस घुस जाते हैं। मैं उन्हें मारने को झपटता हूं, तो वे पेड़ की फुनगी पर चढ़कर बैठ जाते हैं। वे सब नौजवान हैं। मैं बूढ़ा ठहरा ! कैसे उनका मुकाबला करूं ? फिर वाली रहा नहीं, अंगद बिना बाप का बेटा ठहरा, मैं उसे कुछ कह बैठूं या कर बैठूं, तो तारा को बुरा लग जायगा। ये हैं मेरी मुसीबतें ! कहां तक गिनाऊं ?"

रामचंद्र बीच में बोले, "वानरराज ! क्या ये हमारी चौथी टुकड़ी की बात कह रहे हैं ?"

सुग्रीव ने कहा, "जीहां, ऐसा लगता है कि अंगद की टुकड़ी आ पहुंची है।"

राम अधीर-भाव से बोले, "तो उन्हें जल्दी बुला लो।"

सुग्रीव ने कहा, "भगवन् ! अंगद की यह टुकड़ी उछलती-कूदती आ रही है, इससे लगता है कि इन लोगों को देवी का पता चल चुका है, नहीं तो ऐसी धमाचौकड़ी इन्हें सूझती नहीं।"

राम ने जोर देकर कहा, "वानर-राज ! जल्दी करो। मामा ! ये

सुग्रीव सारी व्यवस्था कर देंगे, आप जाकर अंगद को यहां तुरंत भेज दीजिए।"

दुर्मुख मन-ही-मन बड़बड़ाया, "हे भगवान ! मैं तो जहां-का-तहां ही रह गया ! इतनी दूर चलकर आया, सो बेकार ! भले ही वे सारा बगीचा उजाड़ डालें। मेरी बला से ! खैर, आज तो मैं इन सबको जाने दूंगा, लेकिन कभी अंगद अकेला बगीचे में आयेगा, तो मैं उसका गला घोट दूंगा। फिर सुग्रीव को और तारा को मेरे साथ जो भी करना हो, वे कर लें।"

इस तरह बड़बड़ाता दुर्मुख मधुवन में पहुंचा। अंगद की टुकड़ी उसे रास्ते में आती हुई मिली। दुर्मुख ने अंगद को सुग्रीव का संदेश सुना दिया। अंगद, हनुमान, नल, नील आदि वानर नाचते-कूदते ऋष्यमूक की तलहटी में आ पहुंचे।

... ...

सुग्रीव ने अंगद की पीठ थपथपाते हुए कहा, "बेटा अंगद ! शाबाश ! आखिर तुमने मेरी लाज रख ली !"

अंगद बोला, "पिताजी ! हममें शाबाशी का कोई हकदार है, तो वह है हनुमान। उसके पराक्रम के कारण ही आज हम सब उज्ज्वल हुए हैं।"

लक्ष्मण ने पूछा, "हनुमान कहां है ?"

अंगद ने अंगुली का इशारा करते हुए कहा, "वह वहां सबके अखीर में खड़ा है। उसकी नम्रता उसके पराक्रम के साथ ओत-प्रोत हो चुकी है। हनुमान ! इधर आओ।"

हनुमान ने आगे बढ़कर राम के चरणों में प्रणाम करते हुए कहा, "भगवन् !"

राम ने पूछा, "हनुमान ! देवी का पता चला ? देवी कुशल हैं ? मुझे याद करती हैं ? देवी ने तुम्हें पहचाना ?"

हनुमान ने शांतिपूर्वक कहा, "भगवन् ! देवी कुशल हैं। आठों पहर और बत्तीसों घड़ी वे आपका नाम जपती रहती हैं।"

लक्ष्मण ने पूछा, "उन्होंने तुम्हें किस तरह पहचाना ?"

हनुमान ने कहा, "वहां राक्षसों की माया इतनी अधिक चलती है कि देवी को किसी पर विश्वास ही नहीं होता। जब मैंने आपकी अंगूठी उन्हें दिखाई तभी मुझपर उनका विश्वास जमा और उन्होंने मुझे आपके सेवक के रूप में पहचाना।"

राम सहसा बोले, "देवी जानकी ! तुमने न जाने कितनी पीड़ा और व्यथा भोगी होगी ?"

हनुमान बोले, "महाराज ! देवी आपकी बाट जोहती बैठी हैं, और इस आशा पर जी रही हैं कि आप अवश्य पहुंचेंगे।"

राम ने पूछा, "रावण देवी को किस-किस तरह सताता है ?"

हनुमान ने कहा, "इसमें पूछना क्या था ? देवी पर पहरा देने के लिए भयंकर राक्षसियों को तैनात किया गया है। ये राक्षसियां देवी को धमकाती हैं, ललचाती हैं और डराती हैं। रावण ने तो देवी से कह ही दिया है कि यदि एक साल के भीतर वे उसकी रानी बनने को राजी न हुईं, तो वह उन्हें पकाकर खा जायगा।"

लक्ष्मण अचानक खड़े हो गए। बोले, "रावण की यह जुर्रत ! बड़े भैया ! चलिए, अब बातों के लिए समय नहीं है। वानरराज ! आप अपनी सेना तैयार कीजिए। मेरा धनुष और तरकश अब कुलबुलाने लगे हैं।"

राम ने कहा, "वानरराज सुग्रीव ! लक्ष्मण ठीक ही कह रहा है। अब हमें निकल पड़ना चाहिए।"

सुग्रीव बोला, "भगवन् ! इस सेवक को तैयार ही समझिए। हनुमान! अपनी सेना तैयार करो। अब हम सीतादेवी को रामचंद्र के सामने लाकरके ही दम लेंगे। किष्किंधा का स्वामी सीता को प्राप्त किये बिना इस घर में पैर नहीं रखेगा।"

हनुमान ने कहा, "जैसी आज्ञा ! सीता का पता कैसे चला, इसका ब्यौरा मैं रामचंद्र को रास्ते में सुनाऊंगा।"

सुग्रीव ने धीमे से पूछा, "देवी प्रसन्न तो हैं न ?"

हनुमान बोले, "प्रसन्न तो वे कैसे हो सकती हैं ? बिना राम के सीता को प्रसन्नता कैसी ? उन्होंने तो रो-रोकर अपनी आंखें बिगाड़ ली हैं;

शरीर पर मैल की तहें जमी हैं; एक वस्त्र से शरीर की लाज ढंककर बैठी रहती हैं; रात-दिन लंबी-लंबी सांसें भरकर उन्होंने अपने होंठ सुखा डाले हैं। यही उनकी प्रसन्नता है ! किंतु सुग्रीव ! इतने दुःख में भी उनका तेज तो ज्यों-का-त्यों जगमगा रहा है। जब मैंने सीता को देखा, तो मुझे यही लगा, मानो सारी दुनिया की पवित्रता उनमें सिमटकर इकट्ठी हो गई है। कितनी सौम्य है उनकी आकृति ! कितनी पवित्र है उनकी दृष्टि ! कैसे मनोहर हैं उनके वचन ! कैसी निर्मल है उनकी प्रतिभा ! कितना शांत है उनका ओजस् ! कितनी अविचल है उनकी सहन-शक्ति ! राम के प्रति कितनी उग्र है उनकी भक्ति ! उन मुट्ठी-भर हड्डियों में भी उनका मनोबल कितना तीव्र है ! ऐसी सीतादेवी के बिना भगवान् रामचंद्र का विह्वल होना एकदम स्वाभाविक है। सीतादेवी को देखने के बाद मुझे तो यही लगा कि उनके वियोग में रामचंद्र का सारा पराक्रम पंगु है। सीता-विहीन रामचंद्र मानो सच्चे रामचंद्र ही नहीं लगते ! किंतु, महाराज ! ये सब बातें तो मैं रास्ते में आपसे कहूंगा।"

सुग्रीव ने कहा, "ठीक है, ये बातें फुरसत से सुनेंगे। आज तो हमें यहां से रवाना होने की तैयारी करनी है। रामचंद्र और लक्ष्मण सीतादेवी की बातें ब्यौरेवार सुनने को उत्सुक हैं। तुम्हें उनसे सारी बातें कहनी होंगी। इस बीच तुम अंगद के साथ तैयार हो जाओ। तुमने वानरों की कीर्त्ति को बट्टा नहीं लगने दिया। आगे भी इसे इतना ही उज्ज्वल बनाये रखना। प्यारे हनुमान ! तुम्हारे कारण आज सुग्रीव निर्भय है।"

इस तरह बातें करते हुए सुग्रीव और हनुमान किष्किधा की ओर गए और उन्होंने सेना को तैयार होने का आदेश दिया। सीता के समाचार मिलते ही रामचंद्र के पैरों में अद्भुत चैतन्य आ गया और उनके मन में एक ही विचार चक्कर काटने लगा कि वे कब रावण को मारें और कब सीता को छुड़ावें ! लक्ष्मण ने तो अपने धनुष-बाण तैयार कर लिये और वे इस बात की बाट जोहने लगे कि सुग्रीव की सेना कब रवाना होती है।

अबतक रामचंद्र, लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमान, वानर आदि सबकी दृष्टि किष्किन्धा की ओर लगी थी; लेकिन अब सबकी निगाहें किष्किधा से हटकर लंका पर जा टिकी हैं। बाली के मरने से सुग्रीव और रूमा का

वियोग समाप्त हुआ था। अब सब इस बात की प्रतीक्षा करने लगे कि रावण का अंत हो, जिससे राम और सीता के वियोग का भी अंत हो सके।

: १६ :

सेतु-बंधन

भारतवर्ष के दक्षिणी छोर पर हिंद महासागर गर्जन करता है। उस छोर से सौ योजन की दूरी पर लंका नामक एक द्वीप है। जिस प्रकार महासागर की लहरें भारतवर्ष का पाद-प्रक्षालन करती रहती हैं, उसी प्रकार वे लंका के चारों किनारों से टकराती रहती हैं। ऐसा लगता है, मानो महासागर लंका को अपनी गोद में खिला रहा हो और अपने सफेद झागों की बौछार लंका पर करता रहता हो।

सुग्रीव की वानर-सेना महासागर के किनारे तक आ पहुंची। एक ओर था विशाल महासागर और दूसरी ओर थी विशाल वानर-सेना। दोनों इतने विशाल कि आंखें उनका ओर-छोर पकड़ ही न पाती थीं; दोनों का गर्जन इतनी भयंकर कि कानों के परदे फट जायं; दोनों इतने भीषण कि बड़े-से-बड़े पराक्रमियों को भी स्तंभित कर दें; दोनों इतने विस्तृत कि सारी धरती को और समूचे आसमान को अपने में समा लें।

वानर-सेना के आगे-आगे राम, लक्ष्मण, सुग्रीव, अंगद, हनुमान और नल-नील चल रहे थे। गरजते सागर को देखकर समूची वानर-सेना एक साथ जोरों से किलकार उठी।

हनुमान ने कहा, "भगवन् ! हम महासागर के किनारे आ पहुंचे हैं। अब यहां से लंका केवल सौ योजन दूर है।"

रामचंद्र ने पूछा, "बस सौ योजन ? लेकिन ये सौ योजन बहुत भारी पड़ेंगें।"

सुग्रीव बोले, "सो तो पड़ेंगे ही। हनुमान ! क्या सागर लांघने के लिए तुमने यहीं से उड़ान भरी थी ?"

हनुमान ने कहा, "जीहां, यहीं से। देखिए, वानरराज ! यह वह जगह है, जहाँ से मैंने छलांग लगाई थी।"

रामचंद्र बोले, "सुग्रीव ! अकेला एक हनुमान ही यों छलांग मारकर लंका पहुंच सकता है। हमारी समूची सेना के पास तो यह शक्ति है नहीं।"

सुग्रीव ने कहा, "हमें सोचना होगा कि हम अपनी सेना को उस पार किस तरह ले जा सकेंगे। इस सागर को लांघकर लंका पहुंचना कठिन है।"

लक्ष्मण ने पुष्टि की और कहा, "कठिन तो है ही, किंतु मनुष्य की बुद्धि को रास्ता न मिले, इतना कठिन तो कोई काम हो ही नहीं सकता।"

सुग्रीव ने अपनी बात स्पष्ट करते हुए कहा, "वानर इस महासागर को नहीं लांघ सकेंगे।"

राम ने पूछा, "तो क्या हम इस सागर के किनारे ही पड़े रहेंगे ?"

लक्ष्मण बोले, "हम तो लंका पहुंचकर देवी को रावण के पंजे से छुड़ाने आए हैं। महासागर पार करने का कोई उपाय हमें खोजना ही चाहिए।"

रामचंद्र अधीर होकर कहने लगे, "लक्ष्मण ! मेरा धनुष और बाण लाओ। मैं अभी इस सागर को सुखा डालता हूं, जिससे हम लंका तक जा सकें। हम व्यर्थ ही अपना समय न गंवायें। यदि हम समय रहते न पहुंच पाये, तो देवी को जीवित रूप में देखना कठिन हो जायगा।"

लक्ष्मण बोले, "बड़े भैया, यों उतावले मत बनिये। मेरे विचार में हमें सागर को सुखा डालने की कोई जरूरत नहीं है। ईश्वर ने मनुष्य को वह शक्ति दी है, जिससे वह ऐसे तूफानी तत्वों को भी अपने वश में कर सकता है। हनुमान ! तुम्हें कोई उपाय सूझ रहा है ?"

हनुमान ने कहा, "एक उपाय है।"

सुग्रीव ने पूछा, "क्या ?"

हनुमान बोले, "हमारा नल दूसरा विश्वकर्मा ही है; ऐसे कामों में उसकी बुद्धि खूब काम करती है। हम उसकी सलाह लें।"

सुग्रीव ने कहा, "तुम ठीक कह रहे हो। रास्ते तैयार करने में, नहरें निकालने में, नदी-नालों को बांधने में, नगरों की रचना करने में और ऐसे

ही दूसरे कामों में नल बहुत होशियार है। किष्किधा की रचना उसी ने योजनापूर्वक की है। नल कहां है ?"

नल ने आकर नमस्कार किया और कहा, "महाराज !"

सुग्रीव ने पूछा, "हमें अपनी सारी सेना सागर के उस पार ले जानी है। इसके लिए क्या करना होगा ?"

नल ने कहा, "ये हनुमान वहां हो आए हैं। इन्हीं से पूछिए न ? उस पार उतरने के लिए कोई घाट या किनारा है ?"

सुग्रीव बोले, "हनुमान तो उड़कर गए थे। हमें तो अपनी सारी सेना ले जानी है। क्या इस किनारे से उस किनारे तक पैदल जाया जा सकता है ?"

नल ने कहा, "यदि इस किनारे से उस किनारे तक सागर को बांध लिया जाय, तो सब सूखे पैरों उधर पहुंच सकते हैं।"

सुग्रीव ने पूछा, "क्या तुम सागर को बांध सकोगे ?"

नल ने कहा, "रामचंद्र की आज्ञा हो, तो बांधूं। काम तो कठिन है, पर ऐसे मौके पर अपने स्वामी के काम न आऊं, तो फिर मेरा जीवन किस काम का !"

सुग्रीव बोले, "तो तुम सागर को बांधना शुरू करो और काम जल्दी पूरा करो।"

नल ने कहा, "महाराज ! ये सब वानर पत्थर लाने में लग जायं, तो बांधना शुरू कर दूं। सबकी मदद मिलेगी, तो सेतु तैयार ही समझिए। हमारे सौभाग्य से सागर के बीच में एक तंग जगह है, जहां सेतु अधिक सरलता से बंध सकेगा।"

सुग्रीव बोले, "तुम्हें जहां जंचे, वहां बांधो। मुझे तो सेतु तैयार चाहिए। रामचंद्र निराश होकर बैठे हैं, इसलिए मैं तो सोच में पड़ गया हूं।"

लक्ष्मण ने कहा, "वानरराज ! समझ लो कि सबकुछ ठीक हो गया। बड़े भैया ! अब यह नल जो सेतु बांधेगा, उसी पर चलकर हम सागर पार कर लेंगे और लंका पहुंच जायेंगे।"

राम उदास होकर बोले, "कब तो नल सेतु बांधना शुरू करेगा, कब

वह बंधकर तैयार होगा और कब हम वहां पहुंच पायेंगे ? भैया लक्ष्मण ! अब मुझे देवी का मुंह देखने की आशा नहीं रही। अब तो मेरे लिए इस सागर-तट पर ही मरना शेष रहा है। सीता ! यह सब हमारे किन कर्मों का फल है ? लक्ष्मण ! जब हम पंपा सरोवर के किनारे घूम रहे थे, उस समय एक चक्रवाक सरोवर के एक किनारे बैठा-बैठा कुछ सोच रहा था और चक्रवाकी दूसरे किनारे बैठी-बैठी मानो उसके विलाप को प्रतिध्वनित कर रही थी। आज मेरी और सीता की वही दशा है। जानकी सागर के उस पार बैठी मुझे याद कर-करके रो रही होगी; कठोर हृदय राम इस किनारे बैठा रोए और रोते-रोते प्राण त्याग कर दे !" ऐसा कहकर राम रोने लगे।

लक्ष्मण ने कहा, "बड़े भैया, यदि आपके समान पुरुष भी इस तरह रोने लगेंगे, तो भी मुझ जैसा साधारण आदमी क्या कर पायगा ?"

राम बोले, "लक्ष्मण, अब इस राम के पास आंसुओं को छोड़कर और कुछ रहा ही नहीं है। मैं अपना सर्वस्व हारकर बैठा हूं। भैया लक्ष्मण ! यदि धनुष के बाण के, सेना के और मित्रों के रहते भी राम सीता को बचा न सके, तो फिर यह धनुष, ये बाण, यह सेना, ये मित्र और यह राम सब व्यर्थ है।"

सुग्रीव ने अधिक समीप आकर कहा, "भगवन् ! आप शोक न करें। सेतु को तो तैयार हुआ ही समझें। जब इतनी बड़ी सेना काम में जुटी है, तो यह सेतु तो देखते-देखते बंध जायगा और हम लंका में प्रवेश कर लेंगे।"

राम ने पूछा, "हनुमान कहां है ?"

हनुमान ने तनिक आगे बढ़कर कहा, "भगवन् ! क्या आज्ञा है ?"

राम ने फिर पूछा, "क्या तुम्हें लगता है कि यह सेतु समय रहते तैयार हो जायगा ?"

हनुमान बोले, "जीहां। मुझे नल की शक्ति में पूरा विश्वास है। आप चिंता न कीजिए। सेतु नहीं बंध पाया, तो मैं आपको अपनी पीठ पर बैठाकर लंका में ले जाऊंगा और हम वहां से देवी को अपने साथ लेकर लौटेंगे।"

लक्ष्मण ने कहा, "बड़े भैया ! अबतक हमारे ग्रह टेढ़े थे। जिस घड़ी

हनुमान से हमारी भेंट हुई, समझ लीजिए कि उसी घड़ी से सारे ग्रह बदल चुके हैं और अब तो सबकुछ कल्याणकारी ही होने लगा है। इसके कारण मुझमें यह श्रद्धा दृढ़ हो रही है कि हम अवश्य लंका पहुंचेंगे, रावण को मारेंगे और देवी को पुनः प्राप्त करेंगे। मुझे सब ओर शुभ शकुन ही दिखाई दे रहे हैं।"

आंसू पोंछते-पोंछते राम बोले, "लक्ष्मण ! जी तो चाहता है कि तुम्हारी बात पर विश्वास करूं, किंतु सीता के प्रति अपने स्नेह के कारण बार-बार मेरे मन में अशुभ की आशंका उठती रहती है।"

सुग्रीव ने कहा, "अच्छा, रामचंद्रजी ! अब आप जरा उठिए। हम वहां चलें, जहां नल काम कर रहा है। हमारे जाने से उन लोगों का उत्साह बढ़ेगा।"

राम अपनी आंखें साफ करते हुए खड़े हो गए और सब उस तरफ चल पड़े, जहां सेतु बंध रहा था।

: २० :

सुग्रीव की छावनी में

रात के कोई ग्यारह बजे का समय रहा होगा। वानर-सेना लंका के चारों ओर घेरा डालकर पड़ी थी। राम, लक्ष्मण, आदि अपनी-अपनी झोंपड़ियों में सोए हुए थे। वानर पहरेदार बीच-बीच में आवाज लगाकर रात के समय की सूचना देते रहते थे। लंका के चारों ओर जो किला था, उस पर खड़े होकर राक्षस प्रकाश फेंककर वानर-सेना को देखा करते थे। लंका के अंदर राक्षस युद्ध की जबरदस्त तैयारियां करने में लगे थे, इस कारण रात के रहते भी लंका में तो दिन ही था !

इसी समय सुग्रीव की छावनी में सुग्रीव और हनुमान बैठे बातें कर रहे थे।

सुग्रीव ने कहा, "हनुमान ! हमने विभीषण को मित्र के रूप में अपनाया तो है, पर मेरा मन माना नहीं।"

हनुमान ने पूछा, "ऐसा क्यों हुआ ?"

सुग्रीव बोले, "क्या भरोसा कि विभीषण के पेट में पाप नहीं है ?"

हनुमान ने कहा, "पाप होता, तो रामचंद्रजी उसे पहचान न पाते ?"

सुग्रीव बोले, "नहीं पहचान पाते। रामचंद्र तो महात्मा हैं। उन्होंने अभी दुनिया देखी ही क्या है ? उठकर खड़े ही हो रहे थे कि इतने में वनवास मिल गया और वन में रहने आये, तो स्त्री गंवा बैठे ?"

हनुमान ने कहा, "मुझे नहीं लगता कि विभीषण के पेट में पाप है।"

सुग्रीव बोले, "तुम तो जानते हो कि ये राक्षस कैसे मायावी होते हैं ? देखो, जब रावण सीतादेवी को उठाकर ले गया, उस समय मारीच ने कैसा नाटक खेला था ? मारीच के उस खेल में तो राम भी मोहवश हुए और धोखा खा गए ! यह विभीषण रावण का भाई है। इसका घर-द्वार, सगे-संबंधी सब अभी लंका में हैं। यह तो लाभ के लोभ से आया है। सुनो, यदि रावण मरता है, तो विभीषण को राजगद्दी मिलती है, और यदि राम मरते हैं, तो वह वापस लंका जाकर वहां सुखपूर्वक रह सकता है। इस बीच वह अपने साथ रहकर रावण को यहां के सारे समाचार भेजता रहेगा, सो अलग। ऐसे लोगों को अपनाना हमीं को महंगा पड़ जायगा।"

हनुमान ने कहा, "सुग्रीव ! आपकी बात सच नहीं है। मैं तो आपसे अपनी बात कहता हूं। राम-लक्ष्मण के आने पर सबसे पहले मैं ही उनसे मिलने पहुंचा था। मेरी बात सुनते ही राम ने मेरे वचनों पर विश्वास किया और मैं उन्हें आपके पास ले आया। याद है न ?"

सुग्रीव बोले, "याद क्यों न हो ? ये बातें कहीं भूली जाती हैं !"

हनुमान ने कहा, "यदि हम पर संदेह करना होता, तो राम उसी समय कर सकते थे, पर उन्होंने संदेह नहीं किया।"

सुग्रीव बोले, "राम तो महात्मा हैं ?"

हनुमान ने कहा, "दूसरी ओर स्वयं आपने रामचंद्र पर संदेह किया, इसलिए मित्रता करते समय आपने अग्नि की साक्षी में मित्रता बांधने का आग्रह रखा; और फिर उनके पराक्रम की प्रतीति के लिए उनसे ताल के

सात-सात पेड़ बिंधवाए !"

सुग्रीव बोले, "क्योंकि मैंने दुनिया देखी थी।"

हनुमान ने कहा, "इसमें दुनिया देखने या न देखने का प्रश्न ही नहीं है। रामचंद्र शरण में आनेवालों पर विश्वास रखकर ही आगे बढ़ते हैं, जबकि आप उन्हें पहले अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं।"

सुग्रीव बोले, "ठीक ही है। पहले से ही विश्वास रखने पर आदमी हमेशा ठग सकता है। अतः पहले अविश्वास ही करना चाहिए। जब पूरी तसल्ली हो जाय, तभी विश्वास किया जाय। समझदारी इसी में है। इसी तरह इस दुनिया में धोखे से बचा जा सकता है।"

हनुमान ने कहा, "महाराज ! जो उदारचरित पुरुष होते हैं, उनके मन की रचना ही ऐसी रहती है कि जबतक अविश्वास का कोई विशेष कारण न हो, वे हर किसी पर विश्वास रखकर ही चलते हैं।"

सुग्रीव ने पूछा, "और यदि वह मनुष्य विश्वास-पात्र न हुआ तो ?"

जवाब में हनुमान ने कहा, "उस दशा में वे अपना विश्वास वापस ले लेंगे।"

सुग्रीव ने कहा, "लेकिन विश्वास करने से जो नुकसान हुआ, उसका क्या होगा ?"

हनुमान बोले, "उतना नुकसान ऐसे उदारचरित पुरुष सहन कर लेंगे।"

सुग्रीव ने पूछा, "उतना भी सहन क्यों किया जाय ? इससे तो विश्वास न करने में ही क्या बुराई है ?"

हनुमान बोले, "यह तो अधिक बुरी चीज है। जो पुरुष इस प्रकार अविश्वास से ही आरंभ करते हैं, वे मनुष्य की आत्मा में अपना विश्वास खो बैठते हैं और परिणाम-स्वरूप वे अपने पर भी विश्वास गंवा देते हैं। इस हानि को साधारण हानि मत समझिए। मनुष्य की आत्मा पर से—मनुष्य की आत्मा की सहज साधुता पर से—विश्वास खो बैठने से हजार दरजे अच्छा यह है कि हम विश्वास रखें और कभी पछताना पड़ ही जाय, तो पछता लें। इसीलिए मैं कहता हूं कि संसार के साधु पुरुषों के मन की रचना ही ऐसी होती है। एक और बात भी ध्यान में रखने योग्य है। ऐसे

पुरुषों के पास जब कोई नया पुरुष आता है, तो उस नए आनेवाले के समूचे जीवन की छाप उनके मन पर अमुक प्रकार से पड़ती है, इस कारण विश्वास करने न करने की उधेड़बुन में पड़े बिना ही उन्हें उसका ठीक अंदाज हो जाता है और बाद में पछताने की कोई बात रहती ही नहीं। उनके हृदय में कोई गूढ़ सुलझाव इस प्रकार स्फुरित होता है कि नए आदमी के साथ किस मर्यादा में बरतना चाहिए, सो उनको अंदर से ही सूझ जाता है। मैंने अनुभव किया है कि रामचंद्र ऐसे ही साधु पुरुष हैं। इसीलिए वानरराज ! मैंने अपनी सेवाएं उनके चरणों में अर्पित की हैं।"

सुग्रीव कहने लगे, "हनुमान ! इतना तो मैं भी समझता हूं। तो क्या तुम सोचते हो कि विभीषण भला आदमी है और हमें उसे संदेह की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए ?"

हनुमान बोले, "जीहां, यही ठीक है। मैं नहीं कहता कि विभीषण का अपना कोई स्वार्थ नहीं है। उसका अपना कोई स्वार्थ भी हो सकता है; उसके मन की गहराई में लंका की गद्दी प्राप्त करने की लालसा भी छिपी हो सकती है; किंतु यह मानना उचित नहीं कि विभीषण हमारे पेट में घुस-कर हमारी बातें जानने आया है और अंत में वह हमें धोखा देकर चला जायगा। वैसे तो कौन आदमी है, जिसमें स्वार्थ नहीं होता ?"

सुग्रीव ने कहा, "हनुमान ! तुमने मुझे अच्छी तरह संभाल लिया। खूब सावधान कर दिया, नहीं तो मैं उसे संदेह की उसी दृष्टि से देखता रहता, जिससे अबतक देखता रहा हूं। इसके अलावा, रामचंद्र के आंतरिक निर्णयों के विषय में मेरे मन में जो शंका-कुशंका बनी रहती थी, उसे भी आज तुमने भली प्रकार दूर कर दिया। तुम्हारी बात तो मेरी समझ में आती है, पर मन फिर अपने मूल स्वभाव पर लौट जाता है।"

हनुमान बोले, "अपने जीवन में आपने ऐसी ही धूप-छांह देखी है, इस कारण आप मनुष्य पर से अपना विश्वास खो बैठे हैं। एक बार उस विश्वास को फिर जगा लीजिए, तो आप भी रामचंद्र के समान महानुभाव बन सकेंगे। आपके हृदय में वह योग्यता तो है ही। बस, उसे जगाने भर की देर समझिए।"

सुग्रीव ने कहा, "ठीक है, हनुमान ! अब समय बहुत हो चुका है।

चलो, अब हम सो जायें। सीतादेवी को पुनः प्राप्त करने के बाद मैं इन सब बातों पर शांति से विचार करूंगा और अपने जीवन में आवश्यक परिवर्तन कर लूंगा। आज तो सीतादेवी को छोड़कर दूसरी कोई बात मन में जमती ही नहीं है।"

हनुमान बोले, "यही उचित है। तो अब आप पधारिए। मैं भी रामचंद्र की झोपड़ी में जाकर सो जाऊंगा।"

यों कहकर हनुमान सुग्रीव की कुटिया से बाहर निकले और सुग्रीव अपने शयन-कक्ष में चले गए।

: २१ :

विभीषण की दृष्टि

यह देखकर कि वानर सागर पर बंधे सेतु के रास्ते लंका आ पहुंचे हैं, क्षण भर के लिए सारे राक्षस सहम उठे। रावण ने युद्ध की तैयारियां शुरू कर दीं और उसने रामचंद्र द्वारा भेजे गए संदेशों को ठुकरा दिया।

विभीषण रावण का भाई था। दोनों एक ही मां की कोख से उत्पन्न हुए थे, पर एक साधु निकला और दूसरा दुष्ट। विभीषण ने रावण को बार-बार समझाया कि वह सीता को वापस सौंप दे, पर रावण टस-से-मस नहीं हुआ; उलटे, रावण ने विभीषण को लंका से बाहर निकलवा दिया। विभीषण अपने चार विशेष मित्रों के साथ रामचंद्र के पास पहुंचा और शरण चाही। रामचंद्र ने विभीषण को आश्रय दिया और उसे लंका के राजा के रूप में स्वीकार किया।

इस ओर जो वानर लंका को घेरे पड़े थे, वे लंका के अंदर घुसने की तैयारी करने लगे। राक्षस लंका की रक्षा के लिए तैयार हो गए और वानरों को खदेड़ देने की डींगें हांकने लगे।

एक दिन वानरराज सुग्रीव विभीषण के शिविर में पहुंचे। विभीषण

ने खड़े होकर उनका स्वागत किया। फिर दोनों मित्रतापूर्वक बातें करने लगे।

सुग्रीव बोले, "लंकापति ! मैं आपसे एक खास बात जानना चाहता हूं।"

विभीषण ने कहा, "खुशी से पूछिये। मन में कोई संशय क्यों रखते हैं ? समझिए कि आप जो भी जानना चाहेंगे, सो सब मैं बताने को तैयार हूं। अब तो हमें यह समझकर चलना है कि आपका और मेरा यानी हम दोनों का एक ही काम है और, वह यह कि महाराज रामचंद्र सीतादेवी को प्राप्त कर लें। कहिए, आप क्या जानना चाहते हैं ?"

सुग्रीव कहने लगे, "मैं यह मानकर चलता हूं कि आप राक्षसों के बल को तो भलीभांति समझते हैं। आप उन्हीं में से एक हैं; बल्कि रावण के भाई हैं। फिर इतने दिनों से आप हमारे साथ रह रहे हैं, इसलिए हम वानरों के बल को भी आपने पहचान ही लिया होगा। मैं, हमारे और राक्षसों के बल के बारे में आपकी राय जानना चाहता हूं। आपकी राय हम सबकी राय से अधिक वजनदार होगी, क्योंकि आपने दोनों पक्षों को देख लिया है।"

विभीषण बोले, "वानरराज ! आपका प्रश्न यथार्थ है। अपने और शत्रु के बल को समझ लिया जाय, तो युद्ध की व्यूह-रचना किस प्रकार की जानी चाहिए, इसकी सूझ बढ़ जाती है। सुनिए। सबसे पहले रावण के बारे में कहता हूं। रावण के पराक्रम से तो आप परिचित ही हैं। तीनों लोकों में उसके समान पराक्रमी, उसके समान वेद-निपुण और उसके समान कर्म-निष्ठ दूसरा कोई मुझे दीखता नहीं। यदि मुझे तुलना करने का अधिकार हो, तो मैं कह भी दूं कि रावण के सामने रामचंद्र का बल भी नगण्य है।"

सुग्रीव ने आश्चर्यपूर्वक पूछा, "क्या रावण रामचंद्र से भी बढ़कर है ?"

उत्तर में विभीषण ने कहा, "केवल बल का प्रश्न हो, तो बढ़कर है।"

सुग्रीव ने पूछा, "ऐसी स्थिति में रावण का पक्ष छोड़कर आपने इस ओर आने की भूल क्यों की ?"

विभीषण ने समझाते हुए कहा, "यह भूल नहीं है। रावण इतना पराक्रमी है, पर उसके इस पराक्रम के मूल में अधर्म है, इसलिए उसका

सारा पराक्रम व्यर्थ है, ऐन मौके पर रावण को दगा देनेवाला है। आप समझे ? पर राम का बल लोकोत्तर है; उसके मूल में धर्म-बुद्धि है; इस कारण रावण कितना ही बलवान क्यों न हो, आखिर वह पराजित होगा। रामचंद्र के जीवन का प्रेरक बल संसार का कल्याण है, जबकि रावण के जीवन का प्रेरक बल उसके अपने शरीर का सुखमात्र है। अतः रावण का बल कितना ही क्यों न हो, आखिर वह क्षीण होगा ही।"

सुग्रीव बोले, "जी, आपकी एक बात तो समझ गया। अब आगे कहिए।"

विभीषण ने कहा, "अब मैं राक्षसों की बात कहता हूं। आप यह समझ लीजिए कि लंका के राक्षस असाधारण रूप से बलशाली हैं। उनके शरीर बलवान हैं, उनके संकल्प भी बलवान हैं और उनके पास युद्ध के जो साधन हैं, वे भी उतने ही बलशाली हैं—जबरदस्त हैं। उनकी तुलना में आपके ये वानर तो मुझे तुच्छ प्रतीत होते हैं।"

सुग्रीव ने पूछा, "हमारे ये वानर आपको तुच्छ लग रहे हैं ?"

विभीषण कहने लगे, "बुरा मत मानिए। जब आप पूछ रहे हैं, तो मुझे आपसे सच बात ही कहनी चाहिए। राक्षसों के मुकाबले में आपके ये बौने वानर और रीछ कितने शक्तिहीन प्रतीत होते हैं ? जरा इनके चेहरे तो देखिए ! ये बेचारे तो राक्षसों को देखकर ही डर जायंगे।"

सुग्रीव ने कहा, "तो क्या आप समझते हैं कि हम राक्षसों को हरा नहीं सकेंगे ?"

विभीषण बोले, "मेरी बात तो सुनिए। राक्षस बलवान हैं, साधन-सामग्री से समृद्ध हैं; लेकिन अनेकानेक वर्षों से वे भोग-विलास में डूबे पड़े हैं, इस कारण आज उनका बल उनके काम आयगा या नहीं, इस विषय में मुझे संदेह है। दुनिया के सारे बलवान लोगों की यही दशा होती है। आरंभ में अपने बल के कारण वे जहां जाते हैं, वहां विजयी बनते हैं। विजय के पीछे-पीछे समृद्धि, विलास, भोग, ऐशोआराम, आलस्य, अभिमान आदि का प्रवेश हुए बिना रहता ही नहीं; और जब इनका प्रवेश हो जाता है तो बल अंदर-ही-अंदर क्षीण होने लगता है। ऐसे लोग समय पाकर बल के घमंड में इतने चूर हो जाते हैं कि दुश्मन के हाथों पराजित हो

जाने के बाद भी वे अपने बल की डींग हांककर लोगों की नजरों में हँसी के पात्र बन जाते हैं। मुझे लगता है कि हम राक्षसों का भी यही भविष्य निश्चित है। आपने हमारी लंका देखी है? आपकी अयोध्या या मिथिला या किष्किंधा ऐसी हो ही नहीं सकती। ये सुंदर और दिव्य प्रासाद, ये क्रीड़ा-भवन, ये उपवन, ये ललनाएं, स्फटिक के बने ये सुंदर रास्ते, ये नृत्य-गृह, ये भोजन-शालाएं, ये आलीशान कमरे, ये राग-रंग, यह उत्तम संगीत, ये उत्तमोत्तम रथ, ये हाथी-घोड़े, ये पालकियां, ये मंदिर और ये वेदपाठी ब्राह्मण—लंका में ये सारी चीजें हैं, किंतु इनमें अंदर का प्राण नहीं है। इसलिए ये सारे साधन परदे पर किये गए शृंगार के समान हैं।"

सुग्रीव ने कहा, "इन सबकी तुलना में तो हमारे पास कुछ भी नहीं है!"

विभीषण बोले, "मैं यही कहने जा रहा हूं। आपके वानरों के पास शस्त्र कहां हैं? उनके पास अस्त्र कहां हैं? उनके पास रथ कहां हैं? उनके पास मारूबाजे कहां हैं? उनके पास पशु कहां हैं? बस, एक धनुष रामचंद्र के पास है और एक लक्ष्मण के पास। आधुनिक युग के समस्त साधनों से युक्त राक्षसों के मुकाबले में आप साधनहीन वानर लड़ना चाहते हैं, इसके बारे में आपने कभी सोचा है?"

सुग्रीव ने कहा, "हमें सोचना चाहिए।"

विभीषण ने पूछा, "युद्ध को युद्ध की रीति से ही जीता जा सकता है। क्या कोई मुफ्त में विजयी बनता है?"

सुग्रीव बोले, "लेकिन इसका उपाय क्या है?"

विभीषण ने कहा, "हम उपाय का विचार नहीं कर रहे; हम तो परिस्थिति की समीक्षा कर रहे हैं।"

सुग्रीव बोले, "आगे की बात कहिए।"

विभीषण ने कहना शुरू किया, "किंतु सुग्रीव! हिम्मत हारने की आवश्यकता नहीं है। राक्षसों के पास इतना अटूट बल है, इतनी अटूट साधन-सामग्री है, किंतु अब उनकी शक्ति समाप्त होने आई है, उनके दिन पूरे हो चुके हैं। लंबे समय से ऐशोआराम की जिंदगी बिताने के बाद इस समय वे आलसी बन गए हैं। इस दृष्टि से देखा जाय, तो आपके वानर

अति उद्यमी हैं। अपने इस हनुमान को ही देखिए ? आखिर सागर को लांघकर वह लंका में आ ही पहुंचा न ? यह पराक्रम, यह उत्साह, यह संकल्प-बल, ये सब गरीबी की देन हैं और जबतक अल्प समृद्धि होती है, तभी तक ये सुरक्षित रहते हैं। आपके इन वानरों के शरीर कितने सुदृढ़ और कसे हुए हैं ? राक्षस तो विलासी बन चुके हैं। इसी कारण आपको उनके गालों पर और पेट पर मांस बढ़ा दीखता है। किंतु आपके वानरों के चेहरों पर जो तेज दिखाई देता है, उनकी छाती पर जो वलय बनते हैं, वे राक्षसों में आपको कहीं नहीं दीखेंगे।"

सुग्रीव ने पूछा, इसका अर्थ तो यही निकला न, कि राक्षस हमें हरा देंगे ?"

विभीषण कहने लगे, "आप मेरी बात समझे नहीं। मैं तो दोनों के गुण-दोषों की चर्चा कर रहा हूं। परिणाम की दृष्टि से मेरा निश्चित मत यह है कि विजय उसी पक्ष की होगी, जिस पक्ष में धर्म होगा। किंतु यदि आप यह मानते हों कि हम इन राक्षसों को बड़ी आसानी से जीत लेंगे, तो अपने मन से यह बात निकाल दीजिए। अगर चाहे, तो अकेला रावण ही कुछ समय के लिए रामचंद्र को स्तंभित कर सकता है। जिसने महादेव को चकित कर दिया, उसके लिए यह असंभव नहीं है। अकेला इंद्रजीत चाहे, तो लक्ष्मण को बराबरी की टक्कर दे सकता है और रामचंद्र को आकुल-व्याकुल कर सकता है। यदि मेरा भाई कुंभकरण भी एक दिन के लिए जाग उठे, तो आपके ये वानर बेहाल हो जायं। किंतु मैं निःशंक भाव से यह कह सकता हूं कि अंतिम विजय तो रामचंद्र की ही है।"

सुग्रीव ने पूछा, "फिर हम सीतादेवी को तो पा सकेंगे न ?"

विभीषण ने कहा, "निःसंदेह ! सुग्रीव ! सुनिए, स्वयं रावण चाहे, तो भी वह सीता को अपने पास नहीं रख सकता। ऐसे पापी लोग बाहर से चाहे जैसे काम करते हों और चाहे जो बोलते हों, फिर भी उनके दिल की गहराई में पाप के प्रति एक प्रकार का भय बना रहता है। यह भय उन्हें बराबर खोखला बनाता रहता है। वानरराज ! आज यह आवश्यक नहीं रहा कि रामचंद्र आयें, रावण को मारें और सीता को फिर पायें। समझिए कि रावण तो अपने पाप से कभी का समाप्त हो चुका है। सीता-

देवी की दृष्टि की लपट उस पर बहुत पहले ही पड़ चुकी है और रावण तो काफी पहले मर ही चुका है; अब तो केवल रावण की देह का अंत बाकी है। जैसे ही उसका शरीर छूटेगा, साधारण लोग भी समझ जायंगे कि रावण मर गया। जैसे, कोई बड़ा पेड़ दीमक के लगने से अंदर-ही-अंदर बिलकुल खोखला हो जाता है और फिर भी कुछ दिन खड़ा दीखता है, वैसे ही अंदर से तो रावण बहुत पहले ही खोखला बन चुका है, अब तो उसकी स्थूल देह के पतन-भर की देर समझिए।"

सुग्रीव बोले, "राक्षसराज ! आपने तो आज मुझे बहुत-सी जानने-योग्य बातें बता दीं।"

विभीषण ने कहा, "सुग्रीव ! मुझे बहुत दुःख होता है कि इन पराक्रमी और साधन-संपन्न राक्षसों का ऐसा करुण अंत होगा।"

सुग्रीव ने पूछा, "आपने ये सारी बातें राक्षसराज रावण से क्यों नहीं कहीं ?"

विभीषण बोले, "मैंने तो कहीं और खूब कहीं, पर मेरी सुनता कौन है ? जब दुर्दशा का आरंभ होता है तब लोगों को सच्ची किंतु कड़ुवी बातें सुनना रुचता नहीं। ऐसे समय में लोग नीच पुरुषों की सलाह लेते हैं। जब मनुष्य का काल समीप आता है, तो वह स्वयं हाथ में लाठी लेकर प्रहार नहीं करता, बल्कि मनुष्य की बुद्धि में बिगाड़ पैदा कर देता है, फलतः ऐसा मनुष्य सबकुछ उलटा ही समझता है और उलटा ही देखता है। रावण की भी आज यही स्थिति हुई है, अन्यथा उसके समान वेद का अभ्यासी मैंने दूसरा कोई नहीं देखा।"

सुग्रीव ने पूछा, "रावण वेद का भी ज्ञाता है। फिर भला, उसने ऐसा हीन कार्य क्यों किया ?"

विभीषण ने कहा, "सुग्रीव ! मानव-जीवन की एक बड़ी विचित्रता यही है कि मनुष्य बुद्धि से धर्म को समझता है, फिर भी आचरण अधर्म का ही करता है। जब अधर्म को भी दुनिया में छाती खोलकर चलना होता है, तब वह धर्म का वेश धारण करता है, धर्म की भाषा धारण करता है, धर्म के बाह्य आचरण को भी अपनाता है। हमारे जीवन में आप अधिकतर यही देखेंगे। इसी कारण लोग हमें राक्षस कहते हैं। हमारी तुलना में आप

कहीं अच्छे हैं कि बड़ी पंडिताई बघारे बिना अपना सादा, भोला जीवन जी लेते हैं और छल-कपट अथवा माया के फेर में न पड़कर जो कुछ भी करना होता है, अपने ढंग से कर लेते हैं। हां, एक बात तो मैं आपसे कहना भूल ही गया।"

सुग्रीव ने पूछा, "कौनसी ?"

विभीषण ने कहा, "हमारी राक्षस-जाति माया की सृष्टि करने में बहुत ही कुशल है। उस दृष्टि से देखें, तो आपका वानर-समाज हमें निरा बुद्धू दिखाई देता है।"

सुग्रीव ने पूछा, "मैं आपकी बात ठीक से समझ नहीं सका।"

विभीषण ने अधिक स्पष्टता करते हुए कहा, "हम लोग छल-कपट के मामले में बहुत ही निपुण हैं। मेरे भाई रावण को ही देखिए न ! जन-स्थान से सीता का हरण करते समय उसने कैसा कपटी वेश धारण किया था ? आप निश्चित समझिए कि इस युद्ध में भी छल-कपट का सहारा लेकर हम आपको खूब हैरान और परेशान करेंगे। जिंदा आदमी को मरा दिखाना, मरे को जिन्दा दिखाना, दिल में कुछ सोचना और जबान से कुछ और ही कहना, शब्दों के उपयोग में चतुराई से काम लेकर दोहरे अर्थ निकालना, झूठी-झूठी आशाएं दिलाकर लोगों को भुलावे में डालना और ठगना; इन सारे कामों की कला का हमने विशेष रूप से विकास किया है। यही कारण है कि लोग हमसे त्रस्त हैं, हमें देखकर त्राहि-त्राहि पुकारते हैं और हमारी परछाईं से भी दूर भागते हैं। इस युद्ध में आपको हमारी इस कला का भी खूब अनुभव होगा।"

सुग्रीव बोले, "विभीषण ! अन्त में मुझे एक ही बात और समझनी है। आखिर इस युद्ध में हम जीतेंगे या नहीं, इसके बारे में आपकी धारणा क्या है ?"

विभीषण ने कहा, "यह तो मैं कह ही चुका हूं। विजय हमारी ही है, क्योंकि धर्म हमारे पक्ष में है, रामचंद्र हमारे पक्ष में हैं, सीता हमारे पक्ष में हैं, हनुमान हमारे पक्ष में हैं, मानव-कल्याण की भावना हमारे पक्ष में है, संसार के साधुओं के मूक आशीर्वाद हमारे पक्ष में हैं, संसार-भर के पीड़ितों का आर्तनाद हमारे पक्ष में है, पीड़ित कन्याओं के आंसू हमारे पक्ष में हैं,

और परमात्मा का संकल्प हमारे पक्ष में है। आपके वानर इस विजय के निमित्त बननेवाले हैं। हमारी विजय निश्चित न होती तो हनुमान सागर लांघकर लंका न पहुंचे होते; हमारी विजय निश्चित न होती, तो रावण मेरा तिरस्कार करके मुझे देश-निकाला न देता; हमारी विजय निश्चित न होती, तो इस महासागर पर यह सेतु न बंधता; हमारी विजय निश्चित न होती, तो रावण को अंतिम क्षण में भी सद्बुद्धि सूझती और वह पुनः विचार करता। मुझे तो ये सब हमारी विजय के ही लक्षण प्रतीत होते हैं।"

सुग्रीव बोले, "आप सच कहते हैं। मुझे भी यही लग रहा है। हम वानर कितने ही क्षुद्र क्यों न हों, पर हम रामचंद्र के पक्ष में हैं, यही हमारा बड़ा बल है। रामचंद्र के समान महानुभाव के पक्ष में रहना और संसार के कल्याण की जिस बुद्धि से प्रेरित होकर वे लड़ने आये हैं, उसमें उनके साथी बनना, यही हमारा सौभाग्य है, और यही हमारा बल है! वैसे देखा जाय, तो हम वानरों के पास न शस्त्र हैं, न अस्त्र हैं, न युद्ध-सामग्री है, न कोई कौशल है, न छल-कपट है और न शस्त्र-ज्ञान ही है। है एक रामचंद्र के कार्य में निष्ठा, और है एक मेरे शब्द पर भक्ति!"

विभीषण ने कहा, "यह सबसे बड़ी शक्ति है। सुग्रीव! इस शक्ति के सहारे ही आप विजय प्राप्त करेंगे। राक्षसों के पास और सबकुछ है, पर यही एक बड़ी कमी है। सारा शरीर सर्वांग सुंदर हो, वस्त्र और आभूषण भी सुंदर पहनाये गए हों, किंतु केवल प्राण न हों, तो शरीर कैसी दुर्गंध देता है? यही हाल राक्षसों का समझिए।" कुछ रुककर विभीषण आगे बोले, "सुनिए, कोई पुकार रहा है। लगता है, कोई हमें बुला रहा है।"

सुग्रीव ने कहा, "चलिए, चलें। रामचंद्र हमारी राह देख रहे होंगे।"

दोनों रामचंद्र के शिविर की ओर चल पड़े।

: २२ :

रावण का मंतव्य

रावण और राम का घोर युद्ध कई दिनों तक चला। राक्षस और वानर एक-दूसरे से खूब टक्कर ले रहे थे। रावण ने एक के बाद एक अपने चुने हुए सेनापतियों को, कुम्भकर्ण को और अंत में अपने पुत्र इंद्रजित को युद्ध में भेजा। एक बार तो राम और लक्ष्मण दोनों इस तरह मूर्च्छित हो गए कि कुछ समय के लिए वानरों में भारी निराशा छा गई। एक समय ऐसा भी आया कि जब लक्ष्मण अचेत-से हो गए और उनका उपचार करने के लिए हनुमान को पर्वत पर से औषधि लाने के लिए जाना पड़ा। एक बार राम की सेना का उत्साह भंग करने के लिए रावण ने एक ऐसा दृश्य उपस्थित किया, मानो सीता को मार डाला गया हो। एक बार यह भी हुआ कि रावण ने सीता के पास राम का कटा हुआ बनावटी सिर भेजा और सीता को रोने-बिलखने के लिए विवश कर दिया; किंतु अंत में ये सब राक्षस मारे गए। प्रहस्त मरा, अकंपन खेत रहा, धूम्राक्ष रण-क्षेत्र में काम आया, कुंभकर्ण ने चिरनिंद्रा ली और इन्द्रजित भी रण-क्षेत्र में सदा के लिए सो गया। वानरों का भी बड़ा संसार हुआ। वानर तो सिर हथेली पर लेकर निकले थे, इसलिए वे अंत तक जूझते रहे। उनका संगठन, रामचंद्र और सुग्रीव के प्रति उनकी भक्ति और विजयी बनने का उनका दृढ़ संकल्प, इन सबके कारण उत्साह में राक्षस उनकी बराबरी कर ही नहीं सकते थे।

जब लंका का रण-क्षेत्र राक्षसों की लाशों से पट गया, तो रावण के क्रोध का पार न रहा। आखिर वह स्वयं रामचंद्र से लड़ने के लिए मैदान में आया—दस सिरों वाला रावण !

रथ में बैठने के बाद रावण आगे बढ़कर बोला, "रामचंद्र ! मैं आपका स्वागत करता हूं। कोशल कुमार ! आप मेरा यह रथ लीजिए। रावण को यह शोभा नहीं देता कि राम धरती पर खड़े रहें और रावण रथ में बैठा रहे !"

रामचंद्र ने कहा, "राक्षसराज ! बात तो आपकी उचित ही है, किंतु लंकापति ! जब आपने राम की अनुपस्थिति में सीतादेवी का हरण किया, उस समय शोभा-अशोभा का प्रश्न आपके मन में क्यों नहीं उठा ?"

रावण बोला, "राघव कुमार ! इस समय मैं उस चर्चा में नहीं पड़ूंगा। उसका हिसाब तो मुझे चित्रगुप्त की बहियों में देखना पड़ेगा। इस समय तो आप रथ में बैठिए और मुझसे लड़िए।"

रामचंद्र ने तिरस्कारपूर्वक कहा, "रावण ! मैं रथ में नहीं बैठूंगा। हम तो सब जंगल के वानर हैं। हमें रथ से क्या मतलब ? आपने तीनों लोकों को जीता है, इसलिए रथ आप ही को शोभा देता है।"

रावण बोला, "सारथि! रख खड़ा रखो। मुझे नीचे उतरना है। आज-तक मैंने जो चाहा, सो किया; पर आज तो मुझे धर्म-युद्ध ही लड़ना है।"

ऐसा कहकर रावण रथ से नीचे उतरा और फिर राम-रावण का युद्ध शुरू हुआ। दोनों पराक्रमी, दोनों तेजस्वी, दोनों धनुर्विद्या में निपुण, और दोनों त्रिलोक को पराजित करने की शक्तिवाले। शुरू-शुरू में रावण ने रामचंद्र को खूब छकाया; किंतु रावण का हृदय टूट चुका था। अंत में राम ने ब्रह्मास्त्र चलाया और रावण गिरा।

रावण के पतन का समाचार सुनकर वानर हर्षित हुए और जोर-जोर से किलकारियां मारने लगे। राक्षस तो रावण को रथ से नीचे उतरते देख-कर ही भाग खड़े हुए थे, और अब तो वे सब डरके मारे जहां-तहां भागने और छिपने लगे। सेना में चारों ओर भगदड़ मच गई। रावण की मृत्यु के समाचार मंदोदरी के महल तक पहुंच गए।

रावण के गिरते ही रामचंद्र, लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान आदि उसके पास पहुंच गए। रण-क्षेत्र में रावण इस तरह सुशोभित था, मानो बिजली के गिरने से विंध्याचल का कोई बड़ा शिखर खंडित होकर धरती पर लुढ़क पड़ा हो। उसकी वज्र-सी काया,उसका भरा-भरा चेहरा, उसके लंबे हाथ, उसके चौड़े कंधे, उसकी विशाल छाती और उसकी वे गर्वोन्मत्त आंखें आज, इन सब पर कोई काली छाया फैलती चली जा रही थी।

रावण ने आंखें खोलकर देखा, तो सामने रामचंद्र दिखाई पड़े। उसने

उन्हें प्रणाम किया और कहने लगा, "कोशल कुमार ! मैं आपके चरणों में प्रणाम करता हूं। रामचंद्रजी ! दूसरे लोग आपको चाहे जो मानते हों और आपके बारे में चाहे जो कहते हों, किंतु मैंने तो आपको परमात्मा का अवतार ही माना है। लेकिन रघुपति ! शुरू से ही मेरी प्रकृति कुछ ऐसी बन चुकी है कि मैंने स्वयं परमात्मा के सामने भी घुटने न टेकने, स्वयं परमात्मा की भी स्तुति न करने, स्वयं परमात्मा को भी प्रणाम न करने और उसके सामने भी अपनी गर्दन ऊंची रखने का रास्ता अपनाया। इसी कारण आज मेरी यह दशा हुई है। रामचंद्रजी ! यदि थोड़ा धीरज हो, तो मैं दो बात आपसे कहना चाहता हूं।"

राम ने जवाब दिया, "लंकापति ! खुशी से कहिए। हमारी शत्रुता तो अब समाप्त ही हुई। इस समय आप मेरे भाई हैं। आप जो भी कहना चाहें, कहने का आपको अधिकार है।"

रावण ने कहना शुरू किया, "रामचंद्र ! मैंने अपने जीवन में एक बड़ी भूल करके ब्रह्मा से शरीर की अमरता मांग ली। मैंने अपने मन में सोचा था कि मैं मृत्यु से नहीं डरता, लेकिन आज मैं स्पष्ट रूप से समझ रहा हूं कि मैं मृत्यु से डरता था, इसीलिए मैंने वह वरदान मांगा था। उस समय मैं निपट नादान था, इसी कारण मौत की कीमत समझ नहीं पाया। आज मैं समझ सका हूं कि परमात्मा ने प्राणिमात्र के लिए मौत का जो उपहार दिया है, वह हम सब पर उसका कितना बड़ा उपकार है ? रामचंद्र ! मैं न तो जनस्थान में आता और न सीता का हरण ही करता; किंतु मैं अपने जीवन से पूरी तरह ऊब चुका था। वे ही महल, वे ही भोग-विलास, वे ही शराबें, वे ही ललनाएँ—ये सब मेरे मन को कहां तक आनंद दे पाते ? अकेला एक शरीर, अकेले वे विलास, एक ही प्रकार का जीवन, एक ही से साथी, इन सबसे मैं मन-ही-मन ऊब चुका था। फिर तीनों लोकों के स्वामित्व का भार मुझे परेशान किये रहता था। मुझसे सब कोई डरते थे। देव-दानव डरते, यक्ष डरते, किन्नर डरते, मित्र तो मेरा कोई था ही नहीं। अपना दिल खोलकर बात कर सकूं, ऐसा कोई मेरे पास रहा ही नहीं। भला सोचिए, ऐसा जीवन कबतक जीया जा सकता था। मैं अपने अंतर से तो बिलकुल ही ऊब उठा था, लेकिन अपनी इस ऊब को प्रकट करने में मुझे

हीनता का अनुभव होता था। इसीलिए मैंने सीता के हरण का जुआ खेला। मैं समझता था कि मैं सिंहनी के मुंह में हाथ डाल रहा हूं; किंतु अंदर से मुझे कुछ ऐसी प्रेरणा हुई कि मैं उसे रोक नहीं सका। आज समझ पा रहा हूं कि मैं मृत्यु की खोज में था, इसीलिए मैंने सीता का हरण किया था।"

रामचंद्र बोले, "राक्षसराज ! मुझे यह देखकर आश्चर्य हो रहा है कि आप इतनी सारी बातें सोच सकते हैं।"

रावण ने कहा, "रामचंद्र इसमें आश्चर्यचकित होने जैसी कोई बात नहीं है। आश्चर्य तो मुझे इस बात का हो रहा है कि सब कोई यह समझते हैं कि रामचंद्र ने या वानरों ने मुझ पर विजय प्राप्त की है। रामचंद्र ! इस विषय में तो मुझे आपका भी दोष दीखता है।"

राम बोले, "आप अपनी बात खुशी से कहिए। मनुष्य-मात्र दोष का पात्र है न ?"

रावण ने कहा, "आप साधारण मनुष्य नहीं हैं। किंतु मानवी माता के उदर में नौ महीने रह चुके हैं, इस कारण ईश्वर होते हुए मानवी मिट्टी की भूलें आपमें अनिवार्य हैं। राम, मैं सीता को उठाकर ले आया, उस दिन से लेकर आज दिन तक आपने सीता को प्राप्त करने के कितने-कितने प्रयास किये हैं ? सीता के दुःख के निमित्त से आप कितने शोकाकुल रहे हैं ? सीता को सुरक्षित रखने के लिए आपने कितनी तत्परता और अधीरता दिखाई है ? और, अंत में मुझे मारने के लिए आप यहां तक आ पहुंचे हैं। लेकिन राम, क्या आप यह मानते हैं कि सीता की रक्षा आप ही कर सकते हैं ? क्या आप यह मानते हैं कि आप न आए होते तो रावण सीता को भ्रष्ट कर पाता या मार डालता ? आपने सीता के लिए जो उद्वेग व्यक्त किया, उससे पता चलता है कि आपने अपनी वैदेही को भलीभांति पहचाना नहीं। सीता की पवित्रता में जो अद्भुत बल है, आपको उसकी कोई कल्पना नहीं है। रामचंद्र ! सीता ने तो मुझे बहुत पहले ही मार डाला था। उसके हृदय की ज्वाला से मैं काफी पहले तप्त हो चुका था। सीता के एक तिनके के सामने यह रावण गाय की तरह बेबस बन जाता था। आप और वानर तो आज आए हैं। रामचंद्र ! सीता की इस लोकोत्तर पवित्रता पर आपका अविश्वास मेरे लिए एक आश्चर्यकारक घटना है। हम तो राक्षस हैं, इस

कारण ऐसी पवित्रता को परख नहीं सकते; किंतु आप आर्य होकर भी इस पवित्रता को नहीं पहचानते ? मुझे आपका यह दोष दीखा है।"

फिर कुछ रुककर रावण ने पूछा, "महाराज ! एक बात और कहूं ?"

राम बोले, "अवश्य कहिए। लक्ष्मण ! रावण तो मेरी भी आंखें खोलनेवाला निकला !"

रावण कहने लगा, "रामचंद्र ! मुझे मारने के लिए आपने इस सुग्रीव की और विभीषण की मदद की, यह आपका दूसरा दोष है।"

राम बोले, "इन लोगों के साथ मेरी मित्रता हो गई, इसलिए इनकी मदद करना मेरा धर्म हो गया।"

रावण सांस लेकर कहने लगा, "रामचंद्र, यह मित्रता, यह धर्म और ऐसे दूसरे शब्द तो मेरी समझ में नहीं आते। ये सारे शब्द तो कपटी लोगों के शब्द-जाल-भर होते हैं। अयोध्या के साथ सुग्रीव का कितने वर्षों का संबंध था अथवा आपके साथ उसकी मित्रता कितने वर्षों से थी ? यह मेरा भाई विभीषण आपको कितने दिनों से पहचानता है ? महाराज ! मित्रता का तो नाम है। सुग्रीव अपने स्वार्थ के लिए आपसे आ मिला। विभीषण के मन में राजा बनने का लोभ था, इसीलिए वह सूखे पेड़ को छोड़कर हरे पेड़ पर आ बैठा और, आपके मन में सीता को शीघ्र ही प्राप्त करने का लोभ था, इस कारण जो भी आपके पास आया, आपने उसकी रक्षा की और उसे अपना मित्र मान लिया। रामचंद्र ! सुग्रीव और बाली दोनों भाई थे। विभीषण भी मेरा भाई है। हम दोनों एक ही मां के पेट से पैदा हुए। भाई के स्नेह का स्वाद तो आपने भी चखा है। यह लक्ष्मण आपके पीछे-पीछे वन में चला आया। उधर वह भरत नंदी ग्राम में आपकी पादुका की पूजा करता हुआ तप में लीन है ! किंतु क्या बाली के जाने के बाद सुग्रीव ने राज्य का स्वीकार करने में कोई आनाकानी की ? इस विभीषण को तो आपने मेरे जीतेजी ही लंका का राजा बना दिया और विभीषण ने वह पद साभार स्वीकार भी कर लिया ! आपने जिस दृष्टि से लक्ष्मण और भरत की तरफ देखा, उसी दृष्टि से आप इन दोनों को भी देख रहे हैं। रामचंद्र ! अपनी महानुभावता के कारण आप इन स्वार्थी लोगों को पहचान नहीं पाये, यह भी आपकी एक भूल है। महाराज ! मुझे

क्षमा कीजिए। वानरराज सुग्रीव और प्यारे भाई विभीषण ! मेरी बातों का बुरा न मानना। मुझे मृत्यु का दान देकर रामचंद्र ने मुझपर बड़ा ही उपकार किया है, अतः उस उपकार के बदले में मुझे उनको दो बातें सुनानी थीं। अब मेरा मन शांत हुआ है। रामचंद्र ! आपने मुझे इस नीरस जीवन से छुटकारा दिलाया है, इसके लिए मैं आपका जितना आभार मानूं, उतना कम ही है। सीतादेवी को मेरा नमस्कार पहुंचा दीजिए। यह रावण इस देह से उन्हें वंदन करने योग्य भी नहीं रहा, इसलिए मैं उन्हें कष्ट नहीं देना चाहता। महाराज राम, लक्ष्मण, सुग्रीव, भैया विभीषण ! मैं आप सबसे विदा चाहता हूं। अब मंदोदरी आदि को तो रामचंद्र ही ढाढ़स बंधायेंगे।"

इस प्रकार बोलते-बोलते रावण ने आंखें बंद कर लीं। रावण के अंतिम समय में रामचंद्र के मन में उसके प्रति सम्मान की भावना जाग्रत हुई और उस बहादुर योद्धा की मृत्यु पर वे रो पड़े।

: २३ :

सुग्रीव का मानस

रावण की मृत्यु के बाद विभीषण लंका की गद्दी पर बैठा। सीता अशोक वन से मुक्त होकर राम-लक्ष्मण से मिलीं। वानर सब विजय के हर्ष में पागल बन गए और राम की आज्ञा लेकर किष्किंधा की ओर लौट पड़े। राम-लक्ष्मण ने सीता को विमान में अयोध्या ले जाने का निर्णय किया। विभीषण, सुग्रीव और हनुमान भी रामचंद्र के साथ अयोध्या जाने के लिए तैयार हो गए।

कुछ ही देर बाद रावण का पुष्पक विमान अयोध्या की दिशा में प्रस्थान करने को था। इस बीच विभीषण और सुग्रीव लंका के मैदान में घूम रहे थे। सुग्रीव ने विभीषण से कहा, "राक्षसराज ! पिछले कुछ दिनों से एक बात

मेरे मन में बराबर घूमती रही है, पर मैं उसे किसी से कह नहीं पाता हूं। आप अनुमति दें, तो आपके सामने अपना दिल खोलूं।"

विभीषण ने हँसते-हँसते कहा, "वानर-राज! आपको जो कुछ भी कहना है, खुशी से कहिए, आप इसके लिए इतने परेशान क्यों हो रहे हैं? अब तो आपने मुझे बहुत अच्छी तरह पहचान लिया है।"

सुग्रीव गंभीर भाव से बोले, "ये रामचंद्र साक्षात् ईश्वर के अवतार रूप हैं। संसार में इनकी उदारता, इनके प्रभाव, इनकी सहृदयता और इनकी कल्याण-बुद्धि अद्वितीय है।"

विभीषण ने कहा, "बिलकुल सही बात है। मैंने तो जब से इन्हें देखा है, मेरा हृदय इन्हीं के चरणों में नत रहता है।"

सुग्रीव कहने लगे, "किंतु लंकापति! इनकी एक बात मेरी समझ में नहीं आ रही है।"

विभीषण ने पूछा, "कौन-सी बात?"

सुग्रीव ने कहा, "सच कहूं? इन्होंने सीतादेवी के साथ जो व्यवहार किया, उसे मैं समझ नहीं सका। एक वर्ष के वियोग के अंत में जिस समय सीतादेवी रामचंद्र का मुंह देखने के लिए अधीर हो रही थी, तभी रामचंद्र ने कहलाया कि सीता पहले स्नान करे और फिर उनसे मिलने आवे। कैसी विचित्र बात है! जब सीता राम को देखने के लिए तड़पड़ा रही हों, ऐसे समय उनसे यह कहने में कितनी निर्दयता है कि वे पहले स्नान करें और फिर राम से मिलने आवें? इसका अर्थ तो यह हुआ कि राम को सीता के दिल का कोई मूल्य नहीं।"

विभीषण बोले, "सुग्रीव! जो प्रश्न आपके मन में पैदा हुआ है, वही मेरे मन में भी पैदा हुआ था, पर मैंने उसे दबा दिया। अब जब आप कह रहे हैं, तो मुझे भी लगता कि रामचंद्र को ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए था।"

सुग्रीव कहने लगे, "यही नहीं, बाद में जब देवी स्नान करके और नये स्वच्छ वस्त्र पहनकर आईं और राम को देखकर अचानक उनसे मिलने दौड़ीं, उसी समय रामचंद्र ने उन्हें दूसरा आदेश दिया, तुम राक्षस के घर में रही हो, इसलिए पहले शुद्ध बनकर आओ, उसके बाद ही तुम मुझे स्पर्श

कर सकोगी ?"

विभीषण बोले, "हां मुझे भी याद है कि राम ने यह बात कही थी।"

सुग्रीव ने कहा, "उस समय तो राम की कठोरता की हद ही हो गई ! रामचंद्र के इन वाक्यों को सुनकर सीता तो चकित रह गई और तुरंत चिता में जलकर मरने को तैयार हो गईं। लक्ष्मण ने चिता रची, सीता ने राम को प्रणाम किया और चिता पर चढ़ गईं। लक्ष्मण ने अग्नि प्रज्वलित की और चिता धू-धू करके जलने लगी। किंतु सीता तो जोग माया ठहरीं। चिता में से अचानक अग्निदेव प्रकट हुए और बोले, "रामचंद्र ! मैं इन सीतादेवी को पवित्र करने नहीं आया हूं। उल्टे मैं स्वयं इनसे पवित्र बनने के लिए आया हूं। स्वयं मैं और जल, वायु आदि तत्व पवित्र करनेवाले तत्वों के रूप में पहचाने जाते हैं; किंतु दुनिया नहीं जानती कि हमारे जैसी पवित्रता तो ऐसी देवियों की पवित्रता में से ही प्रकट होती है। सीता पवित्र ही थीं, पवित्र हैं और पवित्र रहेंगी। इनके समान देवियों की पवित्रता पर सारा संसार टिका हुआ है। आप इन्हें स्वीकार कीजिए। राम ! मुझे यह कहने के लिए क्षमा दीजिए कि आप स्वयं भी सीता के कारण अधिक पवित्र बनते हैं।"

विभीषण बोले, "अग्निदेव ने तो खूब कहा !"

सुग्रीव कहने लगे, "अग्निदेव ने तो कहा, किंतु बात इस हद तक पहुंची और फिर भी राम समझे नहीं, यह देखकर मुझे तो आश्चर्य ही हुआ।"

विभीषण ने पूछा, "इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?"

सुग्रीव ने कहा, "आश्चर्य की बात क्यों नहीं है ? हम वानर आर्य-जाति की तुलना में हलकी जाति के माने जाते हैं, किंतु हम अपनी स्त्रियों के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करते और अगर करें, तो हमारी स्त्रियां उसे सहन भी नहीं करेंगी। क्या आपके राक्षस कभी ऐसा कर सकते हैं ?"

विभीषण बोले, "ऐसा तो राक्षस भी नहीं करेंगे।"

सुग्रीव ने कहा, "इसीलिए रामचंद्र के प्रति मेरे मन में सम्मान की और पूज्य भाव की कमी आ गई है। मुझे क्षमा कीजिए, मेरे हृदय में उनके लिए जो अद्वितीय स्थान था, वह अब नहीं रहा।"

विभीषण बोले, "वानरराज ! इस विषय में आर्य-जाति के लोग हम

राक्षसों और वानरों की तुलना में अधिक अनुदार हैं। ये लोग अपने परंपरागत संस्कारों में इस प्रकार पले-पुसे हैं कि इनके पुरुष-स्त्रियों की पवित्रता के विषय में इसी तरह सोच पाते हैं और इनकी स्त्रियां भी इसी रूप में इनके विचारों को स्वीकार करती हैं।"

सुग्रीव ने पूछा, "आर्य-जाति के लोग तो हमसे अधिक संस्कारी माने जाते हैं न ?"

विभीषण ने जवाब दिया, "न केवल संस्कारी माने जाते हैं, बल्कि वे संस्कारी हैं भी; किंतु हम यह समझते हैं कि जीवन के इस क्षेत्र में आर्य-जाति के मानस का अभी समुचित विकास नहीं हुआ है।"

सुग्रीव ने पूछा, "किंतु क्या रामचंद्र के समान महामानव भी ऐसी बातों को समझ नहीं पाते ? मैं सुनता हूं कि उन्होंने तो समूची आर्य-जाति में एक नए युग का प्रवर्तन किया है।"

विभीषण कहने लगे, "भले ही उन्होंने नए युग का प्रवर्तन किया हो, फिर भी संभव है कि ऐसी एक-दो बातों में वे पुराने ढंग से ही सोचें और व्यवहार करें। वानरराज, सुग्रीव ! ऐसे सामाजिक मामलों में जबतक लोक-मानस के जाग्रत होने की घड़ी परिपक्व नहीं होती, तबतक रामचंद्र के समान लोकोत्तर पुरुषों को भी ऐसे व्यवहारों में निहित दोष न केवल दीखते नहीं हैं, बल्कि ये दोष ही उन्हें गुणरूप प्रतीत होते हैं और उनका मन भी इसी तरह समाधान खोजता रहता है। आपको और मुझे यह बात जितनी अखर रही है, उतनी आर्य-जाति के किसी पुरुष को अखरती नहीं, अखर सकती भी नहीं।"

सुग्रीव बोलते-बोलते रुके, "तो फिर..."

विभीषण ने पूछा, "तो फिर क्या ?"

सुग्रीव ने कहा, "तो फिर रामचंद्र महानुभाव कैसे ?"

विभीषण बोले, "उनकी महानुभावता इन छोटी-छोटी बातों पर निर्भर नहीं करती। ऐसे मामलों में तो समाज जिस तरह सोचता है, महापुरुष भी उसी तरह सोचते हैं। लेकिन प्रायः यह देखा गया है कि जब समाज की विचारधारा अधर्म-मूलक होती है, तो महापुरुष दूसरे ढंग से सोचते हैं और समाज के गलत विचार का खंडन भी करते हैं; किंतु जो समाज इस हद

तक तैयार नहीं होता, उस समाज के महापुरुष भी समाज की साधारण विचारधारा के रास्ते ही चलते हैं। महापुरुष समाज की विचारधारा को खंडित करके स्वतंत्र रीति से सोचने लगें, इसके लिए समय का पकना जरूरी होता है।"

सुग्रीव ने पूछा, "क्या आर्य-जाति के लिए अभी इस तरह समय पका नहीं है ?"

विभीषण ने कहा, "अभी तो पका लगता नहीं। सीतादेवी के समान अनेक मूक और पवित्र स्त्रियां अपने को अग्नि में होमेंगी तभी काल पक पायगा। तबतक आर्य पुरुषों का यह व्यवहार ही धर्म माना जायगा और समूची आर्य-जाति इसमें गर्व का अनुभव करेगी।"

सुग्रीव बोले, "तब तो इनसे हम ही अधिक अच्छे हैं।"

विभीषण कहने लगे, "वानरराज ! जैसे-जैसे ये आर्य लोग हमारे समान दूसरी जातियों के संपर्क में आयेंगे और हमारे रीति-रिवाजों को जानने लगेंगे, वैसे-वैसे ये एक-दूसरे की जीवन-धारा के गुण-दोषों की जांच भी करने लगेंगे। उस समय जो लोग आर्यों में स्वतंत्र विचार करने की शक्ति रखते होंगे, उन्हें यह दोष स्पष्ट दीखेगा और ये स्त्रियों के प्रति इस अन्यायपूर्ण दृष्टि का निराकरण कर सकेंगे।"

सुग्रीव बोले, "यह तो बहुत लंबे समय के बाद संभव है।"

विभीषण ने कहा, "समूचे समाज की जड़ में जो विचार-दोष रहता है, उसे उलटने के लिए यह काल लंबा नहीं माना जाना चाहिए। अगर हम चाहते हैं कि आर्यों के जीवन में से यह दोष निकल जाय और साथ ही यह भी मानते हों कि पवित्रता का आग्रह बना रहना चाहिए, तो इस सबके लिए इतना समय कोई लंबा समय नहीं। हमारे लोग पवित्रता के आग्रह में शिथिल हैं। वे अपनी इस शिथिलता को दूर कर दें, और आर्य लोगों ने पवित्रता के नाम पर इन बातों में जो आवश्यकता से अधिक घृणा का विकास किया है, उसे वे अपने में से निकालकर बाहर कर दें, तो समाज अधिक स्वस्थ बन जाय। वानरराज ! इसीलिए मेरे भाई रावण ने मरते समय रामचंद्र को उलाहना दिया था और सीता की पवित्रता को पहचानने का आग्रह किया था। आपको याद है न ?"

सुग्रीव बोले, "याद क्यों नहीं होगा ?"

विभीषण ने कहा, "यह मत समझिये कि ऐसी बातों से रामचंद्र की महानुभावता कम होती है। मनुष्य कितना ही महानुभाव क्यों न हो, फिर भी कुछ बातें ऐसी होती हैं, जिनमें वह अपने समय के समाज से आगे जा नहीं सकता। उसकी महानुभावता उस देश और काल से मर्यादित हो जाती है। यह तत्त्व तो सारी दुनिया के महात्माओं पर समान रूप से घटित होता है।"

सुग्रीव बोले, "मेरा हनुमान भी मुझसे यही बात पूछ रहा था। लेकिन मैंने सोचा कि हनुमान तो रामचंद्र का भक्त बन गया है, इस कारण उसने अपनी बुद्धि पर ताला डाल दिया होगा। इसीलिए मैंने आपसे पूछा। अब जब आप भी कह रहे हैं, तो मेरे मन का समाधान हो रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन विषयों में रामचंद्र की दृष्टि हमसे भिन्न है। लंकाधिपति ! बात करने का यह अवसर हमें मिल गया, सो अच्छा ही हुआ, नहीं तो मैं मन-ही-मन घुटता रहता और रामचंद्र के प्रति अपने पूज्यभाव को खो बैठता ! अब तो यह पूज्यभाव पुनः मेरे मन में स्थिर हो चुका है। हमें समझना यही है कि ऐसे मामलों में रामचंद्र भी मनुष्य हैं; मनुष्य की देह में जन्म लेने और मनुष्यों के अपूर्ण समाज में पोषित होने के बाद भी रामचंद्र इतने बड़े लोकोत्तर पुरुष हैं, यही उनकी विशिष्टता है। आपकी बातों से आज मैं यही समझा हूं।"

विभीषण कहने लगे, "वानरराज ! हमें सब महापुरुषों का मूल्यांकन इसी प्रकार करना चाहिए, उनका मूल्यांकन करते समय हमें यह कभी भूलना नहीं चाहिए कि हम एक ऐसे पुरुष का मूल्यांकन कर रहे हैं, जो अपने आसपास के समाज, देश, काल और परिस्थिति आदि के बीच जी रहा है। अपने देश, काल और परिस्थिति से बिलकुल स्वतंत्र कोई मनुष्य हो ही कैसे सकता है ? और ऐसे अधर में लटकते मनुष्य की कल्पना करके उसका चित्र खींचने का मतलब ही क्या ?"

सुग्रीव ने कहा, "राक्षसराज ! कष्ट के लिए क्षमा कीजिए। स्वयं राक्षस होने पर भी आप इन सारी बातों पर इतनी बारीकी के साथ सोच सकते हैं, यही आपका सौभाग्य है। इस दृष्टि से तो हम वानर निपट मूर्ख

हीं हैं।"

विभीषण बोले, "आज नहीं, तो कल अवश्य ही आप लोग भी विचार कर सकेंगे। हम राक्षस इस प्रकार के स्वतंत्र चिंतन में बहुत आगे बढ़ गए हैं। हमारी जाति का एक ही बड़ा दोष है—हमारी कुटिल बुद्धि।"

सुग्रीव ने कहा, "और हमारा बड़ा दोष है, हम लोगों का अज्ञान।"

विभीषण बोले, "दोष के रूप में दोनों ही समान हैं। हमारे पास ज्ञान बहुत है, पर हम कुपात्र लोग हैं। आप सुपात्र हैं, भोले हैं, पर आपमें ज्ञान नहीं है।"

सुग्रीव ने अचानक कहा, "विभीषण! हम तो अपनी इन बातों में उलझ गए। चलिए, रामचंद्र तैयार होकर खड़े हैं और शायद हमारी ही बाट जोह रहे हैं।"

विभीषण चौंके और बोले, "अरे! चलिए, जल्दी चलिए। हम तो बिलकुल भूल ही गए। पुष्पक तो तैयार होकर खड़ा है। हनुमान भी वहीं हैं। हम दो ही बचे हैं।"

यों कहकर दोनों कदम बढ़ाते हुए उस जगह पहुंचने के लिए चल पड़े, जहां रामचंद्र, लक्ष्मण और सीता तीनों खड़े थे।

: २४ :

"सुमंत्र, यही मेरा राजधर्म है"

सीता, राम और लक्ष्मण लंका से विमान में बैठकर नंदीग्राम आये और वहां वे भरत से मिले। सुग्रीव, विभीषण और हनुमान भी साथ में थे। नंदीग्राम से सब अयोध्या आये और वहां रामचंद्र का राज्याभिषेक हुआ। ठीक चौदह साल पहले जिस अयोध्या से रामचंद्र तपस्वी के वेश में पैदल विदा हुए थे, उसी अयोध्या में आज रामचंद्र सिंहासन पर बैठे और समूचे कोशल देश पर उनकी सत्ता शुरू हो गई।

इसके कुछ ही समय बाद राम ने सीता का त्याग किया। रामचंद्र को अयोध्यावासियों की इस छिपी मान्यता का पता चल गया कि सीता का रावण के महल में रहना ही उनकी पवित्रता को नष्ट करने के लिए पर्याप्त है। यह मान्यता अयोध्या का मैल धोनेवाले एक धोबी के मुंह से प्रकट हुई। इसे जानकर रामचंद्र को भारी आघात लगा और उन्होंने तुरंत लक्ष्मण को हुक्म दिया कि वे सीता को अरण्य में छोड़ आवें। उस समय सीता गर्भवती थीं। लक्ष्मण उन्हें तमसा नदी के किनारे वाल्मीकि के आश्रम के पास छोड़ आए।

... ...

रात के कोई नौ बजे होंगे। रामचंद्र राज्य के काम से निवटकर अपने महल में आए और शयनकक्ष में गए। सीता का त्याग करने के बाद उन्होंने अपना यह नियम बना लिया था कि शयन कक्ष में आकर पूरी राजसी पोशाक उतार देना और वनवास के दिनों का वल्कल धारण करके शयन कक्ष के पासवाले कक्ष में जाकर बैठना और वहां मुक्तमन से रोना। यह कक्ष रामचंद्र का रुदन-कक्ष बन गया था। आज भी शयनकक्ष में आकर वे अपने राजसी कपड़े उतार ही रहे थे कि इतने में सामने की दीवार पर उन्हें किसी की परछाईं दिखाई पड़ी। रामचंद्र बोले, "कौन हैं ?"

सुमंत्र ने कहा, "महाराज ! मैं सुमंत्र हूं।"

राम ने पूछा, "क्यों सुमंत्र ! इतनी रात गये कैसे आए ?"

सुमंत्र बोले, "महाराज ! सोचा, आपके पास आए बहुत दिन हो गये हैं, इसलिए चलूं और आपसे मिल लूं।"

रामचंद्र ने पूछा, "अब तो मेरे सोने का समय हो रहा है। कोई खास काम है ?"

सुमंत्र ने कहा, "खास तो कुछ है नहीं। आप आराम से सो जाइए। मैं यहां बैठूंगा और जब आप सो जायंगे, तो वापस चला जाऊंगा।"

राम बोले, "ऐसा क्यों करते हैं ? कोई विशेष बात हो तो कहिए। लीजिए, मैं फिर अपने कपड़े पहने लेता हूं।"

सुमंत्र ने कहा, "कपड़े पहनने की क्या जरूरत है ? कपड़े उतार चुके हैं, तो भले ही उतारे रहिए।"

राम बोले, "सुमंत्र ! यह शोभा नहीं देगा। मैं अयोध्या का महाराज बना हूं, इसलिए मुझे अपनी वह पोशाक तो पहन ही लेनी चाहिए।"

सुमंत्र ने कहा, "अयोध्यावासियों के लिए आप अयोध्या के महाराज अवश्य हैं, पर मेरी दृष्टि में तो आप वही-के-वही रामचंद्र हैं। रामचंद्र ! याद है, जिन दिनों आप कपड़े पहनना जानते भी नहीं थे, उन दिनों आप मेरी इस गोद में लेटे और खेले हैं ?"

राम की आंखें डबडबा आईं। भरी आंखों से बोले, "सुमंत्र! वह राम तो बहुत पहले मर चुका है ! आज तो इस नए रामचंद्र का अवतार हुआ है। आपको कोई काम हो, तो कहिए।"

सुमंत्र ने कहा, "काम यही है कि जब आप सो जायं, तो मैं आपके पास बैठा रहूं।"

राम बोले, "यों तो मुझे देर लगेगी।"

सुमंत्र ने कहा, "भले ही देर लगे। मुझे तनिक भी जल्दी नहीं है।"

राम बोले, "मुझे पास के कमरे में जाना है।"

सुमंत्र ने कहा, "अवश्य जाइए। मैं यहीं बैठा हूं।"

राम ने बताया, "लेकिन वहां मुझे देर लगेगी।"

सुमंत्र बोले, "लगने दीजिए देर ! आप जाइए।"

राम ने गद्‌गद् कंठ से कहा, "सुमंत्र, यह आपने क्या सोचा है ? अयोध्या के लोगों ने क्या सोचा है ? मैंने सीता का त्याग किया, ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि देवी अरुंधती अयोध्या में पैर नहीं रखना चाहतीं, फिर भी आपको चैन नहीं ? आपको यह भी पसंद नहीं कि आपका यह राम दुनिया के एक कोने में बैठकर मुक्त मन से रोए और अपना दिल हलका करे ? सुमंत्र, आप जाइए। मुझे अपना दिल हलका कर लेने दीजिए।"

सुमंत्र का गला भर आया। उन्होंने कहा, "रामचंद्र ! आप जरूर रोइए; जी भरकर रो लीजिए।"

राम ने सुमंत्र की गोद में अपना सिर रख दिया और कहा, "सुमंत्र ! आप मेरे पिता के समान हैं। माता कौशल्या भी यह कहकर गुरु वसिष्ठ के आश्रम में चली गई हैं कि वे सीता-विहीन अयोध्या में नहीं आयंगी।

अतः राम के लिए तो ऊपर आसमान और नीचे धरती ही बची है। सुमंत्र! आप जाइए और मुझे रो लेने दीजिए।"

सुमंत्र राम के सिर पर हाथ फेरते हुए बोले, "आप बेखटके रो लीजिए।"

रामचंद्र ने कहा, "रोना तो चाहता हूं, पर इस कमरे में रो नहीं पाता!"

सुमंत्र ने पूछा, "क्या आंसू भी कहीं जगह खोज कर आते हैं ?"

राम ने कहा, "आंसू तो जगह नहीं खोजते, पर मेरा मन जगह खोजता है।"

सुमंत्र बोले, "मन जिस तरह जगह खोजता है, उसी तरह कपड़े भी खोजता होगा।"

राम ने कठोरतापूर्वक कहा, "हां, कपड़े भी खोजता है।"

सुमंत्र ने राम पर अपनी आंखें गड़ाकर कहा, "रामचंद्र, इतना सब करना पड़ रहा है, फिर भी आप सीतादेवी को वापस लाना नहीं चाहते ?"

राम ने विकल होकर कहा, "सुमंत्र, आपने मेरे मर्मस्थान पर शब्द-बाण मारा है! मैं सीता को कैसे लाऊं ? सीता तो गई। देवी अब नहीं आयगी! मेरी प्रजा उसे आने नहीं देगी।"

सुमंत्र कहने लगे, "यह प्रजा भी कोई प्रजा है ? प्रजा को होश ही कहां है ? क्या यह मिथिला की प्रजा है, जो सारासार समझ सके ? यह तो भेड़ों के झुंड-सी प्रजा है! ऐसी प्रजा के चार आदमियों ने कुछ कह दिया और उसी पर आपने सीता का त्याग कर दिया, यही आपकी भूल है। आप स्वभाव से ही कड़े हैं, इसलिए कोई आपसे कुछ कह नहीं सका।"

आंसू पोंछते-पोंछते राम बोले, "सुमंत्र ! ऐसा मत कहिए। अयोध्या की प्रजा कैसी भी क्यों न हो, अंततः वह रघुराजा की प्रजा है, महाराज दशरथ की प्रजा है। उस प्रजा के कारण ही हम सब उजले हैं।"

सुमंत्र ने कहा, "ये सारी बातें सच हैं; किंतु क्या प्रजा मूर्ख हो, तो उसकी भी बात मान लेनी चाहिए ?"

राम बोले, "यह मानना ही गलत है कि प्रजा मूर्ख है। अपनी मनमानी

करनेवाले राजा ही प्रजा को मूर्ख मान सकते हैं और मूर्ख कह सकते हैं। प्रजा चाहे मूर्ख हो, फिर भी यदि आप उस प्रजा के राजा हैं, तो आपको उसकी मूर्खता स्वीकार करके ही चलना होगा। अगर आप सच्चे राजा हैं, तो ऐसे उपाय कीजिए, जिससे प्रजा को अपनी मूर्खता का पता चल सके, किंतु यह कहकर कि प्रजा मूर्ख है, आप मनमाना बरताव तो नहीं कर सकते। सुमंत्र ! यह मेरा राजधर्म है। समझे ?"

सुमंत्र ने कहा, "यदि राजधर्म ऐसा ही हो, तो राजा बनना बहुत कठिन हो जाय !"

राम कहने लगे, "राजा बनना कठिन है ही। किसी भी मानवी व्यवस्था के मुखिया बनने में यही बात रही है। आप जिस तंत्र के या व्यवस्था के मुखिया हैं, उस व्यवस्था से जुड़े सब लोगों का मन आपका मन बने, उन लोगों का हित आपका हित हो, उन लोगों का हृदय आपका हृदय बने, उन लोगों की आकांक्षा आपकी आकांक्षा हो, उन लोगों का दुःख आपका दुःख बने, उन लोगों की ममता आपकी ममता बने, और उन लोगों की रुचि-अरुचि आपकी रुचि-अरुचि बने, तभी आप उन लोगों के और उस तंत्र के राजा बन सकते हैं। राजा बनना हो, तो ऐसे राजा बनो, नहीं तो उन लोगों की पूजा का, उनके मान-सम्मान का, उनके मुकुट का और उनके स्वामित्व का त्याग करके किसी एक कोने में शांति से बैठो और अपना जीवन बिताओ। राजा बनना और प्रजा को मूर्ख कहकर मनमाने ढंग से व्यवहार करते रहना उचित नहीं। सुमंत्र ! यदि आप यह समझते हों कि जानकीदेवी का जो त्याग मैंने किया है, वह बिना सोचे-समझे ही कर दिया है, तो आप अपनी इस समझ को बदल डालिए।"

सुमंत्र ने पूछा, "यदि यह त्याग विचारपूर्वक किया है, तो फिर आप रोज-रोज ऐसे जागरण कर-करके ये आंसू क्यों बहाते रहते हैं ?"

राम बोले, "सुमंत्र ! आंसू न बहाऊं, तो क्या करूं ? सच कहूं, राम आजकल दोहरा जीवन जी रहा है। सुबह उठने के बाद राज-भवन पहुंचने के समय से लेकर रात को इस स्थान में वापस आने के समय तक मैं राम अयोध्या का राजा हूं। यह है, उस अयोध्यापति की पोशाक। इसे पहनकर सिर पर मुकुट रखते ही राम राजा बन जाता है। सारे दिन राजा के रूप में

अपनी इस अस्मिता को मैं बड़ी कड़ाई से संभाले रहता हूं और उसे क्षण भर के लिए भी शिथिल नहीं होने देता। बाद में रात को यहां आकर यह पोशाक उतार डालता हूं और यह वल्कल पहन लेता हूं। उस समय मैं अयोध्यापति नहीं रह जाता, और मेरे अंदर सीता-पति राम का जन्म होता है। फिर इस रुदन-कक्ष में जाकर मैं जी-भरकर रोता हूं और सीता को याद करके अपना दिल हलका कर लेता हूं। मेरा ऐसा यह दोहरा जीवन चल रहा है। सुमंत्र ! सारे संसार में जिन-जिनके नसीब में राजा बनना लिखा होता है, उन सबको इस या उस प्रकार से ऐसा दोहरा जीवन ही बिताना पड़ता है। राज-जीवन की यह एक अनिवार्य विवशता है। जो राजा बने नहीं हैं, उन्हें इस विवशता की कल्पना भी नहीं आ पाती।"

सुमंत्र ने कहा, "महाराज ! आपके राजा बनने में सीतादेवी का क्या अपराध है ? क्या मूर्ख प्रजा के कारण उन्हें यह सब सहन करना चाहिए ?"

रामचंद्र बोले, "सीता का अपराध यही है कि उसने मुझसे विवाह किया। निश्चित समझिए कि राजा से विवाह करनेवाली रानी के भाग्य में यह सब लिखा ही होता है। राजा या तो राजधर्म चूके या फिर रानी-धर्म चूके।"

सुमंत्र ने पूछा, "क्या यह संभव नहीं कि एक भी धर्म न चूकना पड़े ?"

राम बोले, "संभव तो है; पर ऐसे भाग्यशाली बहुत कम होते हैं। सुमंत्र ! आप जानते हैं कि जिस प्रकार अयोध्या की गद्दी मुझे उत्तराधिकार में मिली है, उसी प्रकार यह प्रजा भी मुझे उत्तराधिकार में प्राप्त हुई है। आप प्रजा को मूर्ख कहते हैं। क्या उसकी मूर्खता के लिए अयोध्या के राजा जिम्मेदार नहीं हैं ? हमने आजतक इस मूर्खता को क्यों नहीं मिटाया ? हमने आजतक इस प्रजा को अधिक संस्कारवान क्यों नहीं बनाया ? आज हम इसे मूर्ख मानने लगे, क्योंकि आज आंच हमारे पैरों तले आ चुकी है। सुमंत्र ! प्रजा के बीच ऐसे ब्राह्मण होते कि जो प्रजा की संस्कारिता को निरंतर ऊंचे रास्ते ले जाते, तो मुझे आज भी सीता का त्याग न करना पड़ता। मेरे द्वारा सीता का त्याग हो जाने पर भी यदि ऐसे

संस्कारी ब्राह्मण प्रजा के बीच होते तो प्रजा रामचंद्र के लिए भारी पड़ जाती, और यह संभव हो जाता कि सीता का त्याग करनेवाला रामचंद्र स्वयं उसे लिवा लाने को जाता; किंतु जनता के मानस को मार्ग दिखाने-वाले ऐसे ब्राह्मण आज हैं कहां ?"

सुमंत्र ने पूछा, "क्या हमारे वसिष्ठ आदि नहीं हैं ?"

राम बोले, "इसीलिए तो अरुंधती ने अयोध्या में पैर रखने से इनकार कर दिया है। किंतु अरुंधती के इस पुण्य प्रकोप को समझानेवाले ब्राह्मण कहां हैं ? लोग यह कैसे समझें कि अरुंधती के इस निश्चय के मूल में समूचे पुरुष-समाज के प्रति उनका पुण्य प्रकोप छिपा है ? समाज में आज इतनी संस्कारिता कहां है ?"

सुमंत्र ने कहा, "इसका मतलब तो यही हुआ कि आप रोज सारा दिन राज्य करेंगे और सारी रात सीतादेवी को याद कर-करके रोते रहेंगे।"

राम बोले, "सुमंत्र ! मेरे भाग्य में यही लिखा है।"

सुमंत्र ने पूछा, "और क्या सीता के भाग्य में भी यही बदा है ?"

राम ने कहा, "उसके भाग्य में तो चौबीसों घंटे रोना ही लिखा है ! मुझे तो दिन में दिल पर ताला डालकर राज्य भी करना होता है।"

सुमंत्र कहने लगे, "रामचंद्र ! इस तरह कब तक चला सकोगे ? इस देह की भी कोई मर्यादा है न ?"

राम बोले, "जबतक दैव की मरजी होगी तबतक। मैं चाहता तो प्रजा का अनादर करके सीता को अपने साथ रख लेता और राज्य भी चलाता; किंतु ऐसा प्रजा-द्रोह करना मुझे अधर्म प्रतीत हुआ। मुझे लगा कि मेरे पूर्वजों ने प्रजा की जो उपेक्षा की है, उसका प्रायश्चित्त मुझे करना ही चाहिए। इसीलिए विवश-भाव से मैंने सीता का त्याग किया। यदि मैंने यह कदम न उठाया होता, तो मेरे बाद आनेवाले अयोध्यापति को इससे भी अधिक कड़े प्रायश्चित्त करने पड़ते। फिर मैं ही यह प्रायश्चित्त क्यों न करूं ?"

सुमंत्र ने पूछा, "रामचंद्र, इसके बदले आपने राज्य का त्याग क्यों नहीं किया ? सब कोई जानते हैं कि राज्य का त्याग करने की शक्ति तो

आपमें है।''

राम ने जवाब दिया, ''यदि राज्य का त्याग करना था, तो मुझे चौदह साल पहले ही कर देना चाहिए था। जब भरत मेरी पादुका लेकर नंदीग्राम लौटा, तभी अपनी पादुका मुझे उसे नहीं देनी चाहिए थी। मैंने पादुका देकर राज्य तो स्वीकार कर ही लिया था। फिर चौदह वर्षों के बाद आकर मैं लोगों से कहता कि आप सीता को दोषी मानते हैं, इसलिए मैं आपका राजा नहीं बनता, तो मेरे विचार में प्रजा के साथ मेरा वह विश्वासघात होता। इसका अर्थ तो यह हुआ कि चौदह-चौदह वर्षों तक राजा के बिना रही प्रजा के दिल पर मैं सीता का बोझ डालूं और प्रजा मुझे इच्छा से या अनिच्छा से स्वीकार करे। राजा न बनना सहल था, किंतु मेरे लिए राजधर्म का त्याग सहल नहीं था। राजधर्म का त्याग करने की अपेक्षा मेरे लिए अधिक सहल यह था कि मैं और सीता एक-दूसरे के सहवास का त्याग करें और आवश्यक हो, तो जीवन-भर दुखी रहें।''

सुमंत्र ने पूछा, ''रामचंद्र ! आपके और सीता के इस प्रकार दुखी बने रहने में अयोध्या की प्रजा की कितनी बड़ी हानि है ?''

राम ने कहा, ''हानि तो हो सकती है; किंतु जबतक स्वयं प्रजा को उसकी प्रतीति न हो, तबतक आज की तरह दुखी बने रहने के अलावा और कोई उपाय ही नहीं। आप यह क्यों नहीं कहते कि जब राजा ऐसे दुःख स्वयं अपने सिर ओढ़ लेते हैं, तो प्रजा को समझाने का वह भी एक बड़ा मार्ग बनता है।''

सुमंत्र ने कहा, ''इस रीति से तो प्रजा कब समझेगी ? इतने अधिक कष्ट-साध्य मार्ग अपनाने की अपेक्षा दूसरे कई सरल मार्ग अपनाए जा सकते हैं।''

राम बोले, ''दूसरे सरल मार्ग होंगे, किंतु ये सरल प्रतीत होनेवाले मार्ग परिणाम की दृष्टि से अधिक लंबे होते हैं। सुमंत्र !अब आप जायंगे? आप जिस काम के लिए आए थे, वह तो निबट चुका है।''

सुमंत्र ने कहा, ''राम ! मैं आपसे यह कहने आया हूं कि इस तरह प्रतिदिन रोना उचित नहीं, और साथ ही इस बात का आग्रह करने भी आया हूं कि आप देवी को वापस बुला लें।''

राम बोले, "किंतु सुमंत्र ! अब आप यह तो समझ ही चुके होंगे कि रामचंद्र के भाग्य में हर रोज रोना लिखा है और सीता के भाग्य में मेरा वियोग बदा है ! यह वस्तु किसी के लिए मिथ्या हो नहीं सकेगी। सुमंत्र ! माता कैकेयी ने महाराज से मेरे वनवास की मांग की और महाराज ने उसे अनिच्छापूर्वक स्वीकार किया। बाद में जब मैं भी वन जाने के लिए तैयार हो गया, तो उस समय गुरु वसिष्ठ एक शब्द भी नहीं बोले थे। उस दिन क्षण भर के लिए मेरे मन में यह विचार उठा था कि गुरु को महाराज से कुछ कहना चाहिए था; किंतु आज मैं समझ रहा हूं कि वह वनवास तो हमारे लिए आशीर्वाद-रूप था। प्रायः कुछ बातें हमें शाप-रूप लगती हैं, किंतु वे अपने गर्भ में आशीर्वाद लिये रहती हैं। माता कैकेयी ने हम दोनों को तेरह वर्षों तक साथ रहने का जो अमूल्य अवसर दिया, आज उसे याद करता हूं, तो मेरा सिर उनके चरणों में झुक जाता है। माता कैकेयी ! आपका दिया वनवास आज कितना मीठा लग रहा है !"

सुमंत्र बोले, "इस दृष्टि से देखने पर तो अयोध्या की गद्दी कड़ुवी ही लगेगी।"

राम ने कहा, "कड़ुवी तो है, किंतु औषधिरूप होने के कारण मैं उसे मीठी मानता हूं।"

सुमंत्र बोले, "रामचंद्र ! मेरा आना तो व्यर्थ ही हुआ !"

राम ने कहा, "व्यर्थ क्यों हुआ ? आपके मन का समाधान हुआ, और मुझे इस बात का संतोष हुआ कि मैंने कोशल के एक हृदय के सामने अपनी बात रख दी।"

सुमंत्र ने पूछा, "क्या सीतादेवी यह सब जानती हैं ?"

राम ने कहा, "सीता के साथ तो मैंने बात करने का समय भी कहां रहने दिया था ? किंतु मुझे विश्वास है कि उसका हृदय मुझे पहचानता है, अतः अपने उस हृदय से वह मेरी बात समझ गई होगी। मेरा और सीता का स्नेह ऐसा है कि हमारे बीच कोई भ्रांति होने का डर मुझे है ही नहीं।"

सुमंत्र ने पूछा, "क्या अयोध्या की प्रजा इस बात को समझती है ?"

राम ने कहा, "यह मेरी चिंता का विषय नहीं है। सीता तो राम ही की मानी जायगी न ? यह बात इतनी व्यक्तिगत न होती, तो मैं प्रजा को

अवश्य समझता। किंतु आज तो स्थिति यह है कि मैं प्रजा को यह सब समझाने लगूं, तो उसे इसमें मेरा स्वार्थ या काम दीख सकता है। अत: मेरे लिए मूक बने रहना ही धर्म है। प्रजा को समझाने का धर्म तो प्रजा के ब्राह्मणों का है।"

सुमंत्र ने हाथ झाड़ लिये और कहा, "बस, हो चुका! स्थिति तो जैसी है वैसी ही बनी रहेगी न ?"

राम ने कहा, "ठीक ही तो है।"

सुमंत्र बोले, "रामचंद्र ! मुझे एक बात का संतोष है।"

राम ने पूछा, "किस बात का ?"

सुमंत्र ने कहा, "हम सब इस विषय में आपसे बात करते हुए डरते थे। लक्ष्मण भी डरे, भरत भी डरें, और शत्रुघ्न तो डरे ही डरे। डर तो मेरे मन में भी था; पर मैं अपने मन को मजबूत बनाकर आ गया, तो आपके साथ इतनी खुली और लंबी बात हो सकी।"

राम बोले, "सुमंत्र ! आपकी बात सच है। यह कड़ाई मेरे स्वभाव में ही है। जिस बात का निश्चय कर लेता हूं, उसके विषय में व्यर्थ की चर्चा करना मुझे रुचता नहीं, किंतु अगर आप यह मानें कि मैं जो भी निश्चय करता हूं, सो यों ही, बिना सोचे-समझे, कर लेता हूं, तो मैं इसे स्वीकार नहीं करूंगा।"

सुमंत्र ने कहा, "रामचंद्र ! एक बात तो है ही।"

राम ने पूछा, "क्या ?"

सुमंत्र बोले, "हम सबका यह अनुभव है कि जब सीता आपके साथ रहती हैं, तब आपके निर्णय जितने संतुलित होते हैं, उतने संतुलित निर्णय दूसरे दिनों में नहीं होते। लक्ष्मण का भी यही अनुभव है। वह कहते हैं कि रावण सीता को उठाकर ले गया, उसके बाद एक वर्ष तक बड़े भैया बहुत ही असंतुलित रहे। आज भी हमें आपके निर्णय असंतुलित ही लगते हैं।"

राम ने कहा, "तो इसका अर्थ यही है कि मैं सीता के बिना अधूरा हूं। और यह बात मुझे मंजूर है। यदि आप कहें कि सीता के बिना राम पंगु है, तो मैं इसे भी स्वीकार कर लूंगा। यही कहिये न कि सीता के बिना यह राम निष्प्राण है! किंतु यदि अयोध्या को ऐसे ही राजा की आवश्यकता हो,

तो मैं क्या कर सकता हूं ?"

सुमंत्र ने पूछा, "हमें तो संतुलित राम चाहिए। उसका क्या उपाय है ?"

राम ने खेदपूर्वक कहा, "मुझे भय है कि अब इस जीवन में राम अपना संतुलन फिर शायद ही पा सके ! जिस प्रकार पक्षाघात से पीड़ित मनुष्य अपने अंगों पर काबू गंवा बैठता है, उसी प्रकार रामचंद्र ने भी अपना काबू खो दिया है। इस कारण मेरे सारे अंग इधर-उधर उलझे रहते हैं, मेरा मस्तिष्क संतुलित नहीं रहता, मेरे सारे आदेश परस्पर विरोधी निकलते रहते हैं, मानो मैं पागल हो गया होऊं ! किंतु अयोध्या की प्रजा को ऐसे पागल राम की ही आवश्यकता है। जिस दिन अयोध्या की जनता को सयाने राम की आवश्यकता होगी, उस दिन वह राम को सयाना बना लेगी। मुझे इसी तरह पागल बनाये रखना अथवा सयाना बनाना अयोध्या की प्रजा के हाथ में है।"

कहते-कहते राम सिसकियां ले-लेकर रोने लगे।

सुमंत्र बोले, "महाराज ! अब आप शांत हो जाइये।"

रामचंद्र ने कहा, "सुमंत्र ! अब आप जाइए और मुझे रोकर अपना दिल हलका कर लेने का सुख लेने दीजिए। मुझपर इतनी दया जरूर कीजिए। आपका यह राम इतनी दया का अधिकारी तो है ही !"

यों कहते-कहते वे तुरंत ही रुदन-कक्ष में चले गये।

: २५ :

सीता : सोने को या कुश की ?

दिन-पर-दिन, महीनों-पर-महीने और वर्षों-पर-वर्ष बीतने लगे। रामचंद्र कोशल की प्रजा की सेवा का कठिन व्रत धारण करके दिन में वज्र हृदय और रात में कुसुम से भी कोमल हृदय बनकर अपने जीवनरूपी चंदन

को दोनों सिरों से विसने लगे। तमसा के किनारे वाल्मीकि के तपोवन में लव और कुश जानकीदेवी की गोद छोड़कर ऋषि के आश्रम में अंतेवास करने लगे। तप की मूर्तिरूप सीता किसी भावी पल की प्रतीक्षा करती हुई वाल्मीकि की छाया में मूक जीवन बिता रही थीं। ऋषि स्वयं अपनी क्रांत-दर्शी दृष्टि से रामचंद्र के जीवन की अगम पहेलियों को बूझ-बूझकर उन्हें देववाणी में व्यक्त करने में व्यस्त थे !

... ...

महाराज रामचन्द्र ने अश्वमेध-यज्ञ आरंभ किया। यज्ञ के पवित्र घोड़े को पृथ्वी पर खुला छोड़ दिया और लक्ष्मण का पुत्र चंद्रकेतु हजार सैनिकों के साथ उस घोड़े की रक्षा के लिए निकल पड़ा। अश्वमेध का अश्व नगरों में घूमा, गांवों में घूमा, बस्तियों में घूमा, निर्जन प्रदेशों में घूमा, जंगलों और वनों में घूमा, तपोवनों में घूमा, आश्रमों में घूमा, राजा-महाराजाओं की राजधानियों में घूमा और वर्ष के अंत में अयोध्या वापस आ गया। किसमें ताकत थी, जो रामचंद्र के अश्व को बांधता और राम के अस्त्रों का स्वाद चखता ?

यज्ञ-मंडप रचा जा चुका था। सात समुद्रों के जल तैयार थे। होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता आदि उपस्थित थे। सारी यज्ञ-सामग्री इकट्ठी हो चुकी थी। ब्राह्मण वेद-पाठ कर रहे थे। अरणि के काष्ठ से अग्नि प्रकट की गई थी। स्वाहाकार शुरू हो चुका था।

किंतु...

रामचंद्र आए, लक्ष्मण आए, भरत आए, शत्रुघ्न आए, हनुमान आए, किंतु...

किसकी प्रतीक्षा है ?

आवाज उठी, "यजमान-पत्नी कहां हैं ? बिना यजमान-पत्नी के यज्ञ कैसे होगा ? सीता की तो आवश्यकता है।"

कर्मकांडी ब्राह्मण गरज उठे, "सीता हो या और कोई हो, पर यजमान-पत्नी तो होनी चाहिए। रामचंद्र यजमान हैं। किसी दूसरी स्त्री से उनका विवाह करवाओ। शास्त्र का वचन है, वेद की आज्ञा है, यज्ञ के लिए विवाह करना है। कौन अपने विलास के लिए विवाह करता है ? बिना पत्नी के

यजमान अधूरा है। यजमान-पत्नी के बिना यज्ञ करे, तो देव उस यज्ञ को स्वीकार नहीं करेंगे। यजमान ! नई पत्नी से विवाह कीजिए। तभी यज्ञ आगे चल सकेगा।"

रामचंद्र आश्चर्यचकित भाव से खड़े हो गए और बोले, "पत्नी के बिना यजमान अधूरा तो है ही। सीता के बिना मैं भी अधूरा हूं। किंतु..."

एक ब्राह्मण ने धृष्टतापूर्वक कहा, "महाराज राम ! ये सब ब्राह्मण और प्रजाजन आपसे अपने मन की बात कह नहीं सकते। यजमान-पत्नी के बिना यज्ञ आगे नहीं बढ़ सकता। सीतादेवी उपस्थित नहीं हैं, इसलिए आपको अन्य किसी यजमान-पत्नी की स्थापना करनी चाहिए। यह विधि तुरंत संपन्न कीजिए। सुमंत्र से तो हमने कई दिन पहले यह बात कह दी थी, और उन्होंने कहा था कि वे इसकी व्यवस्था में ही लगे हैं। अब आप यजमान-पत्नी को तुरंत प्रतिष्ठित कीजिए।"

रामचंद्र धीर-गंभीर स्वर में बोले, "भूदेव ! यह बात बिलकुल सच है कि यजमान-पत्नी के बिना यजमान का यज्ञ अधूरा है। इस दृष्टि से देखा जाय, तो मेरा जीवन-यज्ञ भी अधूरा है, और अधूरा ही रहेगा।"

ब्राह्मण कहने लगा, "महाराज ! आपका यह यज्ञ क्यों अधूरा रहने लगा ? राज्य में कन्याओं की कौन कमी है? क्या अयोध्या की प्रजा आपके यज्ञ को अधूरा रहने देगी ?"

राम की आंखों में आंसू आ गए। वे बोले, "भूदेव ! मुझे क्षमा कीजिए। मेरा यज्ञ अधूरा ही है, और मुझे संदेह नहीं कि वह अधूरा रहने-वाला है।"

ब्राह्मण बोला, "इसमें हमारी शोभा नहीं।"

राम ने दो टूक बात कह दी, "भूदेव ! हम इस लंबी बहस में न पड़ें। यज्ञ बंद कीजिए। भले ही मेरा अश्वमेध-यज्ञ न हो !"

ब्राह्मण अचंभे में डूब गए। अध्वर्यु भी चकित हो गए। प्रजाजन एक-दूसरे का मुंह देखने लगे।

राम ने अपनी बात आरंभ की, "किसी को आश्चर्यचकित होने की कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रजा के लिए मैंने सीता का त्याग किया है;

किंतु यज्ञ की संपन्नता के लिए रामचंद्र अपने हृदय की दूसरी रानी खोज नहीं सकता। मैंने अयोध्या की महारानी के नाते सीता को यहां से विदा किया है, किंतु मेरे हृदय की महारानी तो सीता ही है और वही रहेगी। उस स्थान पर सीता को छोड़कर और किसी का कोई अधिकार नहीं। भू-देवो ! आप सहर्ष यज्ञ बंद कीजिए। सुमंत्र ! ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर विदा कर दीजिए। घोड़े को खुला छोड़ दीजिए और यज्ञ-समारंभ को समेट लीजिए।"

सुमंत्र ने अपनी आंखों का पानी पोंछा। वे उठे और बोले, "भूदेवो ! आपने महाराज की बात सुनी ? महाराज सीता को छोड़कर दूसरी पत्नी करें और उसके साथ यज्ञ में बैठें, यह तो संभव है नहीं। मुझे तो यह देखकर ही आश्चर्य हुआ कि ऐसी बातें कहते हुए आपको कोई संकोच क्यों नहीं हुआ ? क्या पत्नी कोई ऐसी सस्ती वस्तु है कि पुरुष जब चाहे तब उसे बाजार से खरीदकर ले आवे ? आपके समान उच्च ब्राह्मण भी यज्ञ में यजमान-पत्नी के साहचर्य के मर्म को समझ नहीं सके, यह बड़े ही दुःख की बात है। भले ही आज सीता देवी वन में हों या और कहीं भटक रही हों; किंतु रामचंद्र के हृदय की अधिष्ठात्री तो सीता ही हैं। अयोध्या की प्रजा सीता को अयोध्या के बाहर निकलवा सकती है, किंतु वह सीता को राम के हृदय से नहीं हटा सकती। प्रजाजनो ! यजमान-पत्नी तो सीता ही हैं। ब्राह्मणो ! यदि आप सीतादेवी को यजमान-पत्नी के रूप में स्वीकार कर सकें और उनकी अनुपस्थिति के विषय में कोई तालमेल बैठा सकें, तो यज्ञ चलाइए, नहीं तो मैं यज्ञ बंद करने को तैयार हूं। इस वंश की तीन पीढ़ियां मैंने देखी हैं, अतएव ऐसे कामों में मैं खूब कुशल बन चुका हूं।"

एक ब्राह्मण बोल उठा, "सुमंत्र! घबराने की कोई आवश्यकता नहीं। यजमान-पत्नी स्वयं उपस्थित न हों, तो हम उनकी सोने की मूर्ति बनवाकर काम चला लेंगे। आप सोने की सीता तो शीघ्र ही बनवा दीजिए।"

सुमंत्र ने कहा, "हां, ऐसी कोई बात आप कहें, तो रास्ता निकले। मैं यह चला।"

राम ऊंची आवाज में बोले, "सुमंत्र, ठहरिए ! सीता की मूर्ति भी बनेगी, तो वह सोने की नहीं बन सकेगी। सीता की सोने की मूर्ति बनवाने

का अपना अधिकार मैं खो चुका हूं। यदि आज मुझे सीता की मूर्ति बनवानी ही है, तो वह कुश की ही बनाई जा सकती है। अब सीता का सोने के साथ कोई संबंध नहीं रहा है। उसका नाता कुश-जैसे पदार्थों के साथ ही बढ़ता जा रहा है !"

सुमंत्र ने पूछा, "आचार्यो ! मैं कुश की मूर्ति बनवाकर ले आऊं ?"

ब्राह्मण बोल उठे, "आवश्यकता तो सोने की सीता की है, फिर जैसी महाराज रामचंद्र की इच्छा !"

राम ने कहा, "सुमंत्र ! जाइए, सीता की कुश की मूर्ति बनवाकर ले आइए। मैं सीता के साथ बैठकर इस यज्ञ को पूरा करूंगा। इस बीच आप सब आहुतियां देने का काम करें और ये सारे सभासद यज्ञ के दर्शन करें। मैं अपना थोड़ा काम निपटाकर तुरंत ही आता हूं।"

यों कहकर रामचंद्र वहां से चले गए और ब्राह्मण वेद-मंत्रों का पाठ करने लगे।

यज्ञ की वेदी में अग्नि की लपटें उठ रही थीं।

रामचंद्र के हृदय में क्या चल रहा होगा, इसे कौन जान सकता था !

: २६ :

मां वसुंधरा ! मुझे स्थान दे।

रामचंद्र के अश्वमेध-यज्ञ के अवसर पर अनेक ऋषि-मुनियों को आमंत्रित किया गया था। वाल्मीकि को भी आमंत्रण भेजा गया था। वाल्मीकि सीता को, लव-कुश को और अपने शिष्यों को साथ लेकर आए थे और यज्ञशाला से कुछ ही दूर वृक्षों की छाया में आकर ठहरे थे। इसी प्रकार यज्ञशाला के आसपास अनेक राजा-महाराजाओं के पड़ाव पड़े थे; अनेक ऋषि-मुनि यज्ञ-मार्ग को घेरकर अपने-अपने डेरे डाले हुए थे; अनेक ब्राह्मण झोंपड़ियां खड़ी करके उनमें रहने लगे थे। वानरों, ऋक्षों और राक्षसों का तो पार ही नहीं था।

एक दिन सुबह वाल्मीकि यज्ञ-कुंड के पास बैठे थे। उसी समय सीता-देवी वहां अग्निदेव के दर्शन करने पहुंचीं। उन्हें देखकर वाल्मीकि ने कहा, "सीता ! लव-कुश ने तुमसे कोई बात की ?"

सीता ने नीचा मुंह करके जवाब दिया, "की है, गुरुवर !"

वाल्मीकि ने पूछा, "तो फिर आज हम चलेंगे न ?"

सीता ने कहा, "मेरा मन तो बहुत कर नहीं रहा है। आश्रम से चल कर यहां इतनी दूर आ गई हूं, यही बहुत है।"

वाल्मीकि हँसते-हँसते बोले, "पागल कहीं की ! ऐसा भी कहीं हुआ है ? लगता है, लव-कुश ने सबको बहुत प्रसन्न किया है।"

सीता बोलीं, "गुरुवर ! आपका काव्य हो और रामचंद्र की कथा हो, फिर पूछना ही क्या ?"

वाल्मीकि कहने लगे, "काव्य का गान करनेवालों में भी तो कला चाहिए न ? सीता ! मैंने आजतक बहुत शिष्यों को पढ़ाया है, पर ऐसे मेधावी शिष्य मैंने नहीं देखे। इस पर इनके कंठ का माधुर्य, इनकी भाव-प्रवणता, इनका स्वर-लहरी और इतनी तन्मयता के साथ गाने की इनकी निपुणता, मानो काव्य का स्रोत इनके ही हृदय में से प्रवाहित हो रहा है ! सीता ! कहा जाता है कि इन सब कारणों से रामचंद्र बहुत ही प्रसन्न हुए हैं। आज महाराज ने हमें बुलाया है।"

सीता बोलीं, "आप जाइए ! चलने के लिए मेरा मन बिलकुल तैयार नहीं हो रहा।"

वाल्मीकि ने कहा, "आश्रम से चलते समय तो तुमने कहा था कि तुम हमारे साथ रहोगी।"

सीता बोलीं, "अभी कल तक आपके साथ चलने का मन था; पर अब आज वहां जाने में मुझे कोई रस नहीं रहा, भगवन्! लव-कुश आपके साथ रहेंगे ही।"

वाल्मीकि ने कहा, "बेटी! मुख्य काम तो तेरा है। महाराज ने बहुतेरे ऋषि-मुनियों को भी बुलाया है; समझ ले कि उनके सामने तेरी पवित्रता सिद्ध कर देने पर तेरे दुःखों का अंत हो जायगा।"

सीता कहने लगीं, "मेरे दुःखों का अंत तो मुझे निकट ही दिखाई दे

रहा है। मैं अपनी माता वसुंधरा की आवाज इस तरह सुन रही हूं, मानो वे मुझे बुला रही हों। गुरुदेव ! अशोकवन से छूटने पर जब मैं रामचंद्र के दर्शनों के लिए अधीर बनी तो कहा गया, स्नान करके आओ; ज्यों-त्यों स्नान करके पहुंची, तो कहा गया, सिद्ध कर कि तू पवित्र रही है; चिता पर चढ़ी और अग्निदेव ने मुझे पवित्र घोषित किया, तो अयोध्या ने कहा, सीता अपवित्र है। क्या अब फिर मुझे अपनी पवित्रता सिद्ध करनी होगी? गुरु-वर ! अब तो मैं इस पवित्रता से थक चुकी हूं। मुझे कुछ भी सिद्ध नहीं करना है। मैं जैसी हूं, वैसी अपनी मां के उदर में समा जाऊंगी।" यह कहते-कहते सीता की आंखों से आंसू बह चले।

वाल्मीकि बोले, "जानकी ! इस तरह शोक मत कर। क्या तुझसे यह छिपा है कि महाराज रामचंद्र का तुझपर कितना अधिक स्नेह है ?"

सीता ने कहा, "यह सब तो मैं भलीभांति जानती हूं और इसीलिए आजतक जी सकी हूं।"

वाल्मीकि बोले, "तो उस स्नेह के निमित्त से भी तुझे इस अवसर का उपयोग करना चाहिए।"

सीता कहने लगीं, "गुरुदेव ! उन्होंने तो इस स्नेह पर कलश ही चढ़ा दिया है !"

वाल्मीकि ने पूछा, "कैसे ?"

सीता ने सहज आनंदित स्वर में कहा, "ये लड़के कह रहे थे कि राम-चंद्र ने सारी यज्ञ-शालाओं में दर्भ की बनी मेरी मूर्तियां बैठा दी हैं। ऋत्विजों ने दूसरी रानी के लिए बहुत ही आग्रह किया, पर रामचंद्र टस-से-मस नहीं हुए। इस कारण यजमान-पत्नी के रूप में दर्भ की मेरी मूर्तियां बनवानी पड़ीं।"

वाल्मीकि बोले, "कैसी भी हों, पर हैं तो रामचंद्र ! उनके हृदय से तू हटी नहीं है।"

सीता ने कहा, "इसीलिए अब मैं वहां जाना नहीं चाहती। उनके हृदय के इस भाव को जान लेने के बाद मेरा हृदय तृप्त हो चुका है और अब लव-कुश की भी चिंता कम हो गई है। आजतक मैं उन दोनों के साथ ममता की डोर से बंधी थी; किंतु अब वे सयाने हो चुके हैं और महाराज

के दरबार में उनका प्रवेश भी हो गया है, इस कारण मेरी वह डोर भी ढीली हुई है। अब तो एक ही प्रतीक्षा है—मृत्यु की।"

वाल्मीकि बोले, "बेटी ! ऐसी बात मत कर। आज तो तुझे मेरे साथ चलना ही है। चल, तैयार हो जा। समय हो रहा है।"

सीता ने प्रणाम करते हुए कहा, "गुरुदेव ! मुझे ले चलने का आग्रह मत कीजिए। मैं अपनी पवित्रता किस प्रकार सिद्ध कर पाऊंगी ? मैं नहीं जानती कि पवित्रता-जैसी वस्तुएं ऐसी सभाओं में किस प्रकार सिद्ध होती हैं ? क्या सीता इसीलिए जन्मी है कि वह दूसरों के सामने अपनी पवित्रता सिद्ध किया करे ? प्रभो ! कई बार मन-ही-मन इन लोगों पर गुस्सा हो आता है; पर आज तो गुस्सा करने की भी इच्छा नहीं होती। पवित्रता-अपवित्रता के इस झंझट में मुझे मत डालिए।"

वाल्मीकि खड़े होते-होते बोले, "सीता ! यह संभव नहीं। तुझे मेरे साथ चलना ही होगा। तैयार हो जा और लव-कुश को भी ले आ, जिससे हम चल पड़ें।"

सीता प्रणाम करके तैयार होने गईं और कुछ ही देर बाद सीता, लव, कुश, वाल्मीकि और उनके कुछेक शिष्य यज्ञशाला की ओर रवाना हुए।

... ...

यज्ञशाला के रंग-मंडप में सब अपने-अपने स्थान पर बैठ गए। आगे की पहली पंक्ति में ठीक बीचों-बीच रामचंद्र का सोने का सिंहासन था। उसके दोनों ओर लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान आदि के आसन थे। एक ऊंचे आसन पर वसिष्ठ और अरुंधती के बैठने की व्यवस्था थी। रंग-मंडप के एक ओर ऋषियों, मुनियों, यज्ञों, किन्नरों आदि की बैठकें थीं। दूसरी ओर वानर, ऋक्ष और राक्षस आकर बैठ चुके थे। एक ओर कोशल के ग्रामों से आए लोग बैठे थे और दूसरी ओर अयोध्या के नागरिक बैठे थे। अयोध्या के मंत्रियों, पुरोहितों और अमात्यों के लिए अलग व्यवस्था थी।

रंगभूमि पर कुछ आसन और कुछ वाद्य व्यवस्थापूर्वक रखे हुए थे। सब श्रोताओं के आ जाने पर महाराज रामचंद्र अपने भाइयों के साथ मंडप में आए और आसन पर बैठे।

सबकी आंखें रंगभूमि पर केंद्रित हो गईं। उसी समय ऋषि वाल्मीकि वहां पहुंचे। उनके पीछे सीता थीं। सीता ने श्वेत वस्त्र पहने थे। उनके सिर के बाल खुले थे। उनकी आंखें पृथ्वी पर टिकी थीं। सीता के पीछे लव-कुश धीर गति से आ रहे थे।

वाल्मीकि ने रंगभूमि पर आकर कहना शुरू किया, "महाराज रामचंद्र ! इस सीता को मैं अपने साथ लाया हूं। यदि आप मानते हों कि वाल्मीकि की वाणी सत्य है, तो मैं कहता हूं कि यह सीता पवित्र है ! पवित्र है !! पवित्र है !!! इसके मन की किसी गहराई में भी अपवित्रता का स्पर्श नहीं हो पाया है।"

राम बोले, "भगवन् ! देवी स्वयं अपनी पवित्रता सिद्ध करे और अयोध्या की प्रजा उसे स्वीकार करे।"

भरी सभा में कहे गए इन शब्दों से सीता को बिजली का-सा धक्का लगा। उन्होंने अपना मुंह सहज ऊपर उठाया और मानो सारी दुनिया को सुना रही हों, इस तरह कहना शुरू किया, "हे वसुंधरे ! मेरी पवित्रता का प्रमाण मेरी माता के अतिरिक्त और कौन दे सकता है ? हे पृथ्वी-माता ! यदि सीता मन, वचन और कर्म से पवित्र रही हो, तो तू मुझे अपने उदर में स्थान दे !"

सीता के मुंह से ये शब्द निकले कि जोर की आवाज के साथ धरती फट गई, अंदर से एक बड़ा सिंहासन बाहर आया और वसुंधरा देवी सीता को अपनी गोद में बैठाकर तुरंत अदृश्य हो गईं ! सभा चकित-सी देखती रह गई।

जब सभा में बैठे लोग इस आघात के प्रभाव से मुक्त हुए, तो वे एक-दूसरे के सामने देखने लगे। सीता के अदृश्य हो जाने से रामचंद्र को भी भारी आघात पहुंचा, किंतु उन्होंने अपनी स्वस्थता बनाये रखी। लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आदि सब रोने लगे। लव और कुश जुड़ी हुई धरती को एकटक देखने लगे। ऋषि-मुनियों के आश्चर्य का तो पार ही न रहा। अयोध्या के लोग यह दृश्य देखकर भौंचक्के रह गए।

ठीक इसी समय वसिष्ठ की बगल में बैठी अरुंधती रंगभूमि पर आईं और मूढ़ बनी लक्ष-लक्ष जनता को संबोधित करके कहने लगीं, "सभासदो !

सुनो ! आप अयोध्यावासियों ने सीता की पवित्रता पर शंका की। इसी कारण राम ने सीता का त्याग किया। आज फिरआपने उससे पवित्रता का प्रमाण मांगा, सो प्रमाण देकर सीता ने अपनी मां की गोद खोज ली। अब तो आपको संतोष हुआ न ?

"मैं अयोध्या के कुलगुरु की अर्धांगिनी हूं, इस नाते आपको दो खरी बातें कहने का मुझे अधिकार है। संसार की स्त्रियों की समस्त पवित्रता को इकट्ठा करके ही ब्रह्मा ने सीता की रचना की थी। अग्नि, वायु, जल आदि तत्वों को पवित्र बनना हो, तो उन्हें सीता के पास आना पड़े, ऐसी सीता की पवित्रता थी। उससे पवित्रता की अपेक्षा रखनेवाले आप कौन ? आपका राम कौन ? कौशलवासियो ! जबसे आपने सीता का त्याग किया, तभी से उस त्याग के विरोध में मैंने संकल्प किया था कि मैं सीता-विहीन अयोध्या में पैर नहीं रखूंगी। मैंने तो इन वसिष्ठ को भी इस अश्वमेध में आने से रोका था, परंतु आज वे मुझे अपने साथ ले ही आए, क्योंकि हमने यह सोचा था कि आज वाल्मीकि सीता को अपने साथ लायंगे और परित्यक्ता मैथिली आज फिर अयोध्या की महारानी बनेगी।

"मैं मानती हूं कि आज आपने सीता का जो अपमान किया है, वह तो संसार की समूची स्त्री-जाति का अपमान है। कौशल के पुरुषो ! हम स्त्रियां पवित्रता का जो पालन करती हैं, वह तो अपने अंतर के किसी ईश्वरी संकेत को ध्यान में रखकर करती हैं। हम अपने जीवन में जो भी आत्मसमर्पण करती हैं, सो उस गूढ़ प्रेरणा के कारण करती हैं, जिसे ईश्वर ने हमारे अंदर रखा है। यदि हम ऐसी पवित्रता से रहित अथवा आत्मसमर्पण से रहित जीवन जीयें तो हम संसार की योग माया न रह जायं और यह दुनिया मनुष्यों के रहने योग्य न रह जाय।

"किंतु आप पुरुष हमें अपनी गुड़िया समझकर जब जी में आए तभी हमसे हमारी पवित्रता का अथवा आत्मसमर्पण का प्रमाण मांगें और आपके जड़ हृदय उसे परख न पायें, तो आप हमें जहां चाहें वहां धकेल दें, यह कैसे होगा ? समूचे संसार की पीड़ित स्त्रियों के आंसुओं, निःश्वासों, विलापों और संतापों को इकट्ठा करके ब्रह्मा ने उनमें से सीता की सृष्टि की थी। उसके जीवन में आंसू और निःश्वास के अतिरिक्त आपने और

क्या देखा ? अपने हृदय की गरम-गरम भाप का तो उस बेचारी ने आपको स्पर्श तक नहीं होने दिया ! किंतु इसका मतलब यह न समझिए कि वह भाप थी ही नहीं। वह भाप आज तो आकाश में फैल गई है, पर समय आने पर वही इकट्ठी होकर आप पुरुषों पर बरस पड़ेगी।

"अभागे अयोध्यावासियो ! यह सीता आपके भाग्य में हो नहीं सकती। आपके आंगन में तो कैकेयी ही शोभा देती है।

"रामचंद्र ! मुझे तो लगता है कि इस मामले में आप भी भूले हैं। राजधर्म का आपका उच्च आदर्श इस खारी जमीन में रसहीन बनकर जल जायगा। इस आदर्श को तो स्नेह-सिंचन की आवश्यकता है। इसे तो कोमलता और रसज्ञता की पुष्टि चाहिए। कृतघ्न अयोध्या में ये सुलभ नहीं हुए, इस कारण आपका आदर्श पक-पकाकर भी कठोर ही बना रहा।

"ऋषि-मुनियो ! सीता तो गई ! हमें क्या पता है कि आजतक ऐसी कितनी सीताएं चली गई हैं ? किंतु सीता के जाने का बोझ राम के सिर पर है, अयोध्या के सिर पर है और उससे भी अधिक आप सबके सिर पर है। सारा संसार संस्कृति के और धर्म के पाठ सीखने के लिए आपके चरणों में बैठता है। जीवन के ऊंचे मूल्यांकनों की परख के लिए सारा संसार आपके आश्रमों की ओर निगाह लगाये रहता है। यदि सारे संसार की स्त्रियों के प्रति हम अपना यही रुख बनाये रहे, तो फिर हमें भी उसके परिणाम भुगतने को तैयार रहना होगा ! हमें जांचना होगा कि हमारे आश्रम भी मानवता की दृष्टि से कितने पिछड़े हुए हैं और मानवता की इस कमी को हमें अपने बसभर पूरा करना होगा। यदि हम समय रहते नहीं चेतेंगे, तो संसार में विद्यमान ईश्वरी शक्तियां जब हम अबलाओं की आहों से जागेंगी और बेकाबू बनेंगी, तो फिर उनके आगे आपका कोई उपाय चलेगा नहीं। उस समय तो संसार की मूक स्त्रियां चंडियां बनेंगी, संसार की अबलाएं सबलाएं बनेंगी और पवित्रता, आत्मसमर्पण आदि बातों को क्षणभर के लिए ठोकर मारकर वे समूची पुरुष-जाति पर टूट पड़ेंगी। यदि इस परिणाम को रोकना हो और विवेकपूर्वक संसार के स्वास्थ्य की रक्षा करनी हो, तो स्त्री-जाति के प्रति मानवतापूर्ण व्यवहार करना सीखो; उनकी पवित्रता, समर्पण आदि का सम्मान करो और उन्हें

अपने साथ ही जीवन में जोड़कर संसार में सुखी बनो !"

इतना कहकर अरुंधती रंगभूमि पर से नीचे उतर गईं और रामचंद्र की आज्ञा लेकर आश्रम की ओर चली गईं।

सारी सभा बिखरने लगी। वाल्मीकि लव-कुश को लेकर रामचंद्र के पास पहुंचे और दोनों कुमारों को उनको सौंप दिया।

राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, लव-कुश सभी राजमहल में गए।

: २७ :

महाप्रस्थान

सीता ने वसुंधरा की गोद खोज ली ! लक्ष्मण ने हँसते-हँसते सरयू के जल में समाधि ले ली। रामचंद्र ने राक्षसों का संहार करके लंका में विभीषण का राज्य स्थापित किया। कोशल की प्रजा ने वर्षों तक सुराज्य देखा नहीं था, सो रामचंद्र के समान प्रजा-सेवक ने उसे सौभाग्यशाली बना दिया। भारतवर्ष के आश्रम उजड़ने लगे थे, वे फिर से फूलने-फलने लगे। संस्कृति का जो स्रोत लुप्तप्राय-सा हो गया था, वह पुनः स्वच्छ बनकर बहने लगा। निषाद, वानर, ऋक्ष आदि हीन मानी जानेवाली जातियां आर्यों के संपर्क में आई और अपनी-अपनी शक्ति प्रकट करने लगीं।

इनमें और ऐसे अनेकानेक संसार-हित के कार्यों में रामचंद्र का जीवन व्यतीत हुआ किंतु अब उनका भी काल समीप आ गया। उन्होंने अनुभव किया कि उनका कर्त्तव्य पूरा हुआ है। रामचंद्र ने लव-कुश को कोशल-प्रदेश का गद्दीपति बनाया; भरत, शत्रुघ्न और लक्ष्मण के पुत्रों को भिन्न-भिन्न देशों के राज्य सौंपे; अयोध्या के लोगों के सुख के लिए जितना संभव हो सका, उतना सब उन्होंने किया और फिर अपनी माया समेट लेने का निश्चय कर लिया।

उन्होंने विभीषण को राक्षसों के साथ बुलाया। सुग्रीव को वानरों के

साथ बुलाया। अपने आठों मंत्रियों को और कुलगुरु वसिष्ठ को भी बुलाया। अयोध्या की प्रजा तो वहीं थी।

इन सबकी उपस्थिति में रामचंद्र ने घोषणा की, "भगवन् ! अब स्वधाम जाने का मेरा समय आ गया है। अब मेरा जीवन-कार्य पूरा हुआ प्रतीत होता है। मेरी जिजीविषा बहुत क्षीण हो चुकी है। अब जीवन में कोई स्वाद नहीं रहा, अत: मुझे महाप्रस्थान के लिए अनुमति दीजिए।"

राम के ये वचन सुनकर सब चकित हो गए।

भरत बोले, "महाराज ! आपने हमारा कुछ विचार किया है ?"

राम ने कहा, "मेरे साथ चलना चाहो, तो तुम भी चल सकते हो।"

विभीषण ने पूछा, "और हम ?"

रामचंद्र ने कहा, "तुम नहीं। तुम्हें लंका में रहना है और राज्य करना है। तुम्हारे लिए यह मेरा अंतिम आदेश है।"

विभीषण ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "जैसी आपकी आज्ञा !"

सुग्रीव बोले, "महाराज ! मैं तो अंगद को किष्किंधा की गद्दी पर बैठाकर ही आया हूं, इसलिए मैं तो आपके साथ ही चलूंगा।"

रामचंद्र ने कहा, "अच्छा, ठीक है।"

हनुमान ने प्रणाम करके पूछा, "महाराज ! मेरे लिए क्या आज्ञा है ?"

रामचंद्र बोले, "तुम्हें पीछे रहना है। इस लोक में तुम्हारे कल्याण-मय जीवन की बड़ी आवश्यकता है। तुम्हारा मन मुझमें लीन हो चुका है, इसलिए तुम यहां रहते हुए भी निरंतर मेरे साथ ही बने रहोगे।"

हनुमान ने आज्ञा शिरोधार्य करते हुए कहा, "जैसी प्रभु की आज्ञा !"

रामचंद्र ने सबको सूचित किया, "बचे हुओं में से जिन-जिन को मेरे साथ चलना हो, वे चल सकते हैं। आप सब मेरे हैं। आप मेरे साथ रहना चाहें, तो मैं मना कैसे कर सकता हूं ?"

फिर बोले, "गुरुदेव ! विवाह के क्षण से लेकर आज तक मैं जिस स्नेहाग्नि में होम करता रहा हूं, महाप्रस्थान के समय उस स्नेहाग्नि को अग्रभाग में रखिए। उस स्नेहाग्नि को अपनी छाती पर रखकर मैं जल-समाधि लूंगा।"

... ...

दूसरे दिन प्रातः महाप्रस्थान आरंभ हुआ।

आगे-आगे अग्निकुंडों की अग्नियों को लेकर ब्राह्मण चल रहे थे। ब्राह्मणों के पीछे रामचंद्र, भरत, शत्रुघ्न, सुग्रीव आदि चल रहे थे। उनके पीछे वानर, ऋक्ष, राक्षस कूद-फांद करते हुए चले आ रहे थे। उनके पीछे अयोध्या की प्रजा चली आ रही थी। सब आनंद-मग्न थे। सब मरणाभिमुख थे। सब दिव्य लोक की आशा लिए चल रहे थे। सबके मन में महाराज रामचंद्र के साथ-साथ सुख भोगने की लालसा थी।

मंडली सरयू के किनारे पहुंची। रामचंद्र ने पवित्र जल का आचमन किया। सरयू को नमस्कार किया। गुरु वसिष्ठ के चरणों में अपना मस्तक रखा और फिर जल-धारा में प्रवेश किया। रामचंद्र के शस्त्र, अस्त्र, बाण, तलवार, तरकश सभी रामचंद्र के साथ सरयू में लुप्त हो गए और कुछ ही देर में समूची मंडली अदृश्य हो गई।

अयोध्या वर्षों तक सूनी बनी रही।□

सीता

: १ :

वाल्मीकि के आश्रम में

तमसा नदी के तट पर वाल्मीकि ऋषि का आश्रम था। जब वाल्मीकि ने इस भूमि पर तप किया था, तब उनकी देह को घेर कर दीमकों का एक भीटा खड़ा हो गया था और माथे की जटा में पक्षियों ने घोंसले बना लिये थे।

तमसा का मीठा और निर्मल जल, दोनों किनारों पर फैला हुआ रेत का विशाल मैदान, जल में क्रीड़ा करनेवाले हंस, सारस और चक्रवाक, किसी रत्नशीला पर बैठकर अस्त होते हुए सूर्य को अर्घ्य देनेवाला कोई तपस्वी कलकल नाद के साथ बहते नदी के प्रवाह से होम के लिए पानी भरनेवाली कोई ऋषि-कन्या, तमसा माता की गोद में लोटकर खड़ा कोई ऋषिकुमार, प्रवाह के सामने खड़े होकर दूर-दूर नदी के मूल की ओर दृष्टिपात-सा करनेवाला कोई कवि, तमसा की रेत में धीमे-धीमे पैदल चलते और गुरुदक्षिणा देने के बाद गृहस्थ-जीवन के सपने देखते कोई दो-चार शिष्य और दूर-दूर कहीं, किसी छोटे से कगार की आड़ में बैठकर दो-चार गरम आंसू बहाती दुनिया के दुःखों से दग्ध कोई अबला—ऐसे अपने न जाने कितने भव्य और मनोहर काव्यों से आश्रम के पैर पखारती हुई माता तमसा बहती जा रही थी।

आश्रम की एक पर्णकुटी में सीता रहती थीं। इसी पर्णकुटी में लव-कुश का जन्म हुआ था। इस छप्पर की छाया में ही सीता ने उन्हें पाल-पोस कर बड़ा किया था। बरसों से एक वृद्ध तापसी इस पर्णकुटी में रहती थी।

आश्रम के लोग उन्हें 'माताजी' कहते। पर्णकुटी के बांस माताजी ने स्वयं अपने जवान हाथों से काटे थे; पर्णकुटी का छप्पर माताजी ने स्वयं छाया था। आज भी जब दूसरे-तीसरे बरस छप्पर बदलना होता है, तो समझिये, माताजी कमर कसकर तैयार रहती हैं।

माताजी ने संसार नहीं बसाया था। आश्रम की न जाने कितनी ऋषिकन्याएं वेद-वेदांत में पारंगत हो चुकी थीं, किंतु माताजी के हृदय में ये सब शास्त्र कभी अंकित नही हो सके। उनकी मूक तपश्चर्या ने, सजीव श्रद्धा ने और अनुकूल बुद्धि से सेये गये वाल्मीकि के समान ऋषि के सत्संग ने, उनको सहज सूझ दी थी। माताजी प्रायः कहा करतीं, "मैं शास्त्र क्या जानूं ? मैं तो ऐसी पर्णकुटिया बनाना जानती हूं; गायों और हरिणों को घास डालना जानती हूं; पक्षियों को दाना-चुगा देना जानती हूं; वाल्मीकि के आंगन को झाड़-बुहारकर साफ रखना जानती हूं। यदि इन पेड़ों के पास या इन पशु-पक्षियों के पास कोई शास्त्र है, तो वह मुझमें प्रकट हो जायेगा, बाकी तो सब शास्त्र-ही-शास्त्र हैं।"

: २ :

अंतर्व्यथा

रात के कोई बारह बजे होंगे। चैत का चंद्रमा ढल चुका था। आश्रम में सर्वत्र शांति थी। माताजी अचानक अपने बिछौने में उठकर बैठ गईं। देखा, तो पास का बिछौना खाली पड़ा था।

"सीता, सीता ! तू कहां है ?" माताजी पुकार उठीं। और जब कोई जवाब न मिला, तो हाथ में लाठी लेकर नदी की ओर चल पड़ीं। तमसा की गहन जलराशि अविरल गति से बही चली जा रही थी। दूर पर एक जगह मनुष्य की एक आकृति दिखाई पड़ी। माताजी ने वहां पहुंचकर आकृति की पीठ पर हाथ रखा और कहा, "सीता, सीता ! क्या वाल्मीकि

और कुश तुझे मेरे हवाले इसीलिए कर गये हैं ? रोज तमसा माता की गोद में बैठकर तू अपना दुःख ही रोती रहेगी ? तुम संसारियों से तो मैं हारी, बाबा !"

सीता ने जवाब दिया, "माताजी ! यह सीता अपना दुखड़ा रोने को ही जन्मी है। मैं तो परमेश्वर से कहती हूं कि और भी कुछ बचा रह गया हो, तो पूरा कर ले। मुझ जैसी फिर उसे कहां मिलेगी ? मुझे बरजती हो, तो इस सबके सिरजनहार को भी तो बरजो !"

माताजी ने अपनी लाठी रेत में पटक दी और सीता के सिर पर हाथ रखकर कहने लगीं, "सीता ! जब कुश जाने लगा, तो तूने उससे कहा था, 'माताजी मुझे संभाल लेंगी।' पर देखती हूं, तू तो मेरे माथे पर कलंक का टीका लगाना चाहती है ! हम सबको भय है कि तू इस नदी को और साथ ही इस आश्रम को भी हत्यारा बनायेगी। बेटी आत्महत्या करके इस उमर में मेरा जन्म मत बिगाड़ना !"

बिखरे हुए बालों को ठीक करती हुई सीता बोलीं, "माताजी ! आप ऐसा भय क्यों रखती हैं ? आत्महत्या ही करनी होती, तो लंका की सीमा में ही न कर लेती ? माताजी ! आप नहीं जानतीं। रावण की मृत्यु के समाचार सुनते ही मैं तो रामचन्द्र का मुंह देखने के लिए अधीर भाव से दौड़ पड़ी। मेरी देह मलीन थी, मेरे वस्त्र मलीन थे, मेरा मस्तक सूना था, मेरी आंखें रूखी थीं, मेरे बाल बिखरे हुए थे। लेकिन इन बेचारों की क्या ताब कि ये मेरे और राम के बीच बाधक बनें ? मैं तो दौड़ी, किंतु हाय, विभीषण-जैसों ने भी उस समय मुझे स्नान कर लेने को कहा ! जिस सीता ने इतना लंबा वियोग सहा था, जिस सीता ने राक्षसियों के बीच रहकर इतना त्रास सहन किया था, जो सीता राम से मिलने के लिए इतनी उत्कंठित थी, वही सीता बिना स्नान किये रामचंद्र के दर्शन तक न कर सके, तो उस सीता के जीने में सार क्या था ? फिर भी माताजी ! मैं जीवित रही। वह समय था, जब मैं आत्महत्या कर सकती थी।

"माताजी ! आपने अपनी कोई गृहस्थी नहीं बसाई; इसलिए विवाहिता स्त्री के हृदय की उलझनों को आप नहीं जानतीं। बंदर, भालू, राक्षस, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, इन सबके देखते जब मैं रथ से नीचे उतरकर

रामचंद्र के पास जा रही थी, तब किसी ने कहा, 'सीता ! तुम पवित्र होकर आओ ।' किसने कहा था, सो ठीक याद नहीं ; किंतु किसी ने धीर-गंभीर स्वर से कहा था। मेरे लिए तो यह एक वाक्य ही बस था । मैंने देवर लक्ष्मण से चिता रचवाई और मैं चिता पर चढ़ी भी; किंतु अग्नि ने मुझे छुआ तक नहीं । माताजी ! मैं जनकविदेही की पुत्री, मुझे पवित्र करने-वाला तीनों लोकों में कोई नहीं। कोई दूसरा मुझे पवित्र सिद्ध करे और फिर रामचंद्र मुझे अपनायें, इसमें न पवित्रता का स्वाद है, न जीवन का कोई रस । किंतु माताजी मुझे रामचंद्र का मोह था, इसलिए मैं जीवित कर रही । आत्महत्या करनी होती, तो तभी न कर लेती ?

"माताजी ! आपको पता नहीं । जब लक्ष्मण मुझे उस पेड़ के पास छोड़कर चले गये, तब क्या तमसा माता ने मुझे अपने अंदर आश्रय देने से इनकार किया था ? किंतु तब रघुकुल के बीज की रखवाली करने-वाली मैं पराधीन थी । मैं मन-ही-मन माता बनने की अभिलाषा पोषित कर रही थी । अयोध्या की महारानी ने बियाबान जंगल में भटकते हुए भी जब आत्महत्या न की, तो क्या आज वह आत्महत्या करेगी !

"किंतु फिर भी, माताजी ! मुझे लगता है, मानो मेरा काल मुझको पुकार रहा है ! मैं बराबर अनुभव कर रही हूं कि धरती माता के किसी गहन कक्ष से कोई मुझे पुकार रहा है । फिर भी न जाने क्यों, मेरे राम का मोह मुझे नहीं छोड़ता ।"

माताजी उत्तेजित हो उठीं । बोली, " 'मेरा राम, मेरा राम', कहते तुझे शरम नहीं आती । तुम दुनियादारों में भी एक अजीब पागलपन होता है, और तुम हो कि इसे प्रेम कहते तनिक भी नहीं झिझकती । मैं तो इसे निरी मूर्खता समझती हूं । मेरे-जैसी तो फिर कभी मुंह से राम का नाम ही न ले। यह तो तुम्हीं हो कि पगली की तरह 'राम, राम' रटा करती हो ! इतने दिनों तक आश्रम की खुली हवा में रहने के बाद भी शहरी जीवन का यह पागलपन दूर नहीं हुआ, क्यों ?"

सीता बोलीं, "माताजी ! ऐसा मत कहिये । यह न समझिये कि वाल्मीकि का यह आश्रम ही एक आश्रम है । मेरे पिताजी मिथिला की राजगद्दी पर विराजते हैं, किंतु वहां भी एक आश्रम ही है । यह कैसे हो

सकता है कि लंगोटी पहनकर जंगल में बैठनेवाले आदमी की जगह आश्रम कहलाये, और व्यवहार के सादे वस्त्र पहनकर जीवन बितानेवाले का स्थान आश्रम न कहा जाये ! माताजी ! मिथिला की हवा यहां की हवा के समान ही खुली है। अयोध्या की हवा को भी रामचंद्र ने इतना ही पवित्र रखा है।

"किंतु आपने रामचंद्र को देखा जो नहीं है, इसीलिए आप ऐसा कहती हैं। कितनी मनोहर उनकी मूर्त्ति है ! कैसी भावभरी उनकी आंखें ! कैसा उनका सौजन्य ! उनकी जीभ से तो मानो फूल झड़ते हैं ! माताजी ! आप इसे कोरी बकवास समझेंगी। किंतु एक बात कहूं ! मैं छोटी थी। हम जनस्थान में रहते थे। आप शायद नहीं जानतीं कि जवान पत्नी को अपने लाड़ले पति पर गुस्सा होने की भी इच्छा हो आती है। एक बार मुझे पर्णकुटी में सोती छोड़कर राम बाहर चले गये। जागकर देखा, तो राम दिखाई नहीं पड़े। बस, मैंने मन-ही-मन निश्चय किया कि अब की रामचंद्र मिलें, तो मैं उनसे रूठ जाऊंगी और मनाने पर भी नहीं मानूंगी। मैं यह सोच ही रही थी कि इतने में मेरे मोर को नचाते हुए रामचंद्र मुझे आंगन में ही दिखाई पड़ गये, और उन्हें देखते ही मेरा निश्चय डिग गया ! मैं पगली तुरंत उनके पास दौड़ी चली गई। ऐसा तो कई बार हुआ होगा। माताजी ! अवश्य उनके हृदय में कोई अद्भुत वशीकरण है। आप उन्हें देखें, तो आपको अपना जीवन धन्य प्रतीत हो।"

माताजी बोलीं, "मैंने तो जबसे इन वाल्मीकि को देखा है, तभी से अपना जीवन सफल माना है। इस पर, जब तेरे लव-कुश को देखती हूं, तो हृदय में एक गहरी शीतलता अनुभव करती हूं। किंतु सीता ! वैसे, तेरे रामचंद्र कितने ही अच्छे क्यों न हों, उन्हें देखकर मेरा तो मन ही बिगड़ेगा, क्योंकि उन्होंने तुझे निकाल बाहर किया है। चल, अब आश्रम में चल; अभी तो आधी रात बाकी पड़ी है।"

सीता ने कहा, "माताजी ! किंतु आज रामचंद्र का जन्म-दिन है।"

माताजी से न रहा गया। बोलीं, "उसका जन्म-दिन है, तो हो। मेरी सीता को उससे क्या ? तुझे यहां आये चौदह वर्ष हो गये। इस बीच राम के चौदह जन्म-दिन तो पड़े ही होंगे। राम ने कभी एक दिन भी ऐसे समय

तुझे याद किया है ? एक दिन भी उसने सोचा है कि सीता का पता तो लगाऊं ? एक दिन भी किसी ने मुड़कर तेरी तरफ देखा है ? मैं तुझसे दो साल बड़ी हूं। इसलिए कुछ तो समझती ही हूं।"

सीता ने करुण स्वर से कहा, "माताजी ! ऐसा न कहिए। मेरे दिल में जलती आग पर घी मत डालिए। माताजी ! जिन दिनों हम पंचवटी में रहते थे, आज का दिन हमारे लिए बड़े उत्सव का दिन होता था। रामचंद्र वन से भांति-भांति के फूल लाते और अपने हाथों मेरी वेणी में गूंथते; लक्ष्मण हमारी पर्णकुटी को नये रंग-बिरंगे तोरणों से सजाते; हमारे लिए बिलकुल नये पत्तों की शय्या तैयार करते; और हम तीनों गोदावरी के जल में कल्लोल करते हुए नहाते। किंतु दैव से हमारा वह सुख सहा नहीं गया। माताजी ! आज अयोध्या के राजमहल की अटारी से मेरे राम मुझे पुकार रहे हैं। सुनिए, यही है उनकी मेघ-सी धीर-गंभीर आवाज।"

माताजी कुछ चिढ़कर बोलीं, "तेरा राम तुझे पुकारता होगा, किंतु मेरे पास सीता के कान कहां हैं, जो मैं सुनूं ? आश्रम की सूखी हवा में रह-रहकर हमारी चमड़ी इतनी कड़ी हो जाती है कि इस तरह की बातें हम पर कम ही असर करती हैं। सीता ! उठ, अब हम आश्रम चलें।"

: ३ :

विवाह की स्मृति

सीता ने माताजी का हाथ पकड़कर उन्हें नीचे बैठाया और कहा, "माताजी ! मुझे नहीं लगता कि मैं फिर चैत की नवमी का चंद्रमा देख सकूंगी। कहते हैं, कुछ पक्षी ऐसे होते हैं, जो मरने से पहले मृत्यु का गीत गाते हैं। किसी ईश्वरी संकेत के कारण यह मृत्यु का गीत उनके कंठ से फूट निकलता है और इसे गाकर ही वे जीवन में तृप्ति का अनुभव करते हैं। माताजी ! आज मेरे मन में हमारे जीवन की अनेक बातें उमड़ने लगी हैं।

मैं स्वयं नहीं जानती कि आज ये बातें क्यों इस तरह उमड़ रही हैं। माताजी, पहले भी एक बार जब ऐसा हुआ था, तो बड़ के पास पड़े उस पत्थर पर बैठकर मैंने अपने हृदय का भार हलका किया था। क्या आज अपनी इस दुःखिया बेटी की दुःखगाथा आप नहीं सुनेंगी ? बैठिए, बैठिए, जरा नीचे बैठिए। आपको भी हमारे गृह-जीवन के सुख-दुःखों का कुछ ज्ञान हो जायगा। माताजी ! मैं पृथ्वी की पुत्री हूं। हम सब मानवी धरतीमाता के ही बालक हैं न ? आज मैं अपने जीवन के किनारे बैठी हूं। उस पार से कोई मुझे पुकार-सा रहा है। अब मेरे लव-कुश भी मुझे अधिक समय तक बांधकर नहीं रख सकते। माताजी ! कहां मेरे राम और कहां मैं ? जब दुष्ट रावण मुझे ले गया, तो मेरे लिए हृदय-विदारक रुदन करनेवाले और दक्षिण के पत्थरों को भी रुलानेवाले राम कभी मुझे इस तरह छोड़ देंगे, यह किसने सोचा था ? माताजी ! आज इस घोर दुख में भी हमारे जीवन के जो कुछ चित्र मेरी आंखों के सामने आते हैं, उन्हें आपकी गोद में रखकर मैं अपने जी को थोड़ा ठंडा कर सकूंगी। मां, सुनोगी ?"

माताजी ने कहा, "अच्छा, तो सुना। मैं सुनती हूं। मैं तेरी-जैसी लड़की का दिल दुखा नहीं सकती। तुम्हारी बातें पागलों की-सी ही क्यों न हों, फिर भी तुम प्रभु के प्राणी हो, इसलिए तुम्हारे प्रति मेरा प्रेम कम नहीं होता। अपनी बात कहने से तेरे अंधेरे जीवन में प्रकाश की एक किरण भी फूटेगी, तो मेरे लिए वह बहुत होगा। वैसे तो बेटी सीता ! गुरु कहते थे कि अंधकार भी एक प्रकार का प्रकाश ही है। अच्छा, तो कहो, तुम्हारा विवाह कब हुआ था ?"

सीता ने कहा, "माताजी ! हमारा विवाह तो एक अद्‌भुत वस्तु थी। एक बार हमारे यहां परशुराम आये।"

माताजी कह उठीं, "परशुराम ! तब तो सबकी शामत ही आ गई होगी !"

सीता कहने लगीं, "यह अच्छा था कि परशुराम मेरे पिताजी के मित्र थे। उनके पास शंकर का एक भारी धनुष था। इतना भारी कि एक आदमी के उठाए उठता न था। हम तो उस समय बालक थे। ऋषि मेरे पिताजी के साथ बातचीत कर रहे थे, इतने में मैं वहां पहुंच गई। मैंने धनुष उठाया

और उसका घोड़ा बनाकर मैं उसे बाग में घुमाने लगी। आज भी मैं समझ नहीं पाती हूं कि उतना भारी धनुष मैं कैसे उठा सकी थी। परशुराम ने देखा कि मैं धनुष का घोड़ा बनाये घूम रही हूं। उन्होंने मेरे पिताजी से कहा, 'जनक ! तुम्हारी लड़की के भाग्य में किसी महापुरुष की पत्नी होने का योग है। जो इस धनुष को चढ़ा सके, तुम अपनी सीता का विवाह उसी के साथ करना। इस धनुष को चढ़ाना साधारण आदमी के बस की बात नहीं।' इतना कहकर परशुराम चले गये।"

माताजी ने पूछा, "बस, यों ही चले गए ? किसी का सिर धड़ से अलग न हुआ ? खून की नदी नहीं बही ? एक भी स्त्री का गर्भ नहीं गिरा ? माता की गोद में दूध पीते एक भी बच्चे का सिर नहीं टूटा ? उनके फरसे की धार बोथरी तो नहीं हो गई थी ?"

सीता बोलीं, "माताजी ! मैं तो उन दिनों छोटी थी, इसलिए परशु-राम की उग्रता को क्या जानती ? लेकिन जब उस उग्रता का पता चला, तब तक तो अपने परशु को ऊंचा बांधकर परशुराम के लिए महेंद्र पर्वत पर जाने का समय आ पहुंचा था।

"माताजी! धनुष की बात देश-विदेश में फैल गई। जिस तरह भौंरे फूलों के आसपास मंडराते रहते हैं, उसी तरह संसार में पुरुष स्त्रियों के पीछे चक्कर काटा करते हैं। मुझमें ऐसी क्या चीज थी, इसे मैं आजतक नहीं जान पाई। किंतु देश-विदेश से राजा लोग आने लगे और मेरी मंगनी करने लगे। मेरे पिताजी सबको शंकर का धनुष दिखाते, लेकिन कौन ऐसा मां का जाया था, जो उसे तनिक भी ऊपर उठा सके ? धनुष को चढ़ाने की कोशिश में कुछ घुटनों के बल गिरे, तो कुछ के हाथ छिले; कुछ के मुकुट धूल चाटने लगे, तो कुछ की दाढ़ियां लहू-लुहान हुईं। माताजी, एक बार तो रावण...।"

"सीता ! रुक क्यों गई ?" माताजी ने पूछा।

"कुछ नहीं, योंही। उसका नाम याद आते ही जीभ अटक गई। एक बार तो रावण स्वयं मेरे घर आया और उसने मुझे मांगा। उन दिनों मैं सयानी हो चुकी थी। दरबार में रावण की चर्चा होने लगी। उसे इनकार करने की शक्ति किसी में न थी। यदि उसने धनुष चढ़ा दिया तो ? मैंने

रावण को देखा। ज्वालामुखी पहाड़-सा काला, चमकीला शरीर; छाती फाड़नेवाली विकराल आंखें; भुजायें देखो, तो ऐसी लगें, मानो मांस के गट्ठे हों; एक साथ दस-दस माथों का बोझ उठानेवाली गरदन। और, उस गरदन पर खड़ा हुआ सिर ऐसा लगता था, मानो अभिमान उसमें ठूंस-ठूंस कर भरा हो ! ऐसे उस जमदूती मुंहवाले रावण को देखते ही मैं तो सहम गई ! लेकिन सौभाग्य से रावण धनुष नहीं उठा सका। यही नहीं, बल्कि उठाने की कोशिश में स्वयं ही गिर पड़ा !"

माताजी कह उठीं, "किंतु तेरा राम अभी तक कहीं दिखाई क्यों नहीं देता ?"

सीता ने कहा, "यों तो मेरे राम बहुत दुर्लभ हैं; पर उनका भी समय आ रहा है। माताजी ! फिर तो जैसे समय बीतता गया, मेरे पिताजी की चिंता बढ़ती गई। अगर धनुष को चढ़ानेवाला कोई न मिला, तो क्या होगा ? किंतु उनको परशुराम के वचनों में श्रद्धा थी। इसी बीच दूसरी ओर देश के राजाओं पर कोई सनक सवार हुई और वे सब मेरे निमित्त इकट्ठे होकर मिथिला पर चढ़ आये।"

माताजी ने पूछा, "क्या लड़ाई लड़ने आये ? तुझे ब्याहने के लिए लड़ाई क्यों ?"

सीता बोलीं, "हां, वे लड़ने आए—मेरे हाथ के लिए लड़ने। माताजी ! आप मानेंगी नहीं। दुनिया में स्त्रियों के शिकार के लिए जो भीषण लड़ाइयां हुई हैं, उन सबका जोड़ लगाया जाय, तो वह कोई छोटी चीज न होगी।"

माताजी से न रहा गया। बोलीं, "सच है, बेटी ! कभी-कभी मैं सोचती हूं कि दुनिया की सारी स्त्रियां इकट्ठी होकर पुरुषों से यह क्यों नहीं कह देतीं कि जबतक वे उनको अपना शिकार समझेंगे, तबतक स्त्रियां उनसे कभी ब्याह ही न करेंगी ? फिर देखें, मर्द किसके लिए लड़ते हैं ? मैं जानती हूं कि पुरुष आखिर तो पशु ही हैं; किंतु यदि उनकी पशुता की कोई मर्यादा ही न हो, तो उन्हें अकेले ही सड़ने देना चाहिए। इससे ब्रह्मा की यह सृष्टि समाप्त नहीं हो जायगी। तेरी बातों से मुझे बहुत-कुछ जानने को मिलता है। अच्छा, तो फिर क्या हुआ ?"

सीता बोलीं, "राजाओं की फौजों ने मिथिला को चारों ओर से घेर लिया। नगर के हर दरवाजे पर फौजें तैनात कर दी गईं। बाहर से अन्न और पानी की आमद रोक दी गई। घास-चारे पर कब्जा कर लिया गया और मेरे पिताजी को युद्ध के लिए ललकारा गया।"

माताजी बीच ही में बोल उठीं, "जिन्हें धनुष उठाने में छठी का दूध याद आ गया था, उन राजाओं से लड़ने में क्या सार था ? ऐसे तो न जाने कितने नाम के क्षत्रिय कमर में तलवारें लटकाकर घूमा करते हैं। यह तो बनियों की डींग हुई डींग, क्षत्रिय बच्चों की लड़ाई नहीं !"

सीता ने आगे कहा, "माताजी ! एक ओर लड़ाई की तैयारियां हो रही थीं और मेरे पिताजी किले से बाहर निकलने की सोच रहे थे, तभी दूसरी ओर से हमारे आंगन में विश्वामित्र ऋषि पधारे। उनके साथ राम और लक्ष्मण भी थे। माताजी ! आपने कभी रामचंद्र को देखा है ? भला, कहां देखा होगा ? उस समय की उनकी छवि कामदेव को भी लजानेवाली थी। माथे पर पांच शिखायें, कंधे पर धनुष-बाण, सौम्य मुख-मुद्रा, निर्दोष, तेज-भरी आंखें, मुंह पर ब्रह्मचर्य का ओज। जब चलते थे, तो ऐसा लगता था, मानो कोई मृगराज चला जा रहा हो ! कितनी सुंदर उनकी कमर ! कैसी लचकीली उनकी चाल ! और, उस चाल में कितनी निडरता ! मैंने तो उन्हें दूर से देखा और देखते ही अपने होश-हवास खो बैठी। मेरे हृदय में ऐसे अंकित हो गए, मानो पूर्वजन्म का कोई संबंध हो। आज भी वह छाप मिटती नहीं है, न जन्म-जन्मांतर में कभी मिटेगी।"

माताजी ने सीता को टोकते हुए कहा, "सीता ! बस, जहां राम का नाम आया कि तू बह जाती है। हां, तो फिर विश्वामित्र के आने पर क्या हुआ ?"

सीता बोलीं, "पिताजी ने उनका स्वागत किया, दोनों कुमारों का परिचय पाया और फिर शंकर का धनुष मंगाया। हम सब राज-दरबार में ही थे। लोगों ने धनुष लाकर रक्खा और रामचंद्र ने उसे हाथ लगाया। एक क्षण आंखें मूंदकर ध्यान किया और फिर तो गजराज जिस सरलता से कमल तोड़ता है, उसी सरलता से उन्होंने धनुष को हाथ में लेकर उसके दो टुकड़े कर दिये। माताजी ! सोचिये, उस समय मेरे मन में कैसी उथल-

पुथल मची होगी ? आप तो उसकी कल्पना भी नहीं कर सकतीं। ऐसे अनमोल अवसर की उत्कटता का जिसने अनुभव न किया, उसका जीना किस काम का ! माताजी, हम संसारियों के जीवन में जो थोड़े मीठे सागर पड़े हैं, यह उन्हीं में से एक है। मैं तो मारे हर्ष के पागल हो गई। जो क्षण-भर पहले एक मनोहर क्षत्रिय-कुमार थे, वे अब अनेक रंगों से विभूषित होकर मेरी आंखों के सामने खड़े हो गये।"

माताजी ने बात काटते हुए कहा, "पगली ! गुरु तो कहते थे कि ये सब राग-रंग कामदेव के होते हैं, मनुष्य के अपने नहीं। किंतु जाने दे इस बात को ! तू अपनी बात आगे सुना।"

सीता कहने लगीं, "फिर मेरे पिताजी ने महाराज दशरथ के नाम कुंकुमपत्रिका भेजी।"

माताजी ने कहा, "सीता ! इसका अर्थ तो यह हुआ कि स्वयं ईश्वर ने तुम्हारा ब्याह अपने हाथों रचा।"

सीता बोलीं, "और माताजी ! उस क्षण से लेकर आजतक ईश्वर ने ही हमें एक रक्खा है।"

माताजी फिर गरज उठीं, "एक रक्खा है ? आज तुम दोनों एक कहां हो ? वह अयोध्या के राजमहलों में बैठा हिंडोले की हवा खा रहा है, और तू चौदह साल से उसकी इस संतान को लिये यहां पड़ी है !"

सीता से न रहा गया, "माताजी ? ऐसा न कहिये। आप भी यही सब कहेंगी, तो हमारे दिल को कौन पहचानेगा ? माताजी ! मैं रामचंद्र के हृदय को पहचानती हूं। एक मैं ही जानती हूं कि आज मेरे अभाव में उनका हृदय कितनी पीड़ा पाता होगा, कैसा अनवरत मंथन उसमें चलता होगा ! आप रामचंद्र को साधारण मनुष्य की कसौटी पर मत कसिये। आज तो मैं यहां वाल्मीकि के आश्रम में बैठी हूं, किंतु प्रारब्धयोग से पृथ्वी के दूसरे छोर पर भी बैठी होऊं, तो भी मैं आपको विश्वास दिलाती हूं कि हमारे हृदय एक हैं और एक रहेंगे।"

माताजी तड़प उठीं। तमककर बोलीं, "वह तेरे समान पत्नी को गर्भावस्था में घर से निकाल दे और फिर भी तू मुझसे यह मानने को कहे, और मैं मानूं कि तुम दोनों के हृदय एक हैं, यह तो बहुत बड़ी बात है, सीता !

मैं जानती हूं कि वनवासी अपनी तपश्चर्या के बल से बहुत-कुछ सहने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं; किंतु तुम संसारी लोग अपने अंतर के किस बल से यह सब सह सकते हो, सो मुझे गुरुजी से पूछना पड़ेगा। इस तरह तो आश्रमवासी तपस्वियों की अपेक्षा संसारी तपस्वी श्रेष्ठ प्रतीत होते हैं। अच्छा, तो फिर क्या हुआ ?"

सीता कहने लगीं, "माताजी ! फिर तो मिथिला में हमारे विवाह की धूम शुरू हुई। राजमहलों की रंगाई-पुताई होने लगी। सड़कें और गलियां साफ होने लगीं। ध्वजा फहराने लगीं। तोरण लटकने लगे। गाड़ी-घोड़े सजने लगे। डेरे-तंबू तनने लगे। उस समय मेरे मन में क्या हो रहा था, सो आज ठीक तरह याद नहीं पड़ता। किंतु मैं तो उन दिनों एक बड़ी देवी बन गई थी। मेरी सखियां मुझे रोज नये-नये पानी से नहलातीं; रोज मेरी देह में नये-नये अंगराग लगातीं; मेरी वेणी में रंग-बिरंगे फूल गूंथतीं, रोज मुझे बीच में बिठाकर गीत गातीं, और फिर सब एक होकर मुझे छेड़ती, चिढ़ातीं, सतातीं। माताजी ! आज अपनी सहेलियों की उस छेड़-खानी को याद करती हूं, तो कुछ देर के लिए इच्छा हो जाती है कि इस उमर को उतार फैंकूं, इस मातृत्व को भूल जाऊं, इस पत्नीत्व को भुला दूं; यही नहीं, बल्कि इन सारे वर्षों के समूचे इतिहास को मिटा दूं, और उस समय की जनक-नंदिनी जानकी बन जाऊं, फिर एक बार दर्पण में देखकर सिर के बालों की लटों को ठीक करती हुई मुझको मेरी वे सखियां चिढ़ायें, छेड़ें और मैं कतराती आंखों यह सब देखूं !

"किंतु माताजी, क्या काल के प्रवाह को कोई इस तरह लौटा सका है, मोड़ सका है ? वे दिन तो गये, सो गये !"

माताजी बोलीं, "सीता ! मेरी समझ में नहीं आता कि तुम लोग ब्याह के इस झमेले में आखिर पड़ते क्यों हो ? पहले अच्छे वर की तलाश का झमेला। फिर उसके साथ मेल मिलाने का झमेला! विवाह होने के बाद सास-ससुर का झमेला! और फिर बाल-बच्चों का झमेला! किसी का सिर दुखता है, किसी की आंख दुखती है—इन सब झमेलों को सिर पर लादकर इनमें से सुख का तार खींचने की कला तो तुम गृहस्थाश्रमियों को ही सधी है, बाबा ! आज भी जब तू ये बातें कहती है, तेरे चेहरे पर उन सुखी दिनों

की याद दिखाई पड़ती है। सीता ! मेरा अपना विश्वास तो यह है कि पुरुषों की जात ही कम्बख्त है, इसलिए स्त्री को सताये बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता। इसमें दोष पुरुषों का नहीं, दोष किसी का है, तो ईश्वर का है। ईश्वर ने उन्हें इसी ढंग का बनाया है !"

सीता बोलीं, "माताजी ! जो हो। जिसे आप कम्बख्त कहती हैं—किंतु मेरे राम ऐसे नहीं हैं—उस पुरुष से ब्याह करना और अपना सर्वस्व उसके अर्पण करके स्वयं मिट जाना, इसका भी अपना एक अनोखा आनंद है। स्वयं मैंने तो यह माना और अनुभव किया है कि सच्ची आर्य स्त्री के जीवन की सार्थकता इसी में है।"

: ४ :

विवाह के बाद

माताजी ने कहा, "तुझे तो ऐसा ही लगेगा। इसीलिए तो तू आज अपने राम के लिए बिलखती है और मैं उसके लिए एकाध तीखी बात कह देती हूं, तो तू तिलमिला उठती है। जो तू कहती है, वही गुरुदेव भी कहते हैं, आर्य स्त्रियों की यही धारणा रही है। भावना तो मुझे भी यही प्रिय है। लेकिन जब तेरे समान स्त्री के साथ भी पुरुषों का ऐसा बरताव देखती हूं, तो दिल फटने लगता है और जलन के मारे तेज बातें मुंह से निकल जाती हैं। सीता ! इस ब्याह के साथ तेरे जीवन का एक चित्र समाप्त हुआ। अब तू कौन-सा चित्र लिखेगी ?"

सीता बोलीं, "माताजी हमारा विवाह हुआ, हम अयोध्या पहुंचे, हमने आनंद मनाया, हम घूमे-फिरे, मौज उड़ाई, और फिर आया हमारा वनवास, मैं, रामचंद्र और लक्ष्मण। महाराज दशरथ मुझे बहुत चाहते थे। रामचंद्र को देखकर उनके दिल की कली खिल उठती थी। जब हम वन के लिए रवाना हुए, तो महाराज बिलख-बिलख कर रोने लगे।"

माताजी ने पूछा, "और उस पर भी तुम्हें वनवास का आदेश दिया ? तू कहती है न कि महाराज दशरथ रामचंद्र को बहुत चाहते थे ?"

सीता ने कहा, "हां, इतना चाहने पर भी उन्हें वनवास मिला, क्योंकि प्रभु की ऐसी ही इच्छा थी।" कुछ रुककर सीता आगे कहने लगीं, और जिस तरह रामचंद्र के साथ मेरा विवाह होने में ईश्वर का हाथ था, उसी तरह हमें मिले वनवास में भी मुझे तो ईश्वर का ही हाथ दिखाई देता है।"

माताजी, बोलीं, "हिमालय के जंगलों में आकस्मिक आंधी-तूफान की बातें सुनी हैं। वर्षा के दिनों में गंगा-गोदावरी जैसी महान नदियों में अचानक बाढ़ आने की बात सुनी है। अचानक किसी ज्वालामुखी के फटने और उसमें से निकलनेवाले धधकते लावा के चारों ओर फैल जाने की बातें भी सुनी हैं। यह भी सुना है कि जब किसी अत्याचारी राजा के राज में प्रजा बिगड़ खड़ी होती है, तो बड़े-बड़े उल्कापात हो जाते हैं; किंतु सरयू के शांत जल में यह उपद्रव कैसे खड़ा हो गया ? एक ही रात में युवराज-पद से वनवास कैसे मिल गया ?"

सीता ने कहा, "माताजी ! मेरा सारा जीवन ऐसी ही आकस्मिक घटनाओं से भरा पड़ा है। मुझे मेरे रामचंद्र मिले। मेरे जीवन की वह पहली आकस्मिक घटना थी। युवराज्ञी बनने का सूरज अभी उगा ही था कि वनवास मिला, यह दूसरी घटना हुई। अभी यह सोच ही रही थी कि सुनहले हरिण के चमड़े की चोली पहनकर कैसी लगूंगी, तभी रावण आ पहुंचा और मुझे उठाकर ले गया, यह थी तीसरी घटना। रामचंद्र की आशा छोड़कर अशोकवन में आत्महत्या करने जा रही थी कि इतने में हनुमान आ पहुंचे, यह थी चौथी घटना। मैली-कुचैली मैं अपने रामचंद्र से मिलने दौड़ी, तभी मुझे रोका गया, यह थी पांचवीं घटना। मैं अग्निशय्या पर सोई, किंतु अग्नि ने मुझे जलाया नहीं, यह थी छठी घटना। अयोध्या की महारानी बनी और मन में राजमाता बनने की अभिलाषा लिये थी कि इतने में तमसा माता की रेत में भटकने आ पहुंची, यह थी सातवीं घटना। और भी कोई एकाध घटना भाग्य में लिखी होगी, तो वह घट कर रहेगी और फिर खेल खत्म हो जायगा !"

माताजी गंभीर भाव से बोलीं, "सीता ! तेरा जीवन विलक्षण मालूम होता है, आकस्मिक घटनाओं की एक परंपरा !"

सीता ने कहा, "माताजी ! यह सब आज मेरी समझ में आ रहा है। रामचंद्र का युवराज बनना सृष्टि के तंत्र से मेल नहीं खाता था, जगन्नियंता को यह स्वीकार न था। इन चौदहों ब्रह्मांडों का चक्र किसी ऐसे गूढ़ नियंत्रण के अधीन चलता है, जिसे हम समझ नहीं सकते। जिसे हम आकस्मिक घटना समझते हैं, वह इस गूढ़ नियंत्रण का ही एक अंग है। किंतु हम उसे जानते नहीं, इसलिए लोगों को दोष देने लगते हैं। माताजी ! दैवयोग है।"

माताजी ने कहा, "गुरुजी भी प्राय: यही कहा करते हैं, जो तूने अभी कहा। अच्छा, तो विवाह के बाद तेरे हिस्से वनवास आया, यही न ?"

सीता ने जवाब दिया, "हां, कुछ वर्ष अयोध्या में बिताने के बाद वनगमन का प्रसंग आया। माताजी ! हम संसारी लोग वनवास को दु:ख समझते हैं, किंतु मेरे मन में तो वनवास की अभिलाषा जागी। मैं जानती थी कि वहां अयोध्या के महल नहीं मिलेंगे; मैं जानती थी कि वहां अयोध्या के साफ-सुथरे राजमार्ग नहीं होंगे; मैं जानती थी कि वहां राजमहल में मिलनेवाले भांति-भांति के भोजन नहीं मिलेंगे; मैं जानती थी कि वहां अयोध्या के घोड़े-गाड़ी और पालकियां नहीं होंगी; मैं जानती थी कि वहां राजमहल के दास-दासी नहीं होंगे, किंतु साथ ही मैं यह भी जाने हुए थी कि वहां मेरे रामचंद्र होंगे। माताजी ! एक बात कह दूं। सीता राजमहलों का जीव नहीं। ऐसा लगता है, मानो मेरे भाग्य ही में ये आश्रम ये नदियां, ये पर्णकुटियां, ये पशु-पक्षी और ये तपोवन लिखे हैं। और मुझे इसका कोई दु:ख भी नहीं। मुझे यह भी विश्वास हो गया है कि मैं ऐसे आश्रमों में ही जी सकती हूं। इन जगहों में मेरा हृदय जितना खिलता है आनंद अनुभव करता है, उतना राजमहलों में शायद ही अनुभव करता हो।"

माताजी कह उठीं, "तो फिर तू हम सबको क्यों हैरान करती है ? हमारी तरह तू भी यहां शांति से रह न ?"

सीता बोलीं, "माताजी ! सीता के चोले में 'माताजी' का हृदय नहीं, इसे मैं क्या करूं ? उस दिन रामचंद्र मिथिला आये ही न होते, तो जिस

तरह आप कहती हैं, उस तरह मैं रह लेती। मां ! राम मुझे अपने साथ वन में न ले गये होते, तो जैसे आप कहती हैं, वैसे मैं रह लेती। दस-दस वर्ष तक राम ने तपोवन में मेरे लाड़ न लड़ाये होते, तो मैं आपके बताये ढंग से रह लेती। रावण के द्वारा मेरा हरण होने के बाद रामचंद्र ने अपने करुण विलाप से दक्षिण के पत्थरों को रुलाया न होता, तो जो आप कहती हैं, वह हो सकता था। माताजी ! यह भी क्यों ? अभी-अभी अश्वमेध-यज्ञ की सहचरी के रूप में मेरी मूर्ति न रखकर रामचंद्र ने किसी राजकन्या से ब्याह किया होता, तो भी जो आप कहती हैं, वह मैं कर सकती थी। किंतु माताजी ! जबतक मेरे हृदय में ये सब चीजें भरी पड़ी हैं, तबतक मैं चैन से कैसे रह सकती हूं ? मैं रामचंद्र को भुलाने की बहुत कोशिश करती हूं, किंतु उन्हें भूल नहीं पाती। अपने दिल की दुविधा को शान्त करने का बहुत प्रयत्न करती हूं, किंतु वह शान्त नहीं होती। जीवन की डोर को तोड़ डालने की बहुत कोशिश करती हूं, किंतु वह टूटती नहीं !"

माताजी बोलीं, "अच्छा, तो सीता ! तू अपने वनवास की बात तो सुना।"

सीता कहने लगीं, "माताजी ! आपने तो आश्रम में ही सारा जीवन बिताया है, इस कारण आपके लिए अरण्यवास सहज हो गया है। मैं ठहरी जनक की राजकुमारी और कौशल्या की पुत्रवधू। मिथिला और अयोध्या की राजवैभव से युक्त हवा में मैं पली थी, इसलिए मैं तो वनवास का नाम सुनते ही कांप उठती थी। जंगल के वे ऊबड़-खाबड़ टीले और गड्ढे, पहाड़ों की तराइयों में से हवा के साथ आनेवाली वे सिंहगर्जनाएं, जंगल की वह सरदी और धूप, खाने-पीने का कोई ठिकाना नहीं, कदम-कदम पर राक्षसों का त्रास, एक डग आगे बढ़े नहीं कि कभी इधर से, कभी उधर से, कोई-न-कोई सामने खड़ा है। यह था हमारा वनवास !"

माताजी ने पूछा, "तो फिर तू गई क्यों ? अकेले रामचंद्र को जाने दिया होता !"

सीता बोलीं, "माताजी ! आप भूलती हैं। क्या आप यह मानती हैं कि जनक की पुत्री ने रामचंद्र के हाथ में अपना हाथ अयोध्या के राज-महलों के लिए दिया था ? क्या आप यह मानती हैं कि सीता का विवाह

कौशल्या के पुत्र रामचंद्र के साथ नहीं, बल्कि अयोध्या के राजवैभव के साथ हुआ था ? माताजी, क्या आप यह समझती हैं कि सीता का विवाह अयोध्या के युवराज से हुआ था, रामचंद्र से नहीं ? नहीं, नहीं, माताजी ! सीता तो रामचंद्रदेव से ब्याही गई थी, राम ने सीता का हाथ पकड़ा था। आज राम चाहे अयोध्या की प्रजा के बन गये हों, पर मिथिला के विवाह-मंडप में अग्नि की साक्षी में किया हुआ संकल्प न सीता ने छोड़ा है, न रामचंद्र ने। संसार को जो भी भास होता हो, किंतु सच्चाई यही है।

"माताजी ! वनवास, और सो भी रामचंद्र के समान पति और लक्ष्मण के समान देवर के साथ का वनवास तो किसी भाग्यवान के ही भाग में लिखा होता है। वे पवित्र तपोवन ! वे भव्य अरण्य ! सहस्त्रों शिष्यों के स्वरों से गूंजनेवाले वे आश्रम ! मैं वहुत-से आश्रमों में घूमी फिरी। जिन तपस्वियों के दर्शनों के लिए लोगों को संसार छोड़कर भटकना पड़ता है, उन तपस्वियों की गोद में वैठने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। माताजी ! आपको देखकर आज मुझे माता अनसूया की याद आती है। माता अनसूया ! आपने आर्य स्त्री की जो दीक्षा मुझे दी थी, मैं आज भी उस पर डटी हुई हूं।

"माताजी ! कितनी मनोहर थीं वे नदियां ! कितने सुंदर थे वे पक्षी ! वेचारे निर्दोष हरिण ! वे भव्य पर्वत और भयावने राक्षस ! वीर लक्ष्मण हमारे आगे-आगे चलते, मार्ग के कांटों को दूर हटाते, पेड़ों की डालियां बाधक बनतीं तो उन्हें काट डालते, और हमारा मार्ग सदा साफ रखते। पर्णकुटी इतनी सुंदर बनाते कि मैं क्या कहूं ? लक्ष्मण हमारी शैया तैयार करते, और सारी रात खड़े-खड़े पहरा देते। माताजी ! लक्ष्मण जैसा देवर दुनिया में आजतक किसी ने पैदा नहीं किया।

"माताजी ! राम को मेरी बहुत चिंता रहा करती। एक बार मैं गोदावरी में स्नान करने गई और हंसों के साथ खेलने में उलझ गई। वहां मुझे देर हो गई। रामचंद्र बहुत घबराये। वे मुझे ढूंढ़ने निकले। ज्योंही तट पर मुझे देखा, तनिक आंखें तेज कीं। किंतु मैं क्या जानूं ? मैं तो भोले भाव से आगे बढ़ी और उनसे लिपट गई। बस, सबकुछ वहीं खतम हो गया !

"पंचवटी में हमारी रहने की जगह इतनी अच्छी थी कि मुझे उससे मोह हो गया था। वहां मैंने मोर पाला, हरिण पाले, हाथी पाले, पेड़-पौधों की परवरिश की। यहां तो लव-कुश के काम से मुझे फुरसत ही नहीं मिलती; पर इस दृष्टि से उन दिनों तो मेरे दिल की यह जगह खाली ही थी न ?

"माताजी, आप नाराज न हों। भैया लक्ष्मण नई कोंपलों और सुगन्धित फूलों की शैया करते, और उस शैया में पड़े-पड़े हम न जाने क्या-क्या बातें करते रहते। रात निकल जाती, किंतु हमारी बातें समाप्त न होतीं। आज का यह आश्रमवास मुझे इसलिए अखरता है कि क्रूर दैव ने इस तरह बातें करने का हमारा आनंद भी हमसे छीन लिया! माताजी, उस जनस्थान में मुझे कोई कमी न थी। पवित्र ऋषि-मुनियों का सहवास, वृक्षों, पशु और पक्षियों का बना हमारा छोटा-सा परिवार; फलों-फूलों का स्वादिष्ट आहार और प्रकृति की गोद में स्वेच्छा विहार—मनुष्य को इससे अधिक और क्या चाहिए ? आज भी ये सब तो हैं, किंतु इनमें प्राण पूरनेवाले स्वामी मेरे पास नहीं। मेरे लिए रामचंद्र के बिना यह सब निस्सार है।

"माताजी ! मेरे दस वर्ष इस कल्लोल में बीते, किंतु क्रूर दैव से यह सहा नहीं गया। मुझे भान रहा कि मैं राक्षसों के बीच रहती हूं; मैं भूल गई कि राम-लक्ष्मण ने जनस्थान के हजारों राक्षसों को मौत के घाट उतारा है; मुझे यह ध्यान न रहा कि जब शत्रु बहुत शांत दीखता है, तभी अधिक भय के लिए तैयार रहना चाहिए ; मैं तो आनंद और कल्लोल के आवेग में यह मानने लग गई कि दुनिया में भय अथवा दुःख नाम की कोई वस्तु है ही नहीं !

"माताजी ! आश्रम से कुछ दूर मैंने एक सुनहला हरिण चरता देखा। कितना मनोहर उसका रूप था ! कैसा सुंदर उसका चमड़ा ! मैं चमड़े की चोली क्यों न पहनूं ? मैंने राम से चर्चा की। हम तीनों उस मृग को देखने लगे, और मैंने आग्रह किया कि राम उसे मारकर लायें। राम इसके लिए बहुत तैयार नहीं थे, किंतु मैंने प्रबल हठ किया, इससे राम हारे और मृग को मारने दौड़े। पर वह बहुत कपटी निकला। किसी तरह हाथ ही नहीं

आता था, और आखिर जब हाथ आया, तो 'हे लक्ष्मण !' यों चिल्लाकर मरा।

"पर्णकुटी में आवाज आई। मैं घबराई। लक्ष्मण मेरे पास थे। वे भी घबराये। मैंने लक्ष्मण को राम के पीछे भेजा। जबरदस्ती भेजा। न कहने की बातें कहकर भेजा। आखिर उन्हें जाना पड़ा। वे गये।

"पर्णकुटी में मैं अकेली रह गई। मैं राम-लक्ष्मण की बाट जोहती बैठी। एक ही विचार उस समय मेरे मन को रोके हुए था—हरिण के चमड़े की चोली पहनकर मैं कैसी लगूंगी।

"इतने में पर्णकुटी के पास एक साधु आया—साधु क्या दुष्ट रावण था। वही साधु का वेश रखकर आया था। मैंने उसका आदर किया, बैठने के लिए आसन दिया, पीने के लिए पानी दिया, और ज्योंही फलाहार देने को हुई, रावण अपने सच्चे रूप में प्रकट हो गया। मैंने मिथिला में उसे देखा था, इसलिए तुरंत पहचान गई; किंतु इतने में रावण ने एक हाथ से मेरी चोटी पकड़ी, दूसरे से मेरे दो पैर पकड़े, मुझे रथ में डाला और आकाश-मार्ग से रथ ले दौड़ा।"

माताजी ने कहा, "दुष्ट, बहुत जबरदस्त निकला !"

सीता बोलीं, "माताजी ! यह सब तो मानो पलक मारते हो गया। मैं जानती हूं कि रावण को मरे काफी समय हो चुका है; मैं जानती हूं कि राम ने जनस्थान के सभी राक्षसों का संहार कर डाला है; मैं जानती हूं कि इस समय तमसा के तीर पर आपकी गोद में मैं निर्भय हूं। फिर भी उन प्रसंगों को याद करती हूं, तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं, हृदय में जोर का धक्का लगता है, और मन में यह डर बना रहता है कि कहीं वह पापी फिर से यहां आकर मुझे उठा न ले जाय ! माताजी, आज इतने वर्षों के बाद भी कभी-कभी जब मैं सपने में जनस्थान में घूमती होती हूं, तो वह दुष्ट अचानक मेरी आंखों के सामने आ खड़ा होता है और मैं चौंक उठती हूं।"

माताजी ने पूछा, "तब तो तू खूब रोई-चिल्लाई होगी ?"

सीता ने कहा, "रोई-चिल्लाई ? तमसा माता के तट पर खड़े इस सुंदर पेड़ पर चिड़िया-चिराटे घोंसला बनाकर रहते हों, और कोई बाज घोंसले में से चिड़िया को उठा ले जाये, तो कहिये, चिड़िया कैसा क्रंदन

करेगी ? इस आश्रम में हरिण-हरिणी का कोई जोड़ा हरी-हरी घास चर रहा हो, और पीछे से कोई बाघ आकर हरिणी को ले जाये, तो कहिये, हरिणी कैसा क्रंदन करेगी ? किंतु बाज के लिए चिड़िया के क्रंदन का मूल्य क्या है ? वह तो चिड़िया के घोंसले को छिन्न-भिन्न करने के लिए ही जन्मा है। हरिणी का चीत्कार सुनकर क्या बाघ उस पर अपने नखों का एक भी प्रहार कम करेगा ? उसे तो ऐसा चीत्कार सुनकर दूनी मस्ती चढ़ती है। माताजी ! मेरे-जैसी टिटहरी कितना ही क्रंदन क्यों न करे, सुनेगा कौन ?"

माताजी ने कहा, "रावण ने तो नहीं सुना; किंतु क्या तपोवन में और कोई था ही नहीं ?"

सीता बोलीं, "माताजी ! आपने इन राक्षसों को देखा नहीं है, इसीलिए आप यह प्रश्न पूछ रही हैं। राक्षस तो जीता-जागता यमराज ठहरा। राक्षस को आता देखकर पेड़ कांप उठते हैं। राक्षस को आता देख पशु-पक्षी मारे भय के बुरी तरह चीखने चिल्लाने लगते हैं। राक्षस को आता देख हवा भीषण रूप धारण कर लेती है। राक्षस को आता देख सारा वातावरण भारी बन जाता है। राक्षस को आता देख सीधे-सादे लोग डर के मारे घरों में घुस जाते हैं ! फिर यह तो राक्षसों का राजा ठहरा ! रावण जब चलता था, तो धरती थरथराती थी। जहां रावण की दृष्टि पड़ती थी, वहां दस-दस कोस तक पशु-पक्षी फटकते तक नहीं थे। जहां रावण होता, वहां चारों ओर श्मशान की भयानकता और शांति छा जाती—ऐसा लगता, मानो साक्षात् प्रलय ही समीप आ गया हो ! फिर भी माताजी ! जटायु ने अपना तेज दिखाया। मैं रथ में पड़ी रोती, बिलखती, चिल्लाती जा रही थी। जटायु ने मेरा क्रंदन सुना। उन्होंने रावण को ललकारा, और वे उस पापी से लड़ने को तैयार हो गये। जटायु कितने ही बलवान क्यों न हों, आखिर बूढ़े थे। फिर भी उन्होंने रावण का रथ तोड़ा, खच्चरों का खात्मा किया और रावण को भी अच्छी तरह घायल किया। किंतु अंत में रावण ने जटायु के पंख काट डाले और वह पापी मुझे अपनी बांहों में पकड़कर भागा।

माताजी बोलीं, "सीता, तुझे मैं जिस रूप में जानती हूं, उसका विचार

करती हूं, तो मुझे अचंभा होता है कि तू वहीं तड़पकर मर क्यों नहीं गई !"

सीता ने कहा, "माताजी ! आप बिलकुल सच कहती हैं। आपको तो ठीक, स्वयं मुझको भी यही अचंभा होता है। क्या मुझे अपने प्राण अधिक प्रिय लगे होंगे ? क्या मन की किसी तह में रामचंद्र का मुंह देखने की लालसा रही होगी ? अथवा क्या भय के मारे मुझे कुछ सूझा न होगा ? माताजी ! यह सब विचार भी किसलिए ? मेरे भाग्य में यही सब लिखा होगा, इसीलिए दैव ने मुझे उस रास्ते जाने ही नहीं दिया।"

: ५ :

रावण और उसकी लंका

माताजी बोलीं, "अच्छा, यह तो हुआ। किंतु वह पापी तुझे ले कहां गया ? रावण तो लंका का राजा था न ?"

सीता कहने लगीं, "रावण मुझे लंका ले गया और वहां अशोकवन में रखा।"

माताजी ने पूछा, "सीता ? गुरुजी के मुंह से लंका की बहुत तारीफ सुनी है। लंका के चारों ओर तो सोने का गढ़ है न ?"

सीता ने कहा, "लंका के चारों ओर सागर गरजता है; इसलिए असल में उसके चारों ओर सच्चे मोतियों का गढ़ है। माताजी ! सच कहूं, मैंने विदेह की मिथिला देखी, मैंने कोशल की अयोध्या देखी, और अशोक वन में आंसू ढालते हुए थोड़ी-बहुत लंका भी देखी। विदेह में मेरे पिता के समान योगमूर्ति पैदा होते हैं, अयोध्या में कैकेयी के पेट से भरत पैदा होते है, और लंका में—सोने की उस लंका में—रावण पैदा होता है। माताजी ! आपकी बात बिलकुल सच है। लंका की समृद्धि के सामने सारी दुनिया की समृद्धि कोई चीज नहीं। रावण ने समूचे संसार के शृंगार

उतारकर लंका में एकत्र किये हैं। लंका के आलीशान महल, लंका के रत्नों से जड़े विशाल राजमार्ग, लंका के वे विलासगृह, जहां सारी रात खान-पान और राग-रंग चलते रहते हैं, लंका के वे आरामगृह, जहां मन को मोहित करनेवाले अनेक पुरुष और अनेक मोहिनी स्त्रियां एक-दूसरे को रसपान कराने में लीन हैं। रावण ने अग्नि, वायु आदि देवों को अपना दास बना रखा है, इसलिए लंका की स्त्रियां घर के काम-धंधों की चिंता से मुक्त रहकर अपने मुंह पर निरंतर अंगराग का लेप करती हुई सोने-चांदी के हिंडोलों पर झूलती रहती हैं; लंका के ऐसे ये विलासी घर, सोने-चांदी के किवाड़ोंवाले और रत्नजड़ित मूर्तियोंवाले लंका के देवगृह; घोर तपश्चर्या करनेवाले राक्षसों के अखाड़े; हमेशा कसाईखानों-जैसे दीखनेवाले लंका के सार्वजनिक और निजी रसोई घर; रंग-बिरंगे फूलों से महकनेवाले लंका के फूल-बाजार; रंग-विरंगे रेशमी वस्त्रों में सजकर निकली हुई स्त्रियों से जगमगा उठनेवाले लंका के मेले; लंका के वे जमदूती सूरतवाले योद्धा, जिन्हें देखते ही छाती फट जाय; चौदस-अमावस की काली रात में लंका के चौक में मृत्यु की ताण्डव-क्रीड़ा करनेवाली वे राक्षस कन्याएं, मेरी तरह पकड़ लाई गई वे देव और गंधर्व कन्याएं, जिनके हिये कीं हाय से सारी लंका मानो सुलग-सी रही थी—यह थी रावण की लंका। माताजी ! रावण के सच्चे स्वरूप का अनुमान तो आपको तभी हो सकता है, जब आप रावण को ऐसी लंका के सिंहासन पर बैठा देखें। मैंने रावण को मिथिला में देखा था, मैंने उसे पंचवटी में भी देखा था, किंतु लंका में मैंने उसका जो रूप देखा, वह इन सबसे भिन्न था। बाघ को उसके असल रूप में देखना हो, तो उसकी मांद में जाकर देखना चाहिए।

"माताजी ! रावण वेद का बड़ा अभ्यासी था। मैंने सुना है कि उसने वेद के अर्थ भी किये हैं।"

माताजी चकित होकर बोलीं, "सीता ! यह तू क्या कह रही है ? वेदों का अभ्यासी होकर भी रावण ऐसा पापी रहा ? तब तो उस पापी ने वेदों को भी कलंकित किया !"

सीता कहने लगीं, "माताजी ! इसीलिए तो वह राक्षस कहलाया, वैसे, रावण की देह तो ब्राह्मण की थी। चारों वेद उसे कंठाग्र थे। कहते हैं,

जब वह हिमालय पर तप करने गया, तो उसने अपने तप से समूचे पर्वतराज को डिगा दिया था। मैंने उसके संकल्पबल की बहुत प्रशंसा सुनी है। कहते हैं, एक बार शंकर को प्रसन्न करने के लिए उसने एक हजार कमलों से उनकी पूजा शुरू की। शंकर की मूर्ति के पास अडिग आसन लगाकर वह एक के बाद एक कमल चढ़ाने लगा; एक चढ़ाया, दो चढ़ाये, दस चढ़ाये, सौ चढ़ाये, पांच सौ चढ़ाये, नौ सौ निन्यानबे चढ़ाये; हजारवां कमल मिल ही नहीं रहा था। कोई उसे उठा ले गया था। अब क्या हो? विचार करने का समय तो था नहीं। रावण ने हजारवें कमल की जगह अपना सिर-कमल चढ़ाने का निश्चय किया और ज्योंही सिर उतारने को हुआ, त्योंही भगवान शंकर प्रसन्न हो गये। बोले, 'शाबास बेटा, शाबास! वरदान मांग!' यह था रावण! उसके संकल्प-बल के सामने कैलास तो क्या, समूचा त्रिभुवन डोल उठता था। माताजी! इस दृष्टि से देखा जाये तो मैं भाग्यवान निकली कि उसका संकल्प मुझे डिगा नहीं सका। प्रभु ने मेरी लाज रख ली!"

माताजी बोलीं, "सीता, तू जानती है न कि अपनी दहाड़ से सारे संसार को थर्रानेवाला और गलित गात्र बनानेवाला वनराज एक सुलगती लकड़ी देखते ही पूंछ उठाकर भाग खड़ा होता है?"

सीता ने कहा, "माताजी! इन राक्षसों का बल, इनका पुरुषार्थ, इनकी तपश्चर्या, इनके काम, क्रोध, इनका साहस, सभी कुछ अत्यन्त उग्र होते हैं। कमी केवल इतनी रहती है कि इनमें अन्तःकरण नहीं होता।

"इन राक्षसों के उत्पात से तो भगवान् ही बचाये! मेरे-जैसे तो उन्हें देख कर ही डर मरे! रावण ने भी संसार में कुछ कम उत्पात मचाया था? देव, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, सभी उसके नाम से थरथर कांपते थे। जिस जनस्थान में हम रहते थे, वहां उसके उपद्रवों का क्या कहना था! भयंकर उपद्रव होते थे। खर और दूषण तो मदोन्मत्त सांड़ों की तरह घूमा करते थे। बेचारे पवित्र ऋषि-मुनि जहां बैठकर यज्ञ करते, वहां ये लोग हड्डियां डालते, मांस डालते, लहू की वर्षा करते और यज्ञ न होने देते। यह तो राम-लक्ष्मण का प्रभाव है कि आज लोग जनस्थान में सुख से घूम-फिर सकते हैं, नहीं तो, जिसने जनस्थान में पैर रक्खा, वह मरा ही समझो!"

माताजी बोलीं, "ये दुष्ट भला और क्या कर सकते थे ?"

सीता ने कहा, "बस, आदमी को देखने-भर की देर समझिये। आदमी दीखा नहीं कि उनके मुंह में पानी छूटा नहीं। फिर तो उसे खाकर ही उन्हें चैन पड़ता था। दया तो उनमें नाम को भी नहीं थी। शरीर और मन की शक्ति देखो, तो असाधारण; किन्तु मानवता का अंश तक नहीं ! ये लोग अपनी सारी शक्ति संसार को सताने में ही खर्च करते हैं, इसीलिए ये राक्षस हैं। अपनी इसी शक्ति को ये मानव-कल्याण में लगा दें तो ये ही ईश्वर बन जायं।"

माताजी ने पूछा, "क्या ये लोग इस चीज को समझते नहीं ?"

सीता ने कहा, "माताजी ! ये समझ ही नहीं सकते। शक्ति एक ऐसी चीज है कि यह जिसके पास होती है, उसकी गरदन पर एक की जगह दस सिर खड़े कर देती है। शक्तिमात्र में यह मद, यह नशा, रहा है, फिर वह शक्ति विद्वत्ता की हो, कुलीनता की हो, धन-सम्पदा की हो, स्वामित्व की हो, तप की हो, अथवा अन्य किसी वस्तु की हो ! माताजी ! सभी राक्षस ब्रह्मा के पुत्र हैं, फिर भी ब्रह्मा की सृष्टि के विरुद्ध विद्रोह करने में वे ही सबसे आगे रहते हैं। यदि अपनी सारी शक्ति खर्च करनी है, तो वह ईश्वर के विरुद्ध ही क्यों न की जाय, यह उनका बुद्धिवाद है ! शक्ति के नशे में चूर होकर मौज मनाना और सारी दुनिया को संत्रस्त करके स्वयं सुख भोगना ही राक्षसों के जीवन का लक्ष्य है।"

माताजी ने कहा, "पर आख़िर रावण मरा न ?"

सीता बोली, "हां, मरनेवाला था, इसलिए मरा। माताजी ! ईश्वर की सृष्टि में काल को कोई टाल नहीं सकता। ईश्वर ने राक्षसों की इस शक्ति के गर्भ में ही उनकी मृत्यु का विधान कर रक्खा है, नहीं तो वह पापी मुझे क्यों सताता ? माताजी ! होता यह है कि ये राक्षस जिस दिशा से अपनी मौत की तनिक भी आशंका नहीं रखते, उसी दिशा से काल इन्हें अपनी पकड़ में ले लेता है। हिरण्यकश्यप ने चाहा—दिन में न मरूं, रात में न मरूं, तो दिन और रात की संधि में मरा। रावण ने चाहा, देव से न मरूं, गन्धर्व से न मरूं, तो रामचन्द्र के हाथों मरा। ये लोग नहीं जान पाते कि काल बहुत ही साधारण वस्तु को अपने सबल साधन के रूप में बरत

सकता है। अपने अभिमान के कारण जो ईश्वर की इस शक्ति को पहचान नहीं पाते, अथवा ईश्वर की शक्ति को देखते हुए भी उसे अनदेखी करके यों ही जीना चाहते हैं, वे ही राक्षस हैं। माताजी ! आप कुछ कहती क्यों नहीं ?"

माताजी बोलीं, "बेटी ! मैं क्या कहूं ? मैं तो यही सोच रही हूं कि ऐसे हत्यारे और रक्त के प्यासे लोगों के बीच तू कैसे रही होगी !"

सीता कहने लगीं, "माताजी ! मैं कैसे रही, इसे तो मेरा मन ही जानता है। अशोकवन में मेरे चारों ओर राक्षसियों की एक पल्टन ही तैनात कर दी गई थी। कैसे थे उन दुष्टाओं के रंगढंग ! कैसे विचित्र उनके मुंह ! कितने मोटे उनके होंठ ! सूप-जैसे बड़े-बड़े कान ! शरीर सारा काम-भोग से निस्तेज बना हुआ ! भेद यही था कि उन्हें पशु के शरीर के बदले मनुष्य का शरीर मिल गया था। ये सब राक्षसियां मुझे रोज डरातीं, रोज आंखें फाड़-फाड़कर मुझे भयभीत करतीं, रोज लालच दे-देकर फुसलातीं, रोज राम की निंदा करतीं, रोज रावण की और उसके प्रचण्ड वैभव की प्रशंसा करतीं, रोज नाना प्रकार की काम-चेष्टाएं करतीं और रोज इस बात का यत्न करतीं कि मैं रावण के अनुकूल हो जाऊं। माताजी ! उनके विचार में तो ये सब तुच्छ वस्तुएं थीं। जब मैं राम का नाम लेती, तो वे सब मेरी हँसी उड़ातीं; जब मैं रावण के दिये प्रलोभनों से विचलित न होती, तो वे मुझे मूर्ख कहतीं, और मेरे सामने दांत निकालती; जब मैं अपने लिए लाये गए मिष्ठान्न न खाती तो मेरा मजाक उड़ाने के विचार से वे मेरे सामने सूखी घास लाकर रखतीं और हाथ के इशारे करती हुई उन मिष्ठान्नों को अपने मुंह में ठूंसने लगतीं; जब मैं ध्यान करने बैठती, तो वे स्वयं राम का-सा स्वांग बनाकर मुझ जली हुई को और जलातीं। रामचंद्र के बिना मेरा हृदय जिस प्रकार विदीर्ण हो रहा था, उसकी तो कल्पना तक उन राक्षसियों को कैसे होती ? पातिव्रत अथवा एक पत्नीव्रत तो समग्र राक्षसजाति के लिए एक अनोखी चीज है ?"

: ६ :

दुष्टता के बीच साधुता

माताजी ने कहा,"पृथ्वी इस भीषण दुष्टता को किस प्रकार सहन कर पाती होगी ?"

सीता कहने लगीं, "माताजी ! शुरू में तो मैं भी यही सोचती रहती थी कि इस पृथ्वी पर ऐसी भी दुष्टता कैसे निभ सकती है ? किंतु बाद में मुझे मालूम पड़ा कि सात समुद्रों के बीच जो लंका झूल रही है, वह रावण के शौर्य से नहीं, बल्कि मन्दोदरी की निष्ठा और विभीषण की साधुता के कारण। यदि लंका में मन्दोदरी न होती, लंका में रावण की दुष्टता के साथ-साथ साधुचरित विभीषण न होता, तो लंका बहुत पहले सागर के तल में समा गई होती !"

माताजी बोलीं, "हां, तो ऐसा मालूम होता है कि भगवान ने ऐसे दुष्टों के बीच थोड़े सज्जनों को भी रख छोड़ा है। मंदोदरी तो रावण की स्त्री थी न ? और विभीषण रावण का भाई ?"

सीता ने कहा, "हां, माताजी ! बड़ी प्रतापिनी थी वह मंदोदरी। थी तो रावण की पटरानी, जन्म से राक्षसी ; किंतु ऐसा प्रतीत होता था, मानो उसने आर्यत्व का दूध पिया हो ! बेचारी मेरे लिए रावण से लड़ती। रावण को ऐसी खरी-खरी सुनाती कि दूसरा कोई सुना न सके। फिर रावण का कोप सहकर भी वह मेरे पास मुझे धीरज बँधाने आती। पति का कहा करने और छाया की तरह पति की अनुगामिनी रहनेवाली पतिव्रताएं तो मैंने अनेक देखी हैं; किंतु पति को उसकी दुष्टता का स्पष्ट दर्शन करानेवाली, पति को उसके आत्मघाती काम का निर्भीक भाव से भान करा देनेवाली, और डूबते पति से लिपटकर उसके साथ डूबने की तैयारी रखने वाली निडर स्त्री तो मैंने एक मंदोदरी ही देखी ! जब अपने चारों ओर खड़ी हुई राक्षसियों के वचनों से मैं जलती-भुनती रहती, तब मंदोदरी आकर मेरे जलते हृदय पर अमृत की दो बूंदे छिड़कतीं; जब रावण मुझे सता जाता और मैं

आत्महत्या करने को होती, तब मंदोदरी आकर मुझे रोकतीं। ऐसा अनेक बार हुआ। माताजी ! मैंने सुना है कि उत्तर में कुछ ऐसे देश हैं, जहां निरंतर हिम वर्षा होती रहती है, और जहां प्राणियों के लिए जीवित रहना बहुत कठिन हो जाता है; किंतु ऐसे देशों में भी गरम हवा के कुछ ऐसे प्रवाह आते रहते हैं,जिनसे उस जीवन-विनाशक शीत में भी मनुष्य के लिए जीना संभव हो जाता है। यदि लंका में मैं किसी के कारण जी सकी हूं, तो मंदोदरी और विभीषण के कारण ही, वैसे तो लंका की हवा में कोई आर्य स्त्री जी ही नहीं सकती।

"माताजी ! विभीषण का नाम लेती हूं तो आज भी उनके चरणों में मेरा सिर झुक जाता है, वैसे वे रावण के सगेभाई थे। पेड़ की एक डाल पर एक विषफल लगा, और दूसरा अमृतफल सिद्ध हुआ। दीखने में राक्षस ही दीखते थे, किंतु राक्षस के शरीर में हृदय आर्य का था।"

माताजी बोलीं, "सीता ! गुरु कहते थे, जो दूसरों की पीड़ा से स्वयं दुःखी होता है, वह आर्य है, और जो दूसरों के पैसों पर स्वयं चैन की बंसी बजाता है, वह राक्षस है। क्या यह सच है ?"

सीता कहने लगीं,"माताजी ! ठीक यही बात है। जो देह को और देह के भोगों को छोड़ और किसी चीज में मानते ही नहीं, वे राक्षस हैं; जिनके जीवन-कार्य में धर्म और ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं, वे राक्षस हैं; जो नीति और अनीति के नियमों का उपहास करते हैं, और अपनी सुख-सुविधा के अनुसार जीवन बिताते हैं, वे राक्षस हैं; जो शक्तिशाली होते हुए भी अपनी शक्ति का उपयोग समाज के अकल्याण के लिए ही करते हैं, और उस शक्ति द्वारा अपनी सत्ता जमाना चाहते हैं, वे राक्षस हैं; जिनके मन में कार्य-अकार्य का, भक्ष्य-अभक्ष्य का और सारासार का विवेक नहीं, वे राक्षस हैं; जिनके जीवन का मध्यबिन्दु उनका अपना शरीर ही है। वे राक्षस हैं; जो संयम को वेद्‌विदों की सनक समझते हैं,जो साधुता को पागलपन समझते हैं, और निपट पशुता ही जिनके जीवन का आदर्श है, वे राक्षस हैं। माताजी ! विभीषण राक्षस-जाति में पैदा होने पर भी आर्य थे। शरमा के अहोभाग्य कि उसे ऐसे जीवन-साथी मिले ! ये विभीषण तो मेरे रामचंद्र को ईश्वर मानते थे। विभीषण के अपने शास्त्रानुसार तो रामचंद्र समूची राक्षसजाति

का संहार करने के लिए जन्मे हैं, और यह बात भी सच है। जबसे कुमारावस्था में कंधे पर धनुष रखकर विश्वामित्र के साथ निकले हैं, तब से आज तक उन्होंने और किया ही क्या है ? विभीषण ठीक ही कहते हैं। मेरे रामचंद्र ने विंध्याचल से लेकर ठेठ लंका तक आर्यत्व की ज्योति फैलाई, और सारे देश के राक्षसों को नष्ट किया। माताजी ! विभीषण ने लंका की बुर्ज पर चढ़कर गर्जना की थी, 'सीता राम को लौटा दो, नहीं तो हम सबका सर्वनाश समीप समझो !'"

माताजी ने पूछा, "भाई ने सलाह दी, तो भी रावण माना नहीं ?"

सीता ने कहा, "माताजी ! आप ऐसा क्यों पूछती हैं ? मुर्दे को जिलानेवाली संजीविनी-सी दवा हो, किंतु देह को धारण करके रखनेवाले बल क्षीण हो चुके हों, तो दवा लगती ही नहीं। सलाह कितनी ही अच्छी क्यों न हो, जब मनुष्य काल के वश हो जाता है, तो अमृत-सी सलाह भी उसके कानों को विष-सी प्रतीत होती है। रावण तो ठीक, मेरी अपनी ही बात लीजिये न ? जब रामचंद्र सुनहले हरिण को मारने गये और मैंने लक्ष्मण से उनके पास जाने को कहा, क्या उस समय काल ने मुझी को नहीं घेरा था ? जिस वीर लक्ष्मण ने अभी आंख उठाकर मेरी ओर देखा तक न था, जिस लक्ष्मण ने हम दोनों के सुख के लिए मेरी उर्मिला को छोड़कर स्वेच्छा से वनवास स्वीकार किया था, जिस लक्ष्मण ने हमारी सेवा करने में अपनी देह को गला डाला था, यही क्यों, रामचंद्र के मन की गूढ़ इच्छा ही जिसकी दृष्टि में शास्त्र से भी अधिक वंदनीय है, उस लक्ष्मण को मैंने न कहने योग्य बातें कहीं और जबरदस्ती रामचंद्र के पीछे भेजा। यह काल का ही प्रताप था ! रावण बेचारा क्या करता ? विभीषण तो प्रायः मुझसे कहा करते कि रामचंद्र अवतारी पुरुष हैं।"

माताजी बोलीं, "सीता ! यह तो मैं भी अनुभव करती हूं कि तेरे रामचंद्र कोई असाधारण पुरुष हैं, और मैंने तो तुझे भी असाधारण ही पाया है। रावण-जैसा राक्षसों का राजा तुझे उठाकर ले गया और बारह महीनों तक उसने तुझे फुसलाया, पर तू डिगी नहीं और आखिर रावण हाथ मलता ही रह गया, यह किसी साधारण स्त्री के बूते की बात नहीं ! सीता ! अपने दिल की एक बात तुझसे कहती हूं। तू पिछले बारह-चौदह वर्षों से

यहां हमारे बीच रही है। हम सब तो आश्रम में ही पले-पुसे, बड़े हुए और आश्रम के जप, तप, व्रत आदि के अभ्यासी बने; गुरुदेव के सत्संग का लाभ भी हमें मिला; फिर भी सीता ! एक मुझे ही नहीं, बल्कि हम सब आश्रम-वासिनी स्त्रियों को यह लगता है कि तुझमें कोई ऐसी वस्तु है, जो हममें से किसी में नहीं, जिसके कारण तुझे देखते ही हम विवश हो जाती हैं, बंध जाती हैं और तेरे चरणों में सिर झुकाने की प्रेरणा पाती हैं। पतिव्रताओं के जिस आत्मबल की बात गुरुजी कहते थे, वही तो यह नहीं ? चौदह ब्रह्माण्डों को अपने घर में ले आनेवाला रावण बहुतेरा सिर पटकने पर भी तुझे छू तक न सका, यह कोई ऐसी-वैसी बात नहीं। हां, तो विभीषण तुझे अच्छा मिल गया। लेकिन रावण ऐसा कैसा मूर्ख था कि मंदोदरी और विभीषण-जैसों को तेरे पास आने देता था ? वह स्वयं भी तो कभी-कभी तेरे पास आता होगा न ?"

सीता ने कहा, "माताजी ! रावण, प्रतिदिन शाम को मेरे पास बन-ठन कर आता था। ऐसे कामी लोगों की कुछ बातें बहुत हास्यास्पद होती हैं, वैसे देखा जाय, तो रावण केवल भयंकरता की मूर्त्ति था ! फिर भी मेरे सामने वह यह दिखाने की कोशिश करता था, मानो स्वयं बहुत सुंदर है ! जब भी आता; नहाकर आता; शरीर पर सुगंधित द्रव्यों का लेप करके आता, भाल पर केसर रचाकर आता; हाथों पर और गले में हीरा-माणिक के आभूषण पहनता और अपनी विकराल आंखों को स्नेहिल बनाने की बहुत ही कोशिश करता ! वह अपने साथ मुझ-जैसी अनेक देव-कन्याओं और गंधर्व-कन्याओं को भी लाता।"

माताजी ने पूछा, "उसके आने पर तेरी क्या हालत रहती थी ?"

सीता बोली, "माताजी ! उसका नाम सुनते ही मेरी देह शिथिल हो जाती और मैं हक्की-बक्की बन जाती। सच कहूं, मुझे तो ऐसे दुष्टों में दुर्गंध आती है। रावण की समूची देह से एक तरह की बदबू आती थी और उस बदबू से मेरा दम घुटता था। किंतु माताजी ! एक बात का मुझे सुख था। रावण रोज मुझसे दस हाथ दूर बैठता। लंका-निवास के मेरे बारहों महीनों में वह एक दिन भी मेरे बहुत पास आकर नहीं बैठा। जब आता, तभी मेरे प्रेम की याचना करनेवाली कामुक बातें कहता और आंखें

फाड़कर मुझे खा जाने की धमकी देता; लेकिन यह सब दस हाथ दूर रह कर। मैंने तो इसे अपने रामचंद्र का प्रताप ही माना है, अथवा कहिये कि यह प्रभु की कृपा थी, नहीं तो मुझे बांहों में जकड़कर लंका तक लानेवाले रावण के हाथ से मैं कैसे बच पाती ?"

: ७ :

हनुमान का पराक्रम

सीता ने आगे कहा, "माताजी ! मैं आपसे क्या कहूं, आपको कैसे समझाऊं कि उस अशोकवन में मैंने रो-रोकर आंसू के कुंड भर दिये थे ? पृथ्वी पर जिसकी समृद्धि की कोई जोड़ नहीं, ऐसी लंका में मुझे रहना पड़ा था; उस लंका के बीच भोग-विलास की समस्त सामग्रियों से पूर्ण अशोकवन था; मेरे आसपास सब राक्षसियां-ही-राक्षसियां थीं और उनके बीच दुबली-पतली मैं जनकपुत्री—उस उतने बड़े समुदाय में भी तो अकेली ही थी ! मेरे आसपास फैले हुए सारे वैभव मेरी दृष्टि में धूल-से थे। अशोकवन की शोभा मेरे लिए व्यर्थ थी। मुझे तो मेरे रामचंद्र की ही सुध बनी रहती थी। मैं उन्हीं का नाम लेती; सारा दिन उन्हीं का रटन करती, उन्हीं का ध्यान धरती। जब रात को नींद का झोंका आता, तो मुझे सपने में भी रामचंद्र ही दिखाई देते। माताजी ! जब सोचती हूं कि दैव ने हमें कैसे संकट में डाला था, तो आज भी आंखों के सामने अंधेरा छा जाता है, फिर भी रामचंद्र का स्मरण करके मन को शांत करती हूं।"

माताजी ने पूछा, "आखिर रामचंद्र वहां पहुंचे तो थे न ?"

सीता ने कहा, "मां, रामचंद्र से पहले तो मेरा हनुमान पहुंचा। बेटा हनुमान ! उस दिन अशोक वृक्ष के नीचे मैं गले में अपनी वेणी का फंदा डालने ही वाली थी कि उसने मुझे बचा लिया। और, आज जबकि चौदह-चौदह वर्षों से मैं रामचंद्र के लिए बिलख रही हूं, उनके वियोग में घुल रही

हूं, तब वह आता क्यों नहीं है ? किंतु, वह नहीं आयेगा।"

माताजी बोलीं, "हनुमान तो वानर है न ?"

सीता ने कहा, "है तो वानर, किंतु आर्यों में भी उसकी जोड़ का मिलना दुर्लभ है। हनुमान न होता, तो सीता का पता ही न लग पाता। माताजी ! हनुमान के कारण ही मेरी खोज हो सकी; हनुमान के कारण ही रामचंद्र रावण को मार सके; हनुमान के कारण ही मैं फिर से अयोध्या में पैर रख सकी। हनुमान के पराक्रमों की कथा मैं आपसे क्या कहूं ? वानर-जैसा वानर, सारे समुद्र को लांघ गया; वानर-जैसा वानर, लक्ष्मण के घायल होने पर पहाड़ उठाकर ले आया; वानर-जैसा वानर, समूची लंका में आग लगा आया। वानर-जैसा वानर, समस्त राक्षसों को त्रस्त कर आया, और इतना धैर्यशील होकर भी वह नम्र कितना ! मुझ सीता को तो 'माताजी ! माताजी !' कहते उसकी जीभ सूखती थी। रामचंद्र के मन में कोई बात आई नहीं कि हनुमान ने उसे सिर-माथे चढ़ाया नहीं। हनुमान के पराक्रम के कारण ही तो हम सब फिर मिल सके—एक हो सके। राम पर हनुमान की असाधारण श्रद्धा ! रामचंद्र उसके जीवन-सर्वस्व ! स्त्री होने के नाते मैं तो रामचंद्र पर गुस्सा भी हो लेती थी; किंतु हनुमान ठहरा सौम्य मूर्त्ति—राम का गुलाम ! राम के वचन उसके लिए वेद-वचन। माताजी ! जब रावण को मारकर हम अयोध्या आये और रामचंद्र का अभिषेक हुआ, तो मैंने हनुमान को मोतियों की एक माला पहनाई; लेकिन माला अभी उसके गले में पड़ी ही थी कि उसने उसे निकाला, डोरा-धागा तोड़ डाला और फिर मोतियों को फोड़ने लगा !"

माताजी हँस पड़ीं, "बंदर बेचारा ! उसने मोती कभी देखे हों, तब न ?"

सीता ने कहा, "माताजी ! बात ऐसी नहीं थी ! वह तो मुझसे कहने लगा कि इन मोतियों में कहीं राम का नाम नहीं लिखा है, इसलिए यह माला मेरे किस काम की ? और बात भी यही थी। हनुमान के हृदय में राम का नाम अंकित हो चुका था, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं। सेवक तो बहुत देखे हैं, मिथिला में भी देखे थे, अयोध्या में भी देखे थे, और आज अपने इस आश्रम में भी देखती हूं, किंतु हनुमान तो बस, हनुमान ही है !

उसकी वानर देह में अनंत बल था, फिर भी उसमें अभिमान का लेश न था। जिन लोगों ने उसका वज्रकछोटा देखा है, वे तो उस पर बलि-बलि जाते हैं। हम आर्यों को इस विषय में हनुमान से बहुत-कुछ सीखने को मिलता है। माताजी ! वीर लक्ष्मण ने कभी मेरी ओर आंख उठाकर नहीं देखा; वीर हनुमान ने जीवन-भर वज्रकछोटा बांधा; अश्वमेध-यज्ञ बंद होता हो, तो भले ही हो जाय, किंतु रामचंद्र थे कि उन्होंने दूसरी स्त्री को अपनी अर्द्धांगिनी न बनाने की भीषण प्रतिज्ञा की। मां ! क्या ऐसे पुरुष विरले नहीं ?"

माताजी बोलीं, "और जीवन-भर वियोग सहते हुए भी जिसके मुंह से राम का नाम नहीं छूटता, वह तू कौन कम विरल है ? इसीलिए कहती हूं कि कोई कवि तुम्हारे जीवन की झांकी कर लेगा, तो स्वयं भी अमर बन जायगा और तुम्हें भी अमर बना देगा। किंतु हमारी बात तो अधूरी ही रह गई है। हां, तो फिर राम वहां किस तरह पहुंचे ?"

सीता ने कहा, "राम के आने से पहले तो राम का भक्त आया। शुरू के कोई दस महीने तो मेरे योंही बीते। अपनी वह साड़े तीन हाथ जमीन, वही अपना एक वस्त्र, रूखी-सूखी वह वेणी और आसपास सुलगती अंगीठियों-जैसी वे राक्षसियां। मैं तो प्रतिदिन रामचंद्र के समाचारों की बाट जोहती बैठी रहती, किंतु समाचार लाता कौन ? ऐसा लगता था, मानो सारा जगत् मेरा बैरी बन गया हो ! माताजी ! वैसे तो रावण प्रतिदिन आता ही था; लेकिन जब कोई दो महीने बाकी रहे होंगे, तब एक दिन वह बड़े सबेरे, दिन निकलते ही आया और मुझसे न जाने क्या-क्या कह गया। आज भी रावण के उन शब्दों का ध्यान आते ही मैं त्रस्त हो उठती हूं और बहुत यत्न करने पर भी मैं उन्हें अपने मुंह से कह नहीं सकती—वे मेरी जीभ पर चढ़ते ही नहीं। माताजी ! रावण ने मुझे बहुत ही धमकाया और डर दिखाते हुए कहा कि यदि दो महीनों के अंदर मैंने उसकी बात न मानी, तो वह मुझे मारकर खा जायेगा। मेरे लिए यह सब असह्य हो गया ! मैं धीरे-धीरे निराशा के किनारे पहुंच चुकी थी। मुझे आशा न रह गई कि मैं इस जन्म में फिर अपने राम के दर्शन कर सकूंगी। मुझे अपना सारा जीवन भाररूप मालूम होने लगा। मैंने आत्महत्या करने का निश्चय किया

और एक रात अपनी इस वेणी का फंदा गले में डालकर मैं जीवन के किनारे खड़ी ही थी कि किसीने मुझे रोका।"

माताजी बोलीं, "तेरे जीवन की यह एक और आकस्मिक घटना!"

सीता ने कहा, "सच है।"

माताजी बोलीं, "सीता तुझसे एक बात पूछूं? तू स्वयं मरने को तैयार हो गई, इसके बदले तूने रावण को ही शाप देकर भस्म क्यों नहीं कर डाला? क्या तुझे यह सूझा ही नहीं?"

सीता ने जवाब में कहा, "माताजी! मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि गुरु वाल्मीकि के आश्रम में रहकर भी इस उम्र में आप मुझसे यह पूछ रही हैं! मैं जानती हूं कि शाप देने से शाप देनेवाला स्वयं कितना निस्तेज बन जाता है। मैंने अपने जीवन में जो बल-संग्रह किया था, उसे मैं एक ही सपाटे में बरबाद करना नहीं चाहती थी। और, अपने रामचंद्र से पूछे बिना ऐसा करना मुझे शोभा भी न देता। रामचंद्र के प्रति मेरी निष्ठा, मेरे व्रत, मेरे उपवास, मेरे लालन-पालन के संस्कार, ये सभी मुझे शाप देने से रोकते थे, और सच तो यह है कि शाप देना सीता के स्वभाव में ही नहीं है। शाप देने के बदले स्वयं मर मिटना सीता को अधिक प्रिय है। दूसरों के दोष निकालने के बदले सब दोष अपने सिर लेकर गुमसुम बैठे रहना सीता को अधिक प्रिय है। दूसरे की दुष्टता पर चोट करने के बदले स्वयं मरकर दुष्टता के मार्ग को प्रशस्त कर देना सीता की प्रकृति के अधिक अनुकूल है। माताजी! क्या आपको नहीं लगता कि एक सीता का नहीं, बल्कि समस्त आर्य स्त्रियों का यही एक मार्ग है?"

माताजी कहने लगीं, "गुरुजी भी प्रायः यही कहते हैं। बूंद-बूंद करके प्राप्त की हुई आत्मशक्ति को बिना सोचे-विचारे खोकर निस्तेज बन बैठना तो निरी मूर्खता ही है। किंतु सीता! शाप देने का अवसर भी प्राप्त हुआ हो, तो भी शाप को पीकर उलटे कल्याण का आशीर्वाद देना, कहने में चाहे आसान हो, पर कहना आसान नहीं।' जन्म से ही आश्रमों की हवा में पले-पुसे हम जैसों के लिए भी यह कितना कठिन है, सो मैं जानती हूं। हमारे इन गुरुजी को ही लो न। किसी दिन वे तमसा माता के तट पर स्नान के लिए आये होंगे। वहां दो क्रौंच क्रीड़ा और

कल्लोल करते होंगे। इतने में उनमें से एक को किसी पारधी का तीर लगा होगा और वह मर गया होगा। कहते हैं, गुरुजी से वह दृश्य न देखा गया और वे कह गये :

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंच मिथुनादेकं अवधीः काम मोहितम् ॥

"इस घटना में गुरुजी का कोई निजी स्वार्थ भी न था। फिर भी क्रौंच की व्यथा देखकर उनका कवि-हृदय हिल उठा ! तेरे हृदय में उन दिनों कैसा घोर मंथन हुआ होगा, फिर भी तूने शाप न दिया। सीता ! मैं तो इसे तेरा बड़प्पन ही मानती हूं। अच्छा, तो तूने आत्महत्या नहीं की। फिर क्या हुआ ?"

सीता कहने लगीं, "मैं अपनी वेणी खींचने ही वाली थी कि इतने में मेरे सिर के ऊपर से किसी की मधुर आवाज आई, 'सीताजी ! राम कुशलपूर्वक हैं। आपको ले जाने के लिए आ रहे हैं।' माताजी ! मेरे प्यासे हृदय में इन शब्दों ने अमृत सींचा। बेटा हनुमान ! आज भी सीता का हृदय उतना ही प्यासा है और जैसा क्षत-विक्षत् वह उन दिनों था, वैसा ही आज भी है। मैं अपने आसपास अमृत के सागर हिलोरें लेते देख रही हूं, किंतु मेरे इस मुट्ठी जितने हृदय पर उस अमृत की एक बूंद भी नहीं पड़ती। माताजी ! ज्योंही आवाज सुनाई दी, मेरी दृष्टि एकाएक अशोक वृक्ष के ऊपर गई। वहां एक छोटा-सा प्राणी छिपकर बैठा था। तभी मुझे विचार आया, 'कहीं रावण ही तो इस रूप में नहीं आया है ?' और, मेरी विकलता बढ़ गई। मैं घबरा उठी। किंतु इस बीच मेरा हनुमान अधिक समीप आ गया और मुझे भरोसा दिलाने के लिए इसने मेरी गोद में रामचंद्र की अंगूठी डाल दी। ज्योंही वह अंगूठी मेरी गोद में पड़ी, त्योंही मुझे यह विश्वास हो गया कि मैं अपने रामचंद्र की गोद में हूं। हनुमान ने थोड़े शब्दों में मुझे रामचंद्र के समाचार सुनाये, हिम्मत बधाई और जब पौ फटने को हुई तो मुझसे बिदा मांगी।"

माताजी बोलीं, "सीता, लंका के चारों ओर तो समुद्र है न ? फिर हनुमान वहां पहुंचा कैसे ?"

सीता ने कहा, "माताजी ! बाद में मेरे मन में भी यह सवाल उठा

था; पर उस समय तो मेरी हालत ऐसी थी कि इस तरह के विचार क्षण-भर आते और फिर लुप्त हो जाते। आज मैं सारी बातें जानती हूं, इसलिए इसमें अचरज की कोई बात दिखाई नहीं देती। हनुमान के ऐसे तो न जाने कितने पराक्रम गिनाये जा सकते हैं। हनुमान महेंद्र पर्वत से कूदकर समुद्र के इस पार आया; मुझसे मिलने के बाद रावण को अपना प्रताप दिखाने के लिए उसने समूचे अशोक वन को छिन्न-भिन्न कर डाला; राक्षसों के कैद होने के बाद सारी लंका को जला डाला; लड़ाई के दिनों में जब मेरे राम और लक्ष्मण घायल हुए और दूर के एक पर्वत से औषधि लाने की आवश्यकता पैदा हुई, तो समूचा पहाड़ ही उठा लाया; और जब रावण मरा, तो मानो स्वयं कुछ किया ही न हो, इस तरह चुपचाप मेरे रामचंद्र के चरणों में आकर बैठ गया। माताजी ! मेरे विचार में जो पराक्रम समुद्र लांघने में है, वही पराक्रम रामचंद्र के चरणों में बैठने में भी है। किंतु इसे छोड़िये। आगे की सुनिये। हनुमान के जाने पर मैं राम की बाट जोहने लगी। महीने जितने असह्य नहीं लगे थे, अब दिन उतने असह्य लगने लगे। इधर मेरा त्रास भी बढ़ गया। राक्षसियां मुझे अधिकाधिक सताने लगीं। जब रामचंद्र अपनी सेना के साथ लंका आ पहुंचे, तो रावण भी मुझे अधिक सताने लगा, और अंत में तो एक दिन रावण ने मेरे सामने रामचंद्र का लहू-लुहान सिर भी उपस्थित किया।"

माताजी बोलीं, "क्या कहा ? रामचंद्र को मार भी डाला ?"

सीता ने कहा, "मैं जानती थी कि रामचंद्र को मारना इतना सरल नहीं है, फिर भी कुछ क्षणों के लिए मेरी श्रद्धा डिग गई और मैंने सोचा कि राम सचमुच ही चल बसे। माताजी ! ये कुछ क्षण मेरे ऐसे बीते, मानो मुझ पर बिजली गिरी हो; किंतु मुझे ध्यान आया कि यह तो बनावटी सिर है। माताजी ! फिर तो देखते-देखते रावण मरा।"

: ८ :

रावण की मृत्यु

माताजी ने पूछा, "युद्ध में मरा होगा ? रावण के मरने पर लंका में तो हाहाकार मच गया होगा ?"

सीता कहने लगीं, "क्या कहूं उस हाहाकार की बात ? माताजी ! जिन दिनों लंका में युद्ध चल रहा था, उन दिनों रावण ने कुछ ऐसा प्रबंध किया था कि मुझे युद्ध के सच्चे समाचार मिल ही न सकें। रोज़ थोड़ी-थोड़ी देर में मुझे समाचार मिलते कि राम की सेना में कौन-कौन मरे, कौन-कौन घायल हुए, राम को मूर्छा कैसे आई, लक्ष्मण की छाती में इंद्रजित ने प्रहार कैसे किया, रावण ने हनुमान को किस तरह पकड़ा और बांधा, आदि-आदि; किंतु जब अंत में रावण मरा, तो इन सारे बनावटी समाचारों की पोल खुल गई। रावण की मृत्यु के समाचार मिलते ही मेरे आसपास इकठ्टी हुई राक्षसियां रोने-बिलखने लगीं और मुझे छोड़कर भागने लगीं।"

माताजी बोलीं, "सीता ! रावण की मृत्यु के समाचार सुनकर तेरे हर्ष का तो ठिकाना न रहा होगा ?"

सीता ने कहा, "बेचारा कोई पक्षी बाज़ के पंजे से छूटे और उसे जो खुशी हो, वैसी खुशी तो मुझे भी अवश्य ही हुई। किंतु माताजी ! सच कहूं ? रावण कितना ही दुष्ट क्यों न हो, कितना ही विद्वेषभरा क्यों न हो और कितनी ही पाप-पूर्ण कामनाओंवाला क्यों न हो, फिर भी मुझे लगा कि आख़िर तो वह मनुष्य ही था। उसने मेरा हरण किया, मुझे सताने में कोई कसर न रक्खी, और मुझे मार कर खा जाने की धमकी दी, फिर भी उसने मुझ पर हाथ नहीं डाला—मुझे अत्याचार से बचा लिया। माताजी ! उसमें बल था; उसमें उग्र वासना थी; उसके पास साधन थे; उसके पास उसके अपने आदमी थे। उसके पास सत्ता थी; और, मैं तो दुर्बल थी; साधनहीन थी; असहाय थी; स्त्री थी; फिर भी आख़िर मैं बच सकी, इसका श्रेय रावण के बड़प्पन को है। माताजी! आपको सुनकर अवश्य ही

आश्चर्य होगा। एक बार की बात है। रावण मुझपर अत्याचार करने ही वाला था कि इतने में अचानक बोल उठा, 'इस सीता का मुंह मेरी मां के मुंह से मिलता है।' और वह तुरंत लौट गया। उस दिन मैंने सोचा कि मनुष्य में कितनी ही दुष्टता क्यों न भरी हो, फिर भी उसके हृदय के किसी कोने में प्रभु का वास रहता ही है। सच है कि रावण की मृत्यु के समाचार पाकर मेरे आनंद का पार न रहा, फिर भी रावण की देह मुझसे दो आंसू की अपेक्षा अवश्य रख सकती है। बेचारा रावण !"

माताजी ने कहा, "सीता ! अब तो तेरी कथा समाप्त हुई न ?"

सीता बोलीं, "माताजी ! सीता के समाप्त हो जाने पर भी सीता की कथा समाप्त नहीं होगी !"

माताजी ने पूछा, "अच्छा, तो फिर और क्या हुआ ?"

: ६ :

काल की क्रूरता

सीता ने कहा, "उसके बाद की अपनी लज्जा का हाल तो मैं आप से कह ही चुकी हूं न ? फिर तो सीता के लिए लज्जा का एक सिलसिला ही शुरू हो गया ! मैं तो हर्ष-ही-हर्ष में अपने रामचंद्र को देखने दौड़ी। वही मैला-कुचैला शरीर, वही उलझे-बिखरे बाल, वही पीला वस्त्र, वही रूखी-सूखी आंखें, किंतु विभीषण ने और वानरों ने मुझे रोका। सबने कहा कि मुझे स्नान करके रामचंद्र के पास जाना चाहिए। मेरे हृदय को भारी आघात पहुंचा। 'मेरे और मेरे रामचंद्र के बीच आनेवाले ये विभीषण कौन ? ये वानर कौन ? यह स्नान कौन ? यह शिष्टाचार कौन ? मैली-कुचैली, तोतली, गूंगी-लूली सीता को राम के पास जाने से रोकनेवाले ये कौन ? राम के हृदय को सीता अधिक पहचानती है या ये कल के आये विभीषण और वानर ?' ऐसे-ऐसे तो न जाने कितने विचार मेरे मन में आये और

चले गये; पर इन विचारों के लिए समय कहां था ? मैंने जैसे-तैसे इच्छा-अनिच्छा-पूर्वक स्नान किया, वस्त्र पहने, बाल संवारे, और पालकी में बैठकर अपने राम के पास पहुंची। भाड़ में जाये वह पालकी ! पालकी पर परदे पड़े थे, जिससे कोई मुझे देख न सके, और न मैं ही किसी को देख सकूं। मुझे यह देखकर दुःख हुआ कि मैं ऐसी न दिखाने की चीज़ कब से बन गई ! किंतु इतने में तो मेरे राम ने धीर-गंभीर स्वर में कहा, 'ये परदे हटा दो ! स्त्रियों के लिए शुद्ध शील और हृदय की निर्भीकता ही सच्चे परदे हैं। इस झूठी मर्यादा की कोई आवश्यकता नहीं।' एकाएक परदे हट गये। और मैं पालकी से नीचे उतरकर अपने राम की ओर दौड़ी।"

माताजी ने कहा, "हूं... ! तो आख़िर तू और तेरे राम मिल ही गये।"

सीता बोलीं, "माताजी ! आप यह कैसी भूल कर रही हैं ? क्या राम और सीता का मिलन काल को कभी प्रिय हुआ है ? हम तो अपने भाग्य में यही लिखा कर लाये हैं कि चकवा-चकवी की तरह आमने-सामने जलाशय के दोनों किनारों पर बैठकर सारी रात कलपते रहें। मैंने बहुत चाहा कि मैं दौड़कर रामचंद्र से मिलूं, किंतु मेरे रामचंद्र ने कहा, 'हमें ऐसा कुछ करना होगा, जिससे लोग हमारी पवित्रता को अपनी आंखों देख सकें।' मेरी लज्जा का ठिकाना न रहा। सीता की पवित्रता ? लोगों को उसकी प्रतीति करानी होगी ? और लोगों को उस पवित्रता का प्रमाण मिलने के बाद मेरे रामचंद्र मुझे स्वीकार करेंगे ? बारह महीने के वियोग के बाद भी मुझे अपने राम के पास खड़े रहने तक का अधिकार नहीं ? और दूसरा कोई नहीं, स्वयं मेरे राम ही मुझसे यह कहें ? मैं आपा खो बैठी। मुझे राम पर खीज हुई। जिन रामचंद्र का स्मरण करके ही मैंने राक्षसों के बीच बारह महीने बिताये, वे रामचंद्र मेरे नहीं हैं, इस बात ने मुझे सिर से पैर तक उत्तेजित कर दिया। जली-भुनी मैं कह उठी, 'भैया लक्ष्मण ! बारह वर्षों तक तुमने मेरी पर्णशैया और पुष्पशैया तैयार की है। आज सीता की काष्ठशैया रचो, जिस पर सोकर सीता कृतार्थ हो !' देखते-देखते लकड़ी इकट्ठी हुई, शैया रची गई, अग्नि प्रज्वलित की गई, और मन-ही-मन राम से विदा हो कर चिता पर चढ़ी। रामचंद्र देखते रहे, लक्ष्मण देखते रहे, विभीषण और मंदोदरी देखते रहे, सुग्रीव और हनुमान देखते रहे, नील और अंगद देखते

रहे। चिता धू-धूकर जल उठी। मेरे आसपास लपटें लगने लगीं। किंतु मुझे उन्होंने छुआ तक नहीं। कुछ देर बाद अग्निदेव ने आकर मुझे वंदन किया और रामचंद्र के पास ले जाकर बोले, 'रामचंद्र ! आप इन पवित्र सीता को स्वीकारिये। आप तो जानते हैं, किंतु यहां इकट्ठे हुए ये सब लोग नहीं जानते, इसलिए कुछ कहता हूं। मैं स्वयं शुद्धि का देव हूं। मैली चीजें साफ़ होने के लिए मेरे पास आती हैं। मिलावट वाली चीज़ें भी मेरे पास साफ़ होने आती हैं। अयोग्य विचारों से बचने के लिए योगी मेरा आश्रय लेते हैं। मनुष्य के जीवन को पवित्र बनाने के लिए मुझे अंदर और बाहर का मैल जलाना पड़ता है। ऐसा मैं स्वयं इन सीता देवी के स्पर्श से आज पवित्र हुआ हूं। आज सबके सामने मैं इस सत्य की घोषणा करता हूं। सीता को पवित्र करनेवाला मैं कौन ? सीता के जीवन से मिथिला पवित्र हुई है, अयोध्या पवित्र हुई है, जनस्थान पवित्र हुआ है, यह राक्षस-भूमि पवित्र हुई है और सीता के कारण आज समूचा जगत् पवित्र हुआ है।' इतना कहकर अग्निदेव अदृश्य हो गये और हम सब अपने स्थान पर आये।"

माताजी ने कहा, "तो आखिर तू निश्चित और स्थिर हुई ? पर तेरे और रामचंद्र के इस मिलाप के बाद फिर ऐसी क्या बात हो गई, जिससे रामचंद्र के और तेरे बीच बाधा पैदा हुई, तुम्हारे मन खिंच गये ?"

सीता बोली, "माताजी ! आप मेरी बात समझी ही नहीं। दुनिया के साधारण पुरुष जिस तरह अपनी स्त्रियों को घर से निकाल देते हैं, रामचंद्र ने मुझे उस तरह थोड़े ही निकाला है ? दुनिया की साधारण स्त्रियां अपने पुरुषों से झगड़कर जिस तरह दिन-रात उन्हें कोसती और बदनाम करती रहती है, क्या मैं उस तरह अपने राम को कोसने और बदनाम करने निकली हूं ? यों देखा जाये, तो रामचंद्र का और मेरा यह वियोग अलौकिक है।

जब आप मेरी सब बातें सुन लेंगी, तभी इस सबको आप समझ सकेंगी।"

माताजी ने कहा, "तो ले, मुझे समझा। तुम दोनों फिर एक-दूसरे से क्यों बिछुड़े ?"

सीता बोलीं, "माताजी ! बिछोह तो मैं जन्म के समय अपने भाग्य में लिखवाकर लाई थी। हमारा मिलन तो भगवान् की कृपा का फल था।

रावण के मरने पर लंका का राज्य विभीषण को सौंपा गया, और हम तीनों अयोध्या के लिए रवाना हुए। पुष्पक विमान से अयोध्या पहुंचने में देर क्या लगती ? लंका से महासागर, महासागर से किष्किन्धा, वहां से ऋष्य-मूक और पम्पा, पम्पा से जनस्थान, दंडकारण्य और पंचवटी, पंचवटी से चित्रकूट और नंदिग्राम। नंदिग्राम में भरत थे। भरत को लेकर हम सब अयोध्या पहुंचे, और वहां धूमधाम के साथ हमारा अभिषेक हुआ।"

: १० :

फिर कसौटी पर

माताजी ने कहा, "सीता ! तू युवराज्ञी न बनी तो न सही; आखिर महारानी तो बनी !"

सीता कहने लगीं, "माताजी ! युवराज्ञी बनने जा रही थी, तब अव-भृथस्नान के जल जहां-के-तहां पड़े रहे, और चौदह वर्ष का वनवास मिला। जब महारानी बनी, तो सिर पर सात-सात समुद्रों के पानी का अभिषेक हुआ और ऐसा वनवास मिला, जिसकी कोई अवधि नहीं !"

माताजी बोलीं, "बेटी सीता ! तू महारानी बनी, तूने अपने अंतर में रघुकुल का तेज धारण किया, और तू कहती है कि रामचंद्र की तुझ पर असाधारण प्रीति थी, तो फिर राम ने तेरा त्याग क्यों किया ? तेरी ये सब बातें मेरी समझ में नहीं आतीं।"

सीता ने कहा, "मां, यह बात ही ऐसी है—एकाएक किसी की समझ में नहीं आ सकती। मेरे रामचंद्र मुझे छोड़ दें और मैं निरंतर 'राम-राम' जपती रहूं, इसे आप कैसे समझ सकती हैं ? मेरे रामचंद्र मुझे छोड़ दें और मैं छोड़ने की घड़ी से आजतक सारी रात आंसू बहाया करूं, और निःश्वास छोड़ती रहूं, इसे आप कैसे समझें ? गर्भवती पत्नी का त्याग करते समय जिसने उद्वेग का नाम न जाना, जिसका रोआं तक न फड़का, वही राम

अश्वमेध के लिए सहधर्मचारिणी की शोध होने पर सीता की सुवर्ण मूर्ति बनवायें, इस चीज को आप कैसे समझ सकती हैं ? इसे न आप समझेंगी, न समझेंगे हमारे ये आश्रमवासी, न समझेंगे अयोध्या के नर-नारी, और न समझेंगी ऊपर-ऊपर से देखनेवाली यह दुनिया । इसे तो एक मेरे राम समझते हैं और दूसरी मैं समझती हूं ।"

माताजी ने पूछा, "किंतु तू यह तो बतलाती ही नहीं कि रामचंद्र ने तेरा त्याग किसलिए किया ?"

सीता बोलीं, "माताजी ! मैंने एक बार नहीं, अनेक बार आपसे कहा है कि मैं अपने भाग्य में यह त्याग लेकर ही जनमी हूं । फिर भी आपको इसका बाहरी कारण जानना हो, तो सुनिये ।"

माताजी ने कहा, "हां, मैं वही जानना चाहती हूं । तेरी बातों से तो ऐसा मालूम होता है कि रामचंद्र सीता के लिए अयोध्या का राज्य तो क्या, समूची पृथ्वी का राज्य भी ठुकरा सकते हैं; फिर भी यह सच है कि तुझे छोड़कर वे अयोध्या में मौज कर रहे हैं। इसलिए मुझे यह भेद जानना है ।"

सीता बोलीं, "माताजी ! अभिषेक के बाद हम अयोध्या में रहते थे । सुग्रीव, विभीषण, वानर, वानर स्त्रियां आदि जो भी लोग हमारे साथ आये थे, वे सब अपने-अपने स्थान को लौट गये । मेरे माता-पिता भी हमें आशीर्वाद देकर मिथिला चले गये । फिर तीन माताएं, चार भाई और चार बहुएं, सब इस तरह आनंद से दिन बिताने लगे, मानो कुछ हुआ ही न हो । अयोध्या की प्रजा भी बहुत वर्षों के बाद निश्चिंत होकर स्वस्थ बनी । इस बीच एक बार सुमंत्र रामचंद्र के पास आये ।"

माताजी ने पूछा, "यह सुमंत्र कौन थे ?"

सीता ने कहा, "रामचंद्र के सारथि । मेरे ससुर महाराज दशरथ का रथ भी वही हांकते थे । अपने ब्याह के बाद मैं सुमंत्र के रथ में बैठकर ही मिथिला से अयोध्या आई थी । जब महाराज दशरथ ने हमें बनवास के लिए भेजा तब भी ये सुमंत्र अपने रथ में बैठाकर हमें गंगा तक ले गये थे । अंत में जब देवर लक्ष्मण मुझे तमसा के तट पर छोड़ गये, तब भी घोड़ों की लगाम सुमंत्र के हाथ में थी । माताजी ! अयोध्या-पति का रथ

हांकने में ही उनके बाल पके हैं।"

माताजी ने पूछा, "तो सुमंत्र ने आकर क्या किया ?"

सीता ने कहा, "मैं तो उस समय वहां थी नहीं, किंतु कहते हैं कि उन्होंने रामचंद्र के कान में कुछ कहा।"

माताजी ने फिर पूछा, "क्या कहा ?"

सीता बोलीं, "माताजी, बेसिर-पैर की उस बात को मैं किन शब्दों में आपके सामने रक्खूं ?"

माताजी बोलीं, "लेकिन तुझे इस तरह निकाल देने का कोई कारण तो समझ में आना चाहिए न ?"

सीता ने कहा, "अयोध्या का एक धोबी बात-बात में अपनी स्त्री से कह गया होगा, 'मैं रामचंद्र नहीं, जो रावण के घर में बैठी सीता को फिर अपने घर में रक्खूं।' यही कुछ, और क्या ?"

माताजी बोलीं, "वाह रे कमबख्त धोबी ! दुनिया का मैल धोनेवाले लोग अपने मैल को इतने आग्रह से छिपाये रखते होंगे, यह तो आज ही जाना ! अच्छा, फिर क्या हुआ ?"

सीता ने कहा, "फिर यही सब। फिर..."

माताजी बोलीं, "एक धोबी का गधा गांव की हद पर रेंका और रामचंद्र ने तुझे छोड़ दिया ? ऐसे तो कितने ही गधे रोज रेंकते हैं !"

सीता बोलीं, "माताजी ! बात ऐसी नहीं है। धोबी के वे शब्द तो अयोध्या की जनता के विचारों की गूंज ही थे। इसमें धोबी बेचारा क्या करता ? अयोध्या के प्रतिष्ठित लोग, अयोध्या के शिष्ट कहलानेवाले पुरुष, सब इसी विचार के थे। वे सब अपनी बाहरी शिष्टता की आड़ में इस विचार को छिपाते थे। धोबी ने तो उसे प्रकट-भर किया।"

माता कह उठीं, "हाय, अयोध्या की जनता इतनी शंकाशील है ! उसने न तुझे पहचाना, न रामचंद्र को पहचाना और न लक्ष्मण को पहचाना। लंका में अग्नि ने तुझे पवित्र घोषित किया, उसे भी नहीं माना और ऐसी हलकी बात को अपने मन में जगह दी ? यदि यही अयोध्या की जनता है, तो उसके राजा बनने में राम को स्वाद क्या ? और महारानी बनने में तुझे भी स्वाद क्या ?"

सीता कहने लगीं, "कहते हैं, यह सुनकर रामचंद्र ने आज्ञा दी, 'लक्ष्मण ! सीता को वाल्मीकि के आश्रम के पास छोड़ आओ।' "

माताजी बोलीं, "तेरा हृदय तो उस समय टूक-टूक हो रहा होगा। तूने रामचंद्र से कुछ कहा भी नहीं ?"

सीता ने जवाब दिया, "मेरी और रामचंद्र की चार आंखें नहीं हो पाईं ! उन्होंने तो सीधे ही आदेश दे दिया था।"

माताजी बोलीं, "रामचंद्र बहुत ही कठोर हैं !"

सीता ने बीच ही में कहा, "माताजी ! इंद्र के वज्र से भी अधिक कठोर और साथ ही शिरीष के फूल से भी अधिक कोमल, हृदय एक परमेश्वर का है और दूसरा रामचंद्र का।"

माताजी कहने लगीं, "ईश्वर की बात तो ईश्वर जाने, किंतु जब राजा स्वयं बिना देखे-सुने ही अपनी महारानी को त्यागने लग जाय तब तो दुनिया ही न उलट जाय !"

सीताजी बोलीं, "माताजी ! जो हो, आप यह तो कभी मानेंगी नहीं कि रामचंद्र का इस तरह मेरा परित्याग करना मुझे अच्छा लगा होगा, फिर भी मैं यह कहती हूं कि अपनी जनता के मूक मत को ध्यान में रखकर रामचंद्र ने मेरा जो त्याग किया, उससे जनता का तो हित ही हुआ है।

माताजी कह उठीं, "जनता का हित तो मैं समझी, किंतु तेरा अपना क्या ?"

सीता बोलीं, "यदि जनता का कल्याण होता हो, तो मेरा अपना या राम का अपना प्रश्न गौण हो जाता है। माताजी ! हमारे माथे पर सात समुद्रों के पानी का अभिषेक करते समय गुरु वसिष्ठ ने हमसे जो शब्द कहे थे, वे आज भी मुझे भलीभांति याद हैं। उन्होंने साफ शब्दों में कहा था, 'महाराज रामचंद्र ! महारानी सीता ! आज से अयोध्या की प्रजा आपकी प्रजा बनती है। रामचंद्र सीता के हैं और सीता रामचंद्र की हैं; किंतु आज से आप दोनों अयोध्या की प्रजा के बनते हैं। प्रजा का पालन करना इक्ष्वाकु राजाओं का कुलधर्म है। जब समस्त प्रजा का प्रश्न उपस्थित हो, तब आप अपने को गौण समझिये। अपने निजी सुख-दुःखों का विचार तक न

कीजिये। प्रजाहित की दृष्टि को सामने रखकर अयोध्या की गद्दी को अधिक उज्ज्वल बनाइये।' "

माताजी बोलीं, "सीता ! तुम यह क्या पागलपन से भरी बातें कर रही हो ! प्रजा के दो गैर-जिम्मेदार लोग जो मन में आये, सो कह जावें और रामचंद्र सीता को छोड़ बैठें ?"

सीता ने कहा, "माताजी ! रामचंद्र अकेली सीता के रामचंद्र नहीं हैं। रामचंद्र तो अयोध्या के महाराजा ठहरे ! फिर, यह देखने की आवश्यकता ही कहां रह जाती है कि प्रजा अकल की बात कहती है या पागलपन की ! जो कुछ कहती है, प्रजा कहती है। उसी का अपना मूल्य है।"

माताजी बोलीं, "तू नाहक सिरपच्ची कराती है, सीता ! रामचंद्र का तुझे यों निकाल देना, तुझी को अच्छा लगता है तो फिर मुझे क्या !"

सीता कहने लगीं, "माताजी ! मुझ पर यों क्रोध न कीजिये। यह न समझिये कि रामचंद्र ने मेरा जो त्याग किया है, वह मुझे अच्छा लगता है। यह भी न समझिए कि स्वयं रामचंद्र को मुझे यों छोड़ देना अच्छा लगा है। मैं जानती हूं कि जब उन्होंने धोबी की बात सुनी होगी, तब उनका कोमल हृदय कितना विदीर्ण हुआ होगा। मैं यह भी जानती हूं कि सीता को वन में छोड़ आने का आदेश देने के बाद तुरंत हमारे आवास में जाकर वे कितने फूट-फूट कर रोये होंगे। मेरा त्याग करने के बाद आजतक उन्होंने पलंग के तकिये पर सिर रखकर नींद नहीं ली होगी। शान्त हृदय से दो ग्रास अन्न के नहीं खाये होंगे। मेरा त्याग करके तो रामचंद्र ने अपना समूचा आधा अंग ही काट डाला है ! मैं जानती हूं कि आज सीता-विहीन राम को अपनी प्रजा से भरी-पूरी अयोध्या भी ऊजड़ी-सी लगती होगी। वैभव से भरे राजमहल सूने लगते होंगे। माताजी ! आप यह न समझिये कि रामचंद्र का वियोग मुझे कम कसकता है। वियोग की इस व्यथा को तो कदाचित् मैं अपने साथ चिता में लेकर ही सोऊंगी ; किंतु माताजी ! रामचंद्र के लिए दूसरा मार्ग ही नहीं रहा था। राजा स्वयं जिस दिन सिर पर छत्र और चामर धारण करता है, उस दिन से उसकी दीक्षा शुरू होती है। अकेले राजा को ही नहीं, किंतु किसी भी सेवक को, सेवा की सुविधाओं के साथ उसकी भीषण जिम्मेदारियां भी संभालनी पड़ती

हैं। देवर लक्ष्मण ने जब रामचंद्र की सेवा को अपने सिर लिया, तो उन्होंने उसमें अपने आपको खपा दिया। मेरी उर्मिला मुझसे भी छोटी थी। जितनी मैं राम के साथ रहने को उत्सुक थी, उतनी ही उत्सुकता उर्मिला को भी लक्ष्मण के साथ रहने की थी; किंतु रामचंद्र के लिए लक्ष्मण ने उर्मिला की साध को अधूरा रखा। इसी प्रकार, मेरे रामचंद्र ने अपनी प्रजा की सेवा अंगीकार करके मेरी साध, मेरे मनोरथ, अधूरे रखे। मुझे तो लगता है कि दुनिया में जो कोई भी सेवा-व्रत अपनाते हैं, उनके भाग्य में अपने आत्मीयों के प्रति—निकट के नाते-रिश्तेदारों के प्रति—यह निर्दयता बदी ही होती है। सेवा की यह उत्कटता सहज ही निजी सुख-दुःख के प्रति एक प्रकार की उदासीनता उत्पन्न कर देती है।"

माताजी बोलीं, "सीता ! प्रजा का रंजन करना, उसका कल्याण करना, यह सब तो सच है, किंतु प्रजा की मूर्खता से प्रभावित होकर रामचंद्र तुझे छोड़ें, इसकी अपेक्षा में तो यह अधिक पसंद करूंगी कि रामचंद्र अयोध्या की गद्दी को सदा के लिए छोड़ दें और सीता के साथ पर्णकुटी में जीवन बितायें। प्रजा का रंजन करना, प्रजा का आदर करना, यह सबकुछ अच्छा है, किंतु प्रजा के पास बुद्धि ही न हो, तो रामचंद्र को उसे थोड़ी बुद्धि भी देनी चाहिए !"

सीता ने कहा, "माताजी ! इन सब बातों पर मैं दूसरी दृष्टि से सोचती हूं। मेरा त्याग करके रामचंद्र ने असल में मेरा नाम नहीं, बल्कि अपने ही समग्र सुख का त्याग किया है। माताजी मुझे इस त्याग का कोई कम दुःख नहीं। मुझे रामचंद्र पर क्षोभ भी हुआ है और होता है, किंतु असल में मेरा त्याग करके रामचंद्र ने मुझे अमित मान दिया है। रामचंद्र के सामने प्रश्न चुनाव का था। वे किसे चुनते—अयोध्या की प्रजा को या सीता को ? और, रामचंद्र ने अयोध्या की प्रजा की मांग स्वीकार करके सीता का त्याग किया, क्योंकि उन्होंने मुझे अपनी समझा। इसीलिए मेरा त्याग भी करना पड़े, तो वैसा करने में उन्हें संकोच नहीं हुआ। ऐसे आन-बान के अवसरों पर अपनों के साथ अन्याय करने में हमें एक प्रकार का आनंद आता है और ऐसा अन्याय कितना ही कड़ुआ क्यों न हो, फिर भी उसके गर्भ में एक प्रकार का आत्म-संतोष रहता है।

मैं तो अब भी मानती हूं कि बाहरी दृष्टि से बात कैसी भी क्यों न हो, फिर भी रामचंद्र के हृदय में सबसे निकट का स्थान तो मेरा है और मेरा ही रहेगा, भले ही प्रजा हमारे स्थूल शरीरों को निकट न आने दे ।"

माताजी बोलीं, "सीता ! अब तेरी बात समझना मेरे लिए कठिन होता जा रहा है । मैं तो सोचती हूं कि अगर प्रजा की प्रतिष्ठा के लिए रामचंद्र तेरे-जैसी स्त्री का त्याग करते हैं, तो फिर संसार में स्त्रियों का मूल्य ही क्या रह जाता है ? तू भी मनुष्य है। तेरा अपना भी व्यक्तित्व है। इन सबका कोई विचार न करके केवल इसलिए कि सुमंत्र आकर कान में कुछ कह गये, रामचंद्र तेरे त्याग का आदेश दें, यह क्या है ? कहां तक हम पुरुषों की इस निरंकुशता को सहती-स्वीकारती रहेंगी ? जिस तरह राम अयोध्या के महराज थे, उसी तरह तू भी अयोध्या की महारानी थी । लोग तुझ पर जैसे चाहें, आक्षेप करें और उन सब आक्षेपों को सच मानकर राम तुझे छोड़ दें, यह कैसी बात है ? तेरे लिए तो यह मौत ही हुई ! मेरे विचार में, तेरा त्याग रामचंद्र का एक महान अपराध है और अयोध्या-वाले मानें, चाहे न मानें; किंतु बाहर की दुनिया का एक बड़ा समुदाय जो चीज मानता है, उसके अनुसार तो तेरे त्याग के लिए रामचंद्र को क्षमा किया ही नहीं जा सकता ।"

सीता बोलीं, "माताजी ! मैं आपके दिल की जलन को समझती हूं। आप यही कहना चाहती हैं न कि जिस प्रकार रामचंद्र ने अयोध्या की प्रजा का विचार किया, उसी प्रकार उन्हें सीता का भी विचार करना चाहिए था ?"

माताजी ने कहा, "बिलकुल ठीक । क्या सीता रामचंद्र का कोई खिलौना है कि जब उनकी मर्जी हो, उसे गद्दी पर बैठावें, और जब जी चाहे, उसे बन की भिखारिन बना दें ? सीता न रामचंद्र का खिलौना है, न प्रजा का ही खिलौना है। यह ठीक है कि राजा प्रजा का सेवक है, किंतु इसका यह मतलब नहीं कि राजा प्रजा का निरा गुलाम है ! तू बराबर अपने राम का बचाव करती रहती है, यह बात मुझसे सही नहीं जाती। रामचंद्र ने तुझे त्यागकर भूल ही की है । मेरा यह निश्चित मत है कि तेरी पवित्रता पर विश्वास करके उन्हें लोकमत को ठुकरा देना चाहिए था। यदि

मुझे पहले से तेरी इन सब बातों का पता होता, तो मैं गुरुजी को अयोध्या जाने ही न देती ।"

सीता बोलीं, "माताजी ! अब मैं एक ऐसी बात कहती हूं, जिससे आपके समान स्त्री को और क्रोध आवेगा । मैंने रामचंद्र से भिन्न अपना कोई व्यक्तित्व रखा ही नहीं । मैंने अपने आपको रामचंद्र के साथ एक कर देने में ही अपने जीवन की सार्थकता मानी है । इसलिए जिस तरह राम प्रजा के वास्ते अपना कोई एक अंग काट डालें और मैं उस पर कोई आपत्ति न करूं, उसी तरह प्रजा के लिए राम मुझे अपने पास न रखें, कहीं दूर भेज दें, तो मैं उस पर भी आपत्ति नहीं करूंगी ! राम और सीता दीखने में दो अलग देहधारी चाहे दीखें, किंतु वस्तुतः हम दोनों एक ही हैं और यही कारण है कि मैं इतना लंबा वियोग सह सकी हूं ।"

माताजी ने कहा, "मैं तो इसे तेरी मूर्खता समझती हूं । राम ने तुझे छोड़ा और तेरे मन को उसका कोई बुरा न लगा, उल्टे तूने यह समझा कि तुझे मान मिला है, मेरे विचार में, यह अपने मन को धोखा देने और मेरे जैसों को फुसलाने की बात है । क्या जब लक्ष्मण तुझको यहां छोड़ गये, तब तू गुस्सा नहीं हुई थी ?"

सीता बोलीं, "माताजी ! मुझे गुस्सा तो आया, लेकिन फिर तुरंत उतर भी गया । यदि गुस्सा किसी पर चढ़ा था, तो अयोध्या की प्रजा पर ।"

माताजी ने कहा, "मुझे तो वह प्रजा भी निष्प्राण मालूम होती है । जब राम युवराज बनते-बनते वनवासी बन गये, तो यह प्रजा रोती-बिलखती तुम्हारे साथ हो ली, किंतु दशरथ या वसिष्ठ से कुछ न कह सकी । उस प्रजा ने तुझको महारानी भी बनाया और बाद में तेरी निंदा भी करने लगी ! सीता ! सच कहती हूं, ऐसी बेढंगी प्रजा का स्वामी बनना भी एक महान् दुःख ही है । मैं अपने आश्रम के अनुभव से यह कहती हूं । मैं खूब जानती हूं कि इस सारे आश्रम को संभालने में वाल्मीकि को कितना श्रम करना पड़ता है । कोई कुछ कहता है, कोई कुछ कहता है । एक मुनि रूठता है, तो दूसरा अपना कंबल कंधे पर डालकर चलने लगता है । कोई कुमार भूख का कष्ट उठाता है, तो कोई ऋषिकन्या रो-रोकर आंखें सुजा

लेती है। इन सबको एक-साथ रखना और एक व्यवस्था के अनुसार चलाना सरल नहीं; किंतु यहां एक बात निश्चित है। कोई कितना ही रूठे और अकड़े, पर जहां गुरुजी ने दो शब्द कहे कि सब ठण्डे हो जाते हैं। अयोध्या की प्रजा तो आपस में भी लड़ती है और समय पड़ने पर राम को भी उसमें फंसा लेती है। लोकमत की बाढ़ हमेशा अनिश्चित होती है। उस बाढ़ में बहे बिना सदा उसकी सतह पर तैरते रहना साधारण आदमी के बस की बात नहीं। मुझे इसमें कोई शंका नहीं कि रामचंद्र अपनी प्रतिष्ठा के विचार से ही इस बाढ़ में बह गये।"

सीता ने कहा, "जो भी हुआ हो, मेरा हिसाब तो बिलकुल सरल है। जिसे प्रजा की सेवा करनी है, उसे अपने निजी जीवन की बहुत-सी बातें छोड़नी पड़ती हैं, पैसा तो छोड़ना पड़ता ही है, स्त्री भी छोड़नी पड़ सकती है। बालकों को भी छोड़ने का समय आ सकता है। आराम भी छोड़ना पड़ता है। प्रतिष्ठा भी छोड़नी पड़ती है। सबकुछ छोड़ना पड़ सकता है, और यह त्याग ही प्रजा-सेवक का धर्म है। यदि आप यह कहती हैं कि मेरे रामचंद्र इस राजधर्म के नीचे दब गए हैं, तो मैं उसे स्वीकार करती हूं। माताजी ! यदि रामचंद्र इस बोझ से दबना पसंद करें, तो मुझे भी वही प्रिय होगा। मैंने अपने आपको रामचंद्र के साथ इतना अधिक घुला-मिला दिया है कि उनसे भिन्न अपना कोई विचार करने में भी मुझे अपनी न्यूनता प्रतीत होती है।

"माताजी ! सीता भी मोम की पुतली है। सीता की देह में भी मनुष्य का रक्त गतिमान है। सीता की देह भी हड्डी और चमड़ी की बनी है। इसलिए प्रायः जब मन वश में नहीं रहता और मैं आपा खो बैठती हूं, तो रामचंद्र पर और अयोध्या की प्रजा पर क्रोध आ ही जाता है। अपने जीवन को धिक्कारने की भी इच्छा हो जाती है, परंतु जब शांत भाव से सोचती हूं, तो लगता है कि यह सब इसी तरह होना चाहिए था। माताजी ! मैं प्रायः अनुभव करती हूं कि इस एक घटना की ही नहीं, बल्कि हम दोनों के समूचे जीवन की तह में कोई गूढ़ ईश्वरीय संकेत रहा है, और उस अनुभव के सहारे ही मैं ऐसे दुःखों में भी जीने की प्रेरणा पा सकी हूं।

"किंतु माताजी ! मेरे मन में कोई रोष नहीं है, इसका यह अर्थ नहीं

कि मेरे हृदय की व्यथा तिलमात्र भी कम हुई है। रामचंद्र ने मुझे छोड़ दिया। मैं अपने दिल में इसका बुरा न भी मानूं, मुझे उन्होंने वन में अकेली भटकने को छोड़ा और रघुकुल की आशा का भी विचार नहीं किया, इसका भी मैं बुरा न मानूं, किंतु मेरे बिना रामचंद्र अयोध्या के रंगमहल में किस तरह घुल-घुलकर जीते होंगे, इसकी व्यथा और पीड़ा मुझे न हो, यह कैसे हो सकता है ? तमसा के इस तट पर बैठे-बैठे भी जब मैं अपने रामचंद्र के हृदय से निकलनेवाले उन निःश्वासों का विचार करती हूं, तो मैं पागल हो जाती हूं और जी चाहता है कि संसार के समस्त संकोचों को ठुकरा कर एक बार उनके पास पहुंच जाऊं और उनके संतप्त हृदय पर अपना हाथ रख दूं। किंतु ये सब तो सपने हैं! कहां वे राम और कहां मैं सीता ! इस देह से फिर ऐसा दिन देखने को नहीं मिलेगा।

माताजी बोलीं, "ऐसा क्यों सोचती हो, सीता ! जब गुरुजी लव-कुश के साथ अश्वमेध में जाने लगे, तो वे मुझसे कहते गये कि निस्संदेह सीता फिर अयोध्या में प्रवेश करेगी।"

सीता ने कहा, "गुरुजी की आर्षदृष्टि जिन चीजों को देख सकती है, वे हम-जैसों को कैसे दिखायी दे सकती हैं ! किंतु स्वयं मुझे ऐसा लगता है, मानो पृथ्वीमाता मुझे पुकार रही है।"

माताजी बोलीं, "सीता! ऐसा मत कह। गुरुजी अच्छे समाचार लाने के लिए ही गए हैं। अब अरुणोदय हो रहा है, इसलिए चल, हम अब आश्रम की ओर चलें।"

इस प्रकार कहकर दोनों उठीं और तमसा की रेती में धीमे पैरों चलती और अपने पद-चिह्न छोड़ती हुई दोनों आश्रम की ओर बढ़ीं।

: ११ :

राम का अश्वमेध यज्ञ

अयोध्या में रामचंद्र ने अश्वमेध यज्ञ आरंभ किया था। अश्वमेध यज्ञ करनेवाले मनुष्य के लिए यज्ञ-कार्य में अपनी पत्नी को अपने साथ रखना आवश्यक होता है। यजमान-पत्नी समूचे यज्ञ का एक अविभाज्य अंग मानी जाती है। रामचंद्र के सामने यजमान-पत्नी का प्रश्न उपस्थित हुआ और अयोध्या की प्रजा ने रामचंद्र से आग्रह किया कि वे दूसरी पत्नी ग्रहण करें, किंतु रामचंद्र टस-से-मस न हुए। प्रजा के संतोष के लिए सीता का त्याग करके उन्होंने अपने त्याग की हद दिखा दी थी। उसी प्रजा को खुश करने के विचार से अश्वमेध के लिए दूसरी सहधर्मचारिणी को खोजना आवश्यक हो, तो रामचद्र उस अश्वमेध को ही छोड़ने के लिए तैयार थे। प्रजा इशारे में समझ गयी। वसिष्ठ ने भी संकेत समझ लिया और सीता की अनुपस्थिति में उसकी सुवर्ण-मूर्ति रखने का शास्त्रार्थ ऋत्विजों ने स्वीकार कर लिया।

इस अश्वमेध यज्ञ में वाल्मीकि भी उपस्थित थे। सीता के दोनों पुत्र लव और कुश के अलावा रोहित नामक एक शिष्य भी उनके साथ था। वाल्मीकि ने अश्वमेध की यज्ञभूमि में रहना उचित नहीं समझा, अतः उन्होंने अपने लिए एक स्वतंत्र पर्णशाला बना ली थी।

वाल्मीकि एक मामूली भील थे। अपनी प्रचंड तपस्या के बल से वे एक समर्थ ऋषि बन गये थे। उनकी तपश्चर्या ने अच्छे-अच्छे ब्राह्मणों को चकित कर दिया था। उनकी निष्ठा ने समर्पण का एक नया आदर्श उपस्थित किया था। तपश्चर्या के बल से उनमें आर्षदृष्टि उत्पन्न हुई थी, किंतु उस आर्षदृष्टि पर पांडित्य की तहें नहीं जम सकी थीं। उनके जीवन का ध्येय कुछ और ही था। वे चाहते थे कि आर्यावर्त की गरीब जनता भी संसार की उच्च दृष्टि से परिचित हो और इस तरह गरीबों के झोंपड़ों में भी प्रकाश की किरणों का प्रवेश हो। उन्होंने रामचंद्र और सीता के जीवन को अपनी आर्षदृष्टि से परख लिया और उस जीवन का एक ऐसे सादे-

सरल काव्य में वर्णन किया, जिसमें न पांडित्य का प्रदर्शन था, न क्लिष्ट और कठिन भाषा। हमारी 'वाल्मीकि रामायण' ही उनका वह प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ है।

लव और कुश इस रामायण के सबसे पहले अभ्यासी थे। लव-कुश प्राय: आश्रम में रामायण के मनोहर श्लोक गाया करते थे और जब-जब वे गाते थे, तब-तब आश्रमवासी उस काव्य के लालित्य से और गायकों के मनोहर कंठ से मुग्ध हो जाते थे। किंतु आश्रम में शायद ही कोई जानता था कि इस महाकाव्य की नायिका स्वयं ही उस पर्णकुटी में बैठी है और किन्नरों के-से मीठे स्वर से गानेवाले लव और कुश दोनों उस महाकाव्य के नायक के ही पुत्र हैं ! हां, जब ये मधुर श्लोक सीता के कानों से टकराते, तो उनके मन में अपने जीवन का पुनरावर्तन शुरू हो जाता और वह उनमें न जाने क्या-क्या भाव जगा जाता।

अयोध्या में रहकर वाल्मीकि जब-तब यज्ञ में आने लगे और कुछ दिनों के बाद जब ऋत्विजों आदि के आराम का समय रहता, तब लव-कुश उनके बीच बैठकर उन्हें रामायण के श्लोक सुनाने लगे। लव-कुश के इस ज्ञान से सारा यज्ञ-मंडप गूंजने लगा। यज्ञ में आनेवाले साधारण लोग भी जिस काव्य की भाषा को आसानी से समझ सकते थे, उस भाषा में अद्भुत आकर्षण था। अयोध्या के नर-नारी जितना वेदमंत्रों को नहीं समझते थे, उतना इस काव्य को समझ पाते थे, इसलिए दिन-प्रतिदिन मंडप में लोगों की भीड़ बेहद बढ़ने लगी। तिल रखने को कहीं जगह नहीं मिलती थी और सबको इस काव्य में इतना रस आने लगा था मानो उनकी अपनी ही कोई कथा इसमें हो।

वाल्मीकि-जैसे कवि, लव-कुश-जैसे मधुर गायक और रामचंद्र के जीवन की कथा, ये तीनों वस्तुएं जहां इकट्ठी हुई हों, वहां फिर पूछना ही क्या था ? अश्वमेध के लिए अयोध्या की प्रजा का आग्रह था। ऋत्विजों को देश की क्षुब्ध मन:स्थिति को शांत करने के लिए यज्ञ की आवश्यकता प्रतीत होती थी। अयोध्या के नर-नारी भी धर्म-कर्म की लालसा लिये हुए थे, इस-लिए प्रजा के मुखिया के नाते रामचंद्र इस यज्ञ में अपनी देह से चाहे उप-स्थित थे, किंतु उनका हृदय तो बरसों से अपना चोला छोड़कर तमसा के

तीर पर विचरता था। ऐसी स्थिति में जब लव-कुश का गान रामचंद्र के कानों में पड़ा, तो वे कान चौंक पड़े। उस गान से राम के हृदय के तार झनझना उठे। उन बालकों के मुंह पर उन्हें सीता की छाया दिखाई पड़ी और देखते-देखते किसी तीखे श्लोक की वेदना से मूर्च्छित होकर वे जहां-के-तहां ढुलक पड़े। सभा में हाहाकार छा गया। लक्ष्मण और भरत दौड़ पड़े। गुरु वसिष्ठ ने वाल्मीकि के साथ एकांत में परामर्श किया। लव-कुश बेचारे अयोध्यापति की दशा देखकर उनपर तरस खाने लगे। धीरे-धीरे मंडप सारा खाली हो गया। लोग चुपचाप चले गये।

कुछ देर इधर-उधर एकांत में मंत्रणाएं होती रहीं—वसिष्ठ और लक्ष्मण की मंत्रणा, लक्ष्मण और भरत की मंत्रणा, वाल्मीकि और वसिष्ठ की मंत्रणा, राम और लक्ष्मण की मंत्रणा। उस दिन सारी अयोध्या में लोग बहुत बेचैन रहे और सारे नगर में यही चर्चा चलती रही कि कल क्या होगा ?

वाल्मीकि अपनी पर्णकुटी में आये और रोहित से कहने लगे, "रोहित! तू इसी समय रवाना हो जा। जाकर सीता को ले आ। और कोई इधर-उधर की बात मत करना। कल सबेरे सीता के साथ यहां उपस्थित हो जाना।"

रोहित चल पड़ा। वह मुड़कर भी क्यों देखने लगा ? उसने आश्रम को अपनी दृष्टि के सामने रखा। सबेरा होते-होते वह तमसा के किनारे पहुंचा और नदी पार करके आगे बढ़ा ही था कि मार्ग में उसे माताजी और सीता मिल गईं।

माताजी ने पूछा, "क्यों रोहित, तू तो गुरुजी के साथ गया था न ? लव-कुश कहां हैं ?"

सीता बोलीं, "मेरे लव-कुश को कहां छोड़ आये ?"

रोहित ने कहा, "गुरुजी और लव-कुश सभी अयोध्या में हैं। मुझे गुरुजी ने आपको लिवा ले जाने के लिए भेजा है।"

सीता ने पूछा, "मुझे लिवा ले जाने को ?"

रोहित बोला, "जी हां, आपको लिवा ले जाने को।"

सीता ने फिर पूछा, "तू कहीं भूल तो नहीं रहा है ?"

रोहित ने कहा, "गुरुजी ने मुझसे जोर देकर कहा है कि सीता को लेकर कल सवेरे तक उपस्थित हो जा। माताजी ! सीता को मेरे साथ जल्दी भेजिये।"

माताजी बोलीं, "सीता ! मैंने तुझसे कहा था न ? मालूम होता है, गुरुजी ने वहां पहुंचकर कुछ निश्चय किया है। तू रोहित के साथ जा। गुरुजी का वचन मिथ्या न होगा।"

सीता गुनगुनायीं, "गुरुजी का वचन मिथ्या न होगा, सो तो ठीक ही है, किंतु विधाता के लिखे लेख भी तो मिथ्या नहीं होते। रोहित ! चल, आश्रम तक चल, वहां मैं सोचूंगी।"

रोहित बोला, "सीता ! इतना समय नहीं है। आश्रम तक जाने की आवश्यकता नहीं। हम यहीं से लौट पड़ें। रास्ता लंबा है और उस पर आपका साथ है, इसलिए चलने में देर लगेगी।"

माताजी ने कहा, "सीता ! रोहित ठीक कहता है। तू यहीं से जा। सीता ! मेरा मन घबरा रहा है। तू तो चली, अब तू क्यों लौटेगी ! और अब तो मेरे लव-कुश भी वहीं रह जायंगे ? क्या तुम तीनों हमें यों अचानक छोड़ दोगे ? सीता ! अच्छा तो नहीं लगता, किंतु यदि तुम और रामचंद्र फिर से मिलते हो, तो इससे बढ़िया बात और क्या हो सकती है ? बेटी ! जा, प्रभु तेरा कल्याण करें !"

सीता बोलीं,"माताजी ! मेरे पैर नहीं उठते, फिर भी गुरुजी की आज्ञा है, इसलिए जाती हूं। कहां जाती हूं, सो मैं नहीं जानती। किसलिए जाती हूं, इसका भी मुझे कोई पता नहीं। गुरुजी बुला रहे हैं, इसलिए जाती हूं। ईश्वर से मैं यही मनाती हूं कि आपने मुझपर जो असंख्य उपकार किये हैं, उनका बदला मैं अगले जन्म में दे सकूं !"

माताजी ने कहा, "अगले जन्म में क्यों, इसी जन्म में देना न ! अयोध्या की महारानी बनने पर रथ में बैठकर वापस इस आश्रम में आना। तुझे तेरी पर्णकुटी में ही ठहरायेंगे, समझी ? तेरे पहुंचने तक तो तेरे लव-कुश राजकुमार बन चुके होंगे। जा बेटी ! जा। प्रभु तेरा भला करें !"

सीता बोलीं, "माताजी ! आपका आशीर्वाद सिर-माथे चढ़ाती हूं।"

इतना कहकर सीता और रोहित अयोध्या के रास्ते चल पड़े और माताजी आश्रम की ओर बढ़ीं।

: १२ :

धरती माता की गोद में

अयोध्या का यज्ञ-मंडप ठसाठस भर चुका है। नगर के नर-नारी चारों ओर कुतूहल-भरी दृष्टि से देख रहे हैं। लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और उनका सारा कुटुंब-कबीला रंगभूमि पर आ पहुंचा है। अयोध्या के आठों प्रधान अपनी-अपनी जगह पर बैठ चुके हैं। वसिष्ठ और दूसरे ब्राह्मण सिंहासन के समीप बैठे हैं। स्वयं रामचंद्र भी सोने के सिंहासन पर खिन्न भाव से बिराजे हैं।

इतने में वाल्मीकि ने मंडप में प्रवेश किया। वाल्मीकि के पीछे सीता, सीता के पीछे लव-कुश।

वाल्मीकि सिंहासन के पास खड़े हुए। सीता को अपने पास एक तरफ खड़ा रखा और सारी सभा को सुनाई पड़नेवाले स्वर में बोले, "इस सीता को मैं ने आजतक अपने आश्रम में रखा है। ये जो दो कुमार हैं, सो इक्ष्वाकु-कुल के राजकुमार हैं। सीता के और राम के पुत्र हैं। सीता की पवित्रता पर शंका करने का मुझे तो क्या, त्रिलोक में भी किसी को कोई अधिकार नहीं। मैं, मेरा आश्रम, यह मंडप, आप सब और स्वयं रामचंद्र सीता के कारण ही पवित्र हैं। महाराज रामचंद्र ! आप अपनी इस सह-धर्म-चारिणी को स्वीकारिये और अश्वमेध की पूर्णाहुति कीजिये।"

जबतक वाल्मीकि बोलते रहे, सारी सभा मानो चित्र लिखी-सी स्तब्ध बनी रही। सारे मंडप में सन्नाटा छाया हुआ था। भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न आदि देखते रहे। अयोध्या का महाजन-समाज देखता रहा। दास-दासी देखते रहे।

इस बीच राम के हृदय में घोर मंथन चल रहा था। सोने के सिंहासन पर से एक दुर्बल-सा हाथ उठाकर रामचंद्र ने कहा, "ऋषिराज ! पूछिये इस प्रजा से।"

रामचंद्र के ये शब्द अभी जनता के कानों तक पहुंच भी नहीं पाये थे कि वहां जोर का एक धड़ाका हुआ। रंगभूमि पर जहां सीता खड़ी थीं, वहीं, उनके सामने, पृथ्वी में एक बड़ी-सी दरार फटी और पास ही खड़ी सीता उसमें कूद पड़ीं ! "सीता गयीं, सीता गयीं !" लोग कह ही रहे थे कि इतने में फटी हुई जमीन फिर जुड़ गयी ! लव-कुश उस फटी जगह के पास खड़े रोते रहे। लक्ष्मण वहां चुपचाप खड़े देखते रहे। रामचंद्र की अर्थविहीन आंखें उस स्थान पर ऐसी गड़ गयीं कि हिलाये न हिलीं !

पास ही खड़े वाल्मीकि ने वसिष्ठ को अपने काव्य का अंतिम श्लोक सुनाकर सिर धुन लिया।

मंडप में खड़ा कोई गुनगुनाया, "जिसे अयोध्या ने सहारा नहीं दिया, आखिर धरतीमाता ने उसे सहारा दे दिया !" □

लक्ष्मण

: १ :

सच्चा सिपाही

सीता के अदृश्य होने के कुछ वर्षों बाद एक बार भगवान काल रामचंद्र के पास आये। काल भगवान को आया जानकर रामचंद्र उनकी अगवानी के लिए सामने से पहुंचे। उन्होंने काल भगवान का पूजन किया और फिर उन्हें आसन देकर बोले, "भगवन् ! कहिए, आप किसलिए पधारे हैं ?"

रामचंद्र के ये वचन सुनकर काल ने कहा, "राजन् ! मुझे आपके साथ अकेले में बात करनी है, और वह भी इस तरह करनी है कि जब हम दो बात करते हों, तो तीसरे किसी भी मनुष्य का प्रवेश हमारे कमरे में न हो।"

"जैसी आज्ञा।" कहकर रामचंद्र ने तुरंत लक्ष्मण को बुलाया और कहा, "लक्ष्मण ! तू बाहर दरवाजे पर बैठ। किसी को भी अंदर आने की सख्त मनाही है। जो अंदर आयगा, उसे मैं यम के अधीन करूंगा।"

यों कहकर रामचंद्र अंदर चले गए और भगवान काल के साथ बात करने लगे। बाहर बैठा लक्ष्मण पहरा दे रहा था। इतने में वहां दुर्वासा ऋषि आ पहुंचे। दुर्वासा को आते देखकर लक्ष्मण ने उनका स्वागत-सत्कार किया और कहा, "महाराज ! पधारिए।"

दुर्वासा बोले, "मुझे राम से काम है।"

लक्ष्मण ने जवाब दिया, "महाराज एक आवश्यक काम में व्यस्त हैं। कुछ देर बाद बाहर निकलेंगे।"

दुर्वासा ने कहा, "लेकिन मुझे बहुत जल्दी है। तू इसी समय अंदर जा और मेरे आने का समाचार दे आ।"

लक्ष्मण बोला, "किंतु महाराज ! इस समय कोई अंदर जा नहीं सकता, सख्त मनाही है।"

दुर्वासा ने क्रोध में आकर कहा, "तो मैं यह चला; लेकिन याद रखना, मैं इस सारी अयोध्या को जला दूंगा। मुझे मना करनेवाला तू होता कौन है ?"

दुर्वासा की इस धमकी से लक्ष्मण डर गया। राम को दुर्वासा के समाचार देने स्वयं अंदर जाता है, तो उसे मृत्यु के अधीन होना पड़ता है, और समाचार देने नहीं जाता है, तो दुर्वासा सारी अयोध्या को शाप देते हैं ! लक्ष्मण सोचने लगा कि उसे क्या करना चाहिए। आखिर समूची अयोध्या को नाश से बचाने के लिए उसने स्वयं मर जाना पसंद किया। वह तुरंत अंदर गया और रामचंद्र को दुर्वासा के आने की खबर दी।

जब भगवान काल और दुर्वासा दोनों चले गये, तो लक्ष्मण राम के पास पहुंचा और बोला, "महाराज ! मुझे मृत्यु का आदेश दीजिये।"

लक्ष्मण के ये वचन सुनकर रामचंद्र विह्वल हो गये। उनकी आंखों में आंसू आ गये। वे बोले, "भैया, लक्ष्मण !"

किंतु लक्ष्मण अडिग था। उसने कहा, "आप सत्य पर डटे रहनेवाले वीर पुरुष हैं। आपका मन डिगना नहीं चाहिए।"

रामचंद्र बोले, "लक्ष्मण ! सत्य तो है ही, पर सत्य और लक्ष्मण दोनों को तराजू पर तौलता हूं, तो पलड़ा लक्ष्मण की तरफ झुकने लगता है।"

उत्तर में लक्ष्मण ने कहा, "महाराज ! आप पर उम्र का प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है। सत्य के लिए—अपने सत्य के लिए—आपने अयोध्या को लात मारी, माता-पिता को छोड़ा, जंगलों और पहाड़ों में भटके, तो फिर आज सत्य पालन के लिए एक लक्ष्मण को खो देने में आप क्यों कांप रहे हैं ? मुझ-जैसे के लिए आपका अपनी प्रतिज्ञा भंग करना उचित नहीं। मुझे आज्ञा दीजिए, जिससे मैं काल के अधीन हो जाऊं।"

लक्ष्मण का ऐसा आग्रह देखकर रामचंद्र ने कहा, "लक्ष्मण ! ऐसा

ही हो।"

और लक्ष्मण तुरंत राजमहल से निकलकर सरयू के किनारे पहुंचा और वहां योग-समाधि लेकर उसने अपने प्राणों का त्याग कर दिया।

: २ :

स्मरणांजलि

"लक्ष्मण, भैया लक्ष्मण ! तू गया ? हां गया ! पिता के वचन का पालन करने के लिए मैं चौदह वर्ष वन में रहा, पर मेरे वचन का पालन करने के लिए तूने तो अपनी देह का भी त्याग कर दिया। दुर्वासा ! काश, आप न आये होते ! अपने पेट का गड्ढा तो आप कहीं भी भर सकते थे। आप मेरे पास ही क्यों आये ? मैं भगवान काल के साथ एकांत में बात कर रहा था, उसी समय आप क्यों आये ? मेरा मन व्यर्थ के सोच-विचार में फंसा है। हम सबका काल हमें पुकार रहा है। सीता कल गई। तू आज गया। कल फिर राम की बारी आयगी। हम सब काल के पुतले हैं। आज-तक काल ने हमें जैसा नचाया, हम नाचते रहे। अब आज काल पीछे से डोर खींच रहा है, इसलिए हमें रंगमंच पर से हट जाना चाहिए।

"लक्ष्मण ! जाते-जाते तू अपने महल में भी नहीं गया ? यहां से सीधा ही सरयू किनारे पहुंचा ? वहीं तूने योगनिद्रा ले ली ? अपनी उर्मिला से भी तू न मिला ? बेचारी उर्मिला ! संसार में कई कोमल पुष्प बड़ी शिलाओं की आड़ में खिलकर मुरझा जाते हैं। दुनिया को उनका कोई पता नहीं चलता। ऐसे पुष्पों की सुगंध से संसार महक उठता है, पर वह उन्हें पहचानता नहीं। उर्मिला ! तुम सब बहनें ऐसी नियति लेकर ही आई लगती हो। सीता मुरझाकर वापस पृथ्वी के गर्भ में चली गई, फिर भी इस संसार को शरम नहीं आई ! उर्मिला ! तेरे लक्ष्मण को तो मैंने चौदह वर्षों तक जंगल में भटकाया। पर तूने कभी सीता को एक शब्द भी

नहीं कहा। आज तेरे लक्ष्मण को मैंने ही काल के उस पार धकेल दिया है, फिर भी तू मुझसे एक शब्द नहीं कहेगी। उर्मिला ! तुझे मुरझा डालने का पाप मेरे सिर है। उस पर भी तू अपने जीवन की सुवास फैलाती ही जा रही है।

"किंतु नहीं। लक्ष्मण को भी मैंने ही मुरझाया। लक्ष्मण ! तू राम का भाई न हुआ होता, तो दुनिया को तेरे पराक्रम का अधिक पता चलता। अपने तेज से तूने दुनिया को चौंधिया दिया होता। संसार तेरे नाम से गूंज उठता।

"किंतु तूने दूसरा मार्ग पकड़ा। तूने तो अपने समूचे व्यक्तित्व को घुला डाला और तू मुझमें पूरी तरह समा गया। तत्त्व-चिंतक कहते हैं कि मानव-जीवन की ऊंची-में-ऊंची दशा यह है कि मनुष्य अपने व्यक्तित्व का संपूर्ण विकास करें। क्या अपने समूचे व्यक्तित्व को दूसरे में समा देना ऊंची-से-ऊंची दशा नहीं ? अपने को बिलकुल भुलाकर दूसरों के लिए ही जीवन जीना, क्या यह ऊंची-से-ऊंची दिशा नहीं ? लक्ष्मण ने अपने को मुझे समर्पित कर दिया; सीता ने अपना सारा जीवन मुझमें समर्पित किया। अंतिम क्षण तक मुझसे भिन्न अपना कोई अस्तित्व इन्होंने नहीं माना; ये हँसते-हँसते काल के गाल में समा गये और मैं राम अयोध्या के राजधर्म को भूल न सका ! राजा के नाते मुझमें अभिमान था। मुझे अपने सत्य का अभिमान था; मुझे लोक-कल्याण का अभिमान था। जबकि सीता और लक्ष्मण ने तो उसी निर्मलता के साथ मुझे अपनी देह समर्पित की, जिस निर्मलता से कोई भक्त अपने इष्टदेव को पुष्प अर्पित करता है। भले ही, तर्क-शास्त्री चाहे जो कहें, मेरा अंतर तो कहता है कि ऐसा समर्पण ही जीवन की उच्च दशा है। सीता, लक्ष्मण ! तुम दोनों कृतार्थ हो गये, और इस राम के लिए ये सारे तर्क-वितर्क छोड़ते गए।"

"कितनी अद्‌भुत और रम्य कथा है ! भैया लक्ष्मण ! जब हम छोटे थे, तो विश्वामित्र ऋषि के साथ हम ऋषि-मुनियों के आश्रमों में गए थे। वे आश्रम, उनकी वे सादी और पवित्र पर्ण कुटियां, वहां के वे निर्दोष हरिण, आश्रम की वे कामधेनुएं, वे वात्सल्यमयी गुरु पत्नियां, संसार के जीवन-संदेश का प्रसार करनेवाले वे ऋषि-मुनि, सुबह के समय में पेड़ों के

बीच से वर्तुल बना-बनाकर निकलनेवाला वह पवित्र धुआं, आश्रम के पेड़ों को बड़े ही प्रेम से पानी सींचनेवाली वे ऋषि-कन्याएं—लक्ष्मण ! आज जब ये सब-के-सब मेरी आंखों के सामने खड़े हो रहे हैं, तो जी चाहता है कि कुछ समय के लिए अयोध्या के इस भारी मुकुट को नीचे रखकर मैं उनके बीच फिर पहुंच जाऊं। किंतु काल की गति को कौन रोक सका है ? आज तो पता नहीं, अब यह काल मुझे किधर घसीट कर ले जा रहा है !"

"लक्ष्मण ! हम गौतम के आश्रम में गए थे। बेचारी अहल्या अपनी सुध-बुध खोकर पड़ी थी। क्या हम पुरुष स्त्रियों को निरन्तर निराधार ही रखेंगे ? हम पुरुष कभी इस सत्य को समझेंगे या नहीं कि स्त्रियां सारे समाज की आध्यात्मिक निधि हैं ? क्या हम पुरुष ही उनकी पवित्रता के पहरेदार बने रहेंगे ? लक्ष्मण ! समझ ले कि तेरा राम भी इस दोष से मुक्त नहीं है। वह दिन मेरे सौभाग्य का दिन था कि एक परित्यक्ता स्त्री को मैं फिर उसके स्थान पर प्रतिष्ठित कर पाया था। अहल्या ! मेरे हाथों समूची स्त्री-जाति का अपमान हुआ है। ऐसी स्थिति में आपने मुझे सेवा करने का अवसर देकर मुझपर उपकार किया है।

"लक्ष्मण ! इसके बाद तो हम मिथिला पहुंचे और वहां हमारे विवाह हुए। उर्मिला के साथ तू कितना भला लगता था ? तेरी चमड़ी के श्वेत रंग ने मुझे फीका बना दिया था। लक्ष्मण ! हम अयोध्या आ रहे थे, तभी रास्ते में हमें परशुराम मिले थे। मुझे उसकी ठीक याद है। तू तो लाल-पीला हो उठा था। मैं तुझे न रोकता, तो उनके साथ तेरी ठन जाती (दशरथ)। आखिर परशुराम भी समझ तो गये !

"फिर तो लक्ष्मण ! कई साल और बीत गए। वही लक्ष्मण महाराज (दशरथ) के साथ लड़ने को तैयार हो गया। कैसा तेरा पुण्य प्रकोप? मुझे बनवास मिले और तू उसे सहन कर ले ? सम्भव नहीं। तूने धनुष उठा लिया, बाण संभाल लिये और तू तो महाराज को तथा कैकेयी को उड़ा देने के लिए तैयार हो गया। कैसा था, वह तेरा उन्माद ! तेरा क्रोध तो ऐसा कि रोके रुक न सके। और, यह सब मेरे लिए। लक्ष्मण ! तेरे शुद्ध स्नेह का बदला राम किस जन्म में दे पायगा ?

"लक्ष्मण ! भुलाने का बहुतेरा प्रयत्न करता हूं, पर भूल नहीं पाता। आज जब काल की नौबतें बज रही हैं, तब यह सब क्यों याद करूं ? फिर भी तेरे जीवन की ये सारी घटनाएं मन में उमड़ती ही रहती हैं। ये मुझे चैन नहीं लेने देतीं।

"लक्ष्मण ! तू मेरे साथ वन में क्यों गया ? तूने सुमित्रा को चौदह वर्ष का जागरण क्यों करवाया ? मेरी और सीता की सेवा के लिए ! तुझसे यह देखा न गया कि राम अकेला वल्कल पहने। राम अकेला दुःख भोगे, यह भी तुझे रुचा नहीं। यही क्यों, वन में मुझे कांटे चुभेंगे, तुझे इसकी भी फिकर रही। तेरे सामने प्रश्न थे। वन में मेरे लिए पर्णकुटी कौन बनायगा ? मुझे झरनों से पानी लाकर कौन देगा ? मेरे मृगया के लिए जाने पर सीता को कौन संभालेगा ? रात को मेरे सो जाने पर मेरे आस-पास पहरा कौन देगा ? हमारे बिस्तर कौन बिछायेगा ? हमारे लिए अग्नि कौन सुलगायेगा ? लक्ष्मण ! मेरे लिए और सीता के लिए अपने शरीर और मन को घुला डालने के विचार से ही तू मेरे साथ निकल पड़ा। मेरे कारण तूने अयोध्या के राजमहल का त्याग किया, और जिस तरह मेरी परछाईं मुझसे अलग नहीं होती, उसी तरह पूरे बनवास-काल में तू एक क्षण भी मुझसे अलग नहीं हुआ।

"लक्ष्मण ! तू न होता, तो मैं जनस्थान के राक्षसों को किस प्रकार मार पाता ? तू न होता, तो मैं शूर्पणखा को कैसे भगा पाता ? तू न होता, तो मैं खर-दूषण को कैसे नष्ट कर पाता ? भैया लक्ष्मण ! लोगों को कौन पता है कि ये सारे पराक्रम मैं इसीलिए कर पाया कि लक्ष्मण मेरे साथ था ?

"और भैया ! जब दुष्ट रावण सीता का हरण करके ले गया, उस समय तू साथ न होता, तो मैं रो-रोकर अपना शरीर छोड़ देता। आश्रम में लौटने के बाद मैं फूट-फूटकर रोया था; पंपा सरोवर का सारा किनारा मैंने रो-रोकर भिगो दिया था; जब सीता के बिना मैं दीन और पागल बन गया था, तब लक्ष्मण, तूने ही मुझे टिकाये रखा, तूने मुझे धीरज दिया, तूने मुझमें सीता को वापस पाने की आशा जगाई।

"और लक्ष्मण ! हनुमान होता, तो मेरी ओर से गवाही देता। हम

ऋष्यमूक पर्वत पर रह रहे थे; सुग्रीव के साथ मित्रता करके हमने बाली को मारा था; सुग्रीव गद्दी पर बैठ चुका था। लेकिन बाद में हमें मदद करने का वचन देकर भी सुग्रीव अपने महल में सोया रहा, और जब तुझे लगा कि वह अपना वचन नहीं पाल रहा है, तो तेरा स्वरूप कैसा बन गया था ? जब तूने सुग्रीव को अपना उग्र रूप दिखाया, तो वह बेचारा हक्का-बक्का हो गया और तुरंत सीता का पता लगाने के लिए उसने वानरों को रवाना कर दिया। मुझे तो उस समय लगा कि अब सुग्रीव की खैर नहीं, किंतु मेरी आड़ में तूने अपना क्रोध शांत किया और सुग्रीव बच गया।

"भैया, सुमित्रा के प्यारे लक्ष्मण ! बनवास के उन वर्षों में अपनी मीठी सेवा से तूने मुझे स्वस्थ न बनाया हो, ऐसा एक भी दिन नहीं बीता। लक्ष्मण ! आज मेरी समझ में आ रहा है कि उन दिनों मैं तेरी ही ऊष्मा पाकर जी रहा था।

"और भैया ! जब मुझे लगा कि तेरी ऊष्मा मुझसे छिन गई है, तभी मैं मरने को तैयार हो गया था। जब इंद्रजीत ने तुझे मूर्च्छित किया, उस समय मैंने तेरी आशा तो छोड़ी ही थी, पर अपनी और सीता की आशा भी छोड़ दी थी। यह एक आश्चर्य ही है कि आज राम तेरे बिना जी सक रहा है, किंतु लक्ष्मण ! अब तेरे बिना मैं लंबे समय तक जी नहीं पाऊंगा। आज तो अपना स्मरण-श्राद्ध करके मुझे तृप्त हो लेने दे।

"भैया ! हमने सीता को गंवाया, उस समय तू मेरे साथ था; सीता को वापस पाया, उस समय भी तू मेरे साथ था; और, जब मैंने सीता का त्याग किया तब भी तू था ! मैं, तू और सीता किसी ऐसे संबंध से जुड़े थे, जो अगम्य था, जो समझ में नहीं आ पाता था। सीता गई, तू भी गया और मेरे जाने की घड़ियां भी निकट आ रही हैं।

"लक्ष्मण ! दुनिया मुझे तेरा बड़ा भाई कहती है, पर तू मेरा बड़ा भाई बनकर चला गया। दुनिया मुझे अयोध्या की प्रजा का कल्याणकर्ता मानती है, पर दुनिया नहीं जानती कि तेरे-जैसे कुमारों के द्वारा अयोध्या की प्रजा का सच्चा कल्याण होता रहता है। तू सुमित्रा का पुत्र, किंतु सुमित्रा तेरा सुख न पा सकी; तू उर्मिला का पति, किंतु उर्मिला को भी तेरा सुख नहीं मिला ! तू चंद्रकेतु का पिता, पर चंद्रकेतु को भी तेरे सुख

का लाभ नहीं मिला ! तू तो इस तरह जीया, मानो तेरा जन्म मेरे और सीता के लिए ही हुआ हो, और मृत्यु के समय भी तूने मेरे कारण ही वह मार्ग स्वीकार किया !

"लक्ष्मण ! भाई तो बहुत देखे हैं, पर भरत और लक्ष्मण कहीं नहीं देखे। देवर तो बहुत देखे हैं, पर जैसा सीता को लक्ष्मण मिला, वैसा देवर तो किसी को कहीं नहीं मिला।

'लक्ष्मण ! अब मुझे शांति मिली है। तेरा स्मरण कर लेने से मेरे हृदय का बोझ घटा है; अब मेरा मन स्वस्थ हुआ है। किंतु अब तो मुझे भी विलंब नहीं करना चाहिए। चलूं, अब मैं भी भरत को बुलाकर राज्य का भार उसके सिर पर रख दूं और लक्ष्मण के पीछे चल पड़ूं।"□

मंडल का
आध्यात्मिक साहित्य